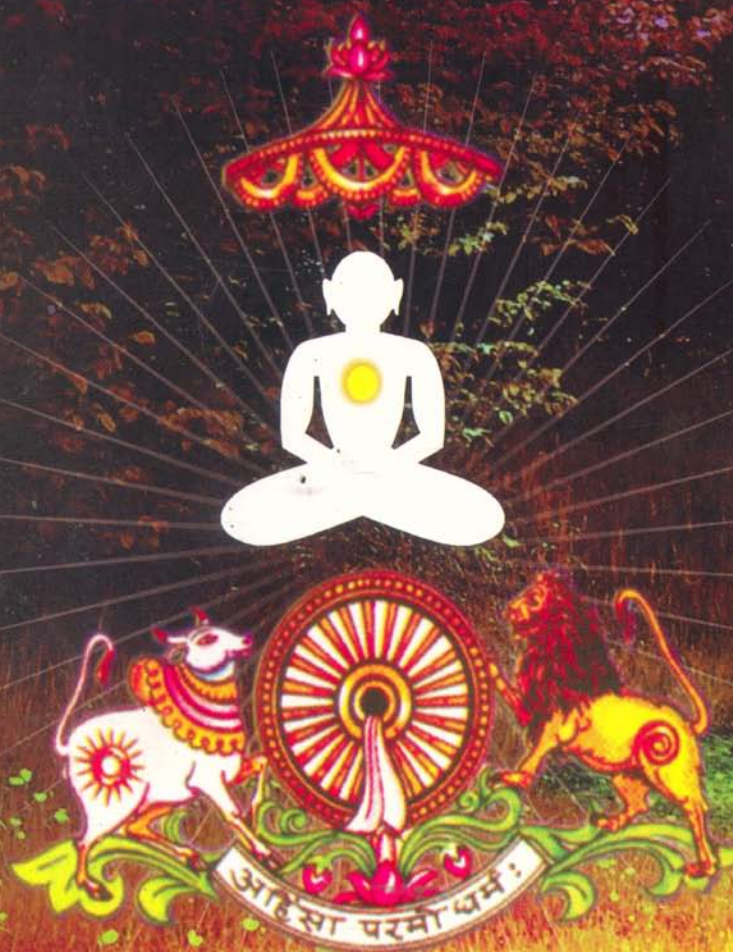


जैन आचार मीमांसा



डॉ. सागरमल जैन

समर्पण



प. पू. मालव सिंहनी
श्री वल्लभकुंवरजी म.सा.



प. पू. सेवामूर्ति
श्री पानकुंवरजी म.सा.



प. पू. सुप्रसिद्ध व्याख्यात्री
श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा.



प. पू. अध्यात्म रसिका
श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

ISBN-No.978-81-910801-8-6 (4)

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला क्रमांक - 52

जैन आचार मीमांसा

- लेखक -
डॉ. सागरमल जैन



प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला क्रमांक – 52

जैन आचार मीमांसा

लेखक :

डॉ. प्रो. सागरमल जैन

प्रकाशक -

प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, राजापुर (म.प्र.)

फोन न. 07364-222218

email – sagarmal.jain@gmail.com

प्रकाशन वर्ष 2014-15

कापीराइट

- लेखक

मूल्य

- रुपये 300 /-

मुद्रक

आकृति ऑफसेट

S, नई पेठ, छत्री चौक के पास

उज्जैन (म.प्र.) फोन: 0734-2561720

प्रकाशकीय

डॉ. सागरमल जैन विद्या के अधिकृत विद्वान हैं। उन्होंने हमारे आग्रह पर “जैन आचार मीमांसा” पर अत्याधिक परिश्रम पूर्वक यह ग्रन्थ तैयार किया है। अब वे अपने जीवन के 83 वें वर्ष में चल रहे हैं, फिर भी जन सामान्य के उपयोग के लिए उनके द्वारा रचित यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थ की भाषा प्रवाह युक्त, सरल एवं सुबोध है। हमें आशा है कि जैन जगत इस कृति का अध्ययन कर जैन विद्या के क्षेत्र में अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करेगा।

नरेन्द्र जैन

सचिव

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

स्वकथ्य

जैन आचार मीमांसा पर वैसे तो आज तक अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं; फिर भी युगीन परिस्थितियों तुलनात्मक ऐतिहासिक गवेषणा को दृष्टि में रखकर इस कृति का प्रणयन किया गया है।

इस सम्पूर्ण प्रयास में मेरा अपना कुछ भी नहीं है। सभी कुछ पं. दलसुखमई आदि गुरुजनों का दिया हुआ है। इसमें मैं अपनी मौलिकता का क्या करूँ? फिर इस ग्रन्थ में मैंने विभिन्न अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास क्रम को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। जैनदर्शन के अन्य ग्रन्थों में प्रायः इस दृष्टि का उतनी गम्भीरता से निर्वाह नहीं हुआ है यही इस कृति की विशेषता है। इसके पुष्प संशोधन का कार्य श्री चैतन्यजी सोनी ने किया है, अतः हम उनके आभारी हैं।

यदत्र सौष्ठवं किञ्चिद् गुरुदेव मे नहि ।

यदत्रासौष्ठवं किञ्चित् तन्ममैव ते नहि ॥

— सागरमल जैन

विभाग - 4

जैन आचार मीमांसा

जैन दर्शन में नैतिकनिर्णय, स्वरूप, विषय एवं आधार

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, और इसलिए चिन्तन करना उसका मुख्य लक्षण है। विचार और आचार मानव जीवन के ये दो पक्ष हैं। आचार जब विचार से समन्वित होता है, तब जीवन में विवेक प्रकट होता है। विवेकपूर्ण आचरण में मानव जीवन की विशेषता है। पशु और मनुष्य में यही अन्तर है कि पशु मूल प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर आचरण करता है, जबकि मनुष्य विवेकपूर्ण ढंग से आचरण कर सकता है। विवेकपूर्ण आचरण ही मनुष्य और पशुओं में अन्तर करता है, और यही विवेकपूर्ण आचरण नैतिकता की कोटि में होता है। नीतिशास्त्र आचरण के क्षेत्र में उचित और अनुचित या नैतिक-अनैतिक का विवेक सिखाता है। आचार-दर्शन का मुख्य उद्देश्य विवेक के आधार पर आचरण के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण करता है। प्रश्न चाहे उचित और अनुचित के विवेक का हो, चाहे जीवन के आदर्श के निर्धारण का हो अथवा किसी कर्म की नैतिक समीक्षा का हो - आचार-दर्शन का ज्ञान आवश्यक है। नीतिशास्त्र का अध्ययन हमारे व्यवहारिक जीवन को प्रभावित करता है, अतः नीतिशास्त्र का सम्बन्ध हमारे व्यवहारिक जीवन से है। नीतिशास्त्र में आज अनेक प्रकार की समस्याएँ हैं और जैन आचार्यों ने उन समस्याओं के निराकरण के लिए कौनसी दृष्टि प्रदान की है-यही जैन आचार-दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य है।

नैतिक निर्णय की दृष्टि:-निश्चय या व्यवहार/निरपेक्ष या सापेक्ष

जैन दर्शन में तत्त्वज्ञान की अपेक्षा से निश्चय और व्यवहार इन दो विधाओं का चित्रण हुआ है। जैन आचार-दर्शन मुख्य रूप से आधार के बाह्य पक्ष या व्यवहार नय को ही प्रधानता देता है। जैन आचारदर्शन की विशेषता यह है कि वह निश्चय और व्यवहार दोनों को अपने में समेटे हुए है। श्रीमद राजचन्द्र ने कहा था कि-

निश्चय राखी लक्षमां, पाले जे व्यवहार।

ते नर मोक्ष पामशे संशय नहीं लगाय॥

निश्चय दृष्टि हमारे जीवन के लक्ष्य को बताती है, और व्यवहार दृष्टि उस लक्ष्य को आचरण के द्वारा कैसे पाया जा सकता है, उसकी चर्चा करती है अतः नैतिक साध्य निश्चयदृष्टि का विषय है, और उस साध्य की उपलब्धि का मार्ग व्यवहारदृष्टि का विषय है। जैन आचार्यों ने नैतिकता का निरपेक्ष पक्ष तो माना था, किन्तु केवल कर्म संकल्प के क्षेत्र तक, बाह्य आचरण के संदर्भ में उन्होंने उसे सापेक्ष ही माना है। नैतिक साध्य निश्चयदृष्टि का विषय है और नैतिक साधना मार्ग व्यवहार दृष्टि का विषय है। इसे ही जैन दर्शन में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के रूप में ही बताया गया है। उत्सर्ग मार्ग की नैतिकता भी देशकाल और व्यक्तिगत परिस्थितियों के अन्तर्गत ही होती है, उसके बाहर नहीं। नैतिक आचरण का बाह्य प्रारूप सापेक्ष रूप से देशकाल एवं व्यक्तिगत परिस्थितियों से प्रभावित होता है। जैनदर्शन कहता है कि उत्सर्ग मार्ग वह सामान्य मार्ग है जिस पर सामान्य अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को चलना चाहिए, जबकि व्यवहार मार्ग व्यक्ति विशेष की आचरण की प्रक्रिया को उसकी विशिष्ट परिस्थिति पर आधारित करता है। जैन मान्यता के अनुसार नीति में सापेक्षता और निरपेक्षता—दोनों का ही स्थान है। नैतिक नियम देश—काल, समाज और वैयक्तिक परिचयों से निरपेक्ष है, यह शाश्वत् सत्य है, लेकिन नैतिक जीवन में अपवादमार्ग के लिए भी स्थान रहा हुआ है, अपवाद का निर्धारण देशकाल एवं वैयक्तिक परिस्थितियों के आधार पर होता है। नीति में सापेक्षता और निरपेक्षता दोनों का ही स्थान है। नीति का एक बाह्य—आचार—पक्ष होता है, जो सापेक्ष होता है। किन्तु नीति का एक आन्तरिक पक्ष है जो निरपेक्ष हो सकता है। हिंसा का संकल्प कभी भी नैतिक नहीं हो सकता, किन्तु हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक हो यह आवश्यक नहीं है। किसी को सुरक्षा प्रदान करने के लिए अथवा आत्मरक्षा के लिए अपवादमार्ग भी अपनाया जाता है। नीति में सापेक्षता और निरपेक्षता— दोनों का क्या स्थान है और किस रूप में है यह जानने के लिए नीति के विविध पक्षों को समझ लेना होगा। नीति का एक बाह्य पक्ष

होता है और दूसरा आन्तरिक। दूसरे शब्दों में एक ओर व्यक्ति का बाह्य आचरण होता है और दूसरी ओर आचरण की प्रेरक और निर्देशक चेतना होती है। एक ओर नैतिकता का साध्य होता है, दूसरी ओर उस साध्य की प्राप्ति का मार्ग। उसी प्रकार हमारे नैतिक निर्णय भी दो प्रकार के होते हैं— एक वे जिन्हें हम स्वयं के संदर्भ में देते हैं, दूसरे वे जो दूसरों के बाह्य आचार को देखकर के उनके सन्दर्भ में देते हैं।

नैतिक निर्णय की सापेक्षता और निरपेक्षता

जहाँ तक नैतिकता के बाह्य-पक्ष, अर्थात् आचरण या कर्म का सम्बन्ध है, वह निरपेक्ष नहीं हो सकता। सर्वप्रथम तो व्यक्ति जिस विश्व में आचरण करता है, वह आपेक्षिकता से युक्त है। जो कर्म हम करते हैं और उसके जो परिणाम निष्पन्न होते हैं, वे मुख्यतः हमारे संकल्प पर निर्भर न होकर उन परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं, जिनमें हम जीवन जीते हैं। बाह्य-जगत् पर व्यक्ति की इच्छाएँ ही नहीं, अपितु देश कालगत परिस्थितियाँ भी शासन करती हैं। पुनः, चाहे मानवीय-संकल्प को स्वतन्त्र मान भी लिया जाए, किन्तु मानवीय-आचरण को स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता है, वह आन्तरिक और बाह्य-परिस्थितियों पर निर्भर होता है, अतः मानवीय-कर्म का सम्पादन और उसके निष्पन्न, परिणाम—दोनों ही देश, काल और परिस्थिति पर निर्भर होंगे। कोई भी कर्म देश, काल, व्यक्ति, समाज और परिस्थिति से निरपेक्ष नहीं होगा। हमने देखा कि भारतीय-चिन्तन की जैन, बौद्ध और वैदिक-परम्पराएँ इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करती हैं कि कर्म की नैतिकता निरपेक्ष नहीं है। पुनः, नैतिक-मूल्यांकन और नैतिक-निर्णय उन सिद्धान्तों और परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं, जिनमें वे दिए जाते हैं। सर्वप्रथम तो नैतिक-मूल्यांकन व्यक्ति और परिस्थिति से निरपेक्ष होकर नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्यक्ति जिस समाज में जीवन जीता है, वह विविधताओं से युक्त है। समाज में व्यक्ति की अपनी योग्यताओं एवं क्षमताओं के आधार पर एक निश्चित स्थिति होती है, उसी स्थिति के अनुसार उसके कर्तव्य एवं दायित्व होते हैं, अतः वैयक्तिक-दायित्वों और कर्तव्यों में विविधता होती है। गीता का वर्णाश्रमधर्म का सिद्धान्त और ब्रैडले का 'मेरा स्थान और उसके कर्तव्य' का सिद्धान्त एक

सापेक्षिक-नैतिकता की धारणा को प्रस्तुत करते हैं, अतः हमें सामाजिक-सन्दर्भ में आचरण का मूल्यांकन सापेक्ष रूप में ही करना होगा। विश्व में ऐसा कोई भी सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है, जो हमारे निर्णयों का आधार बन सके। कुछ प्रसंगों में हम अपने नैतिक-निर्णय निष्पन्न कर्म-परिणाम कर देते हैं, तो कुछ प्रसंगों में कर्म के वांछित या अग्रावलोकिता परिणाम पर और कभी कर्म के प्रेरक के आधार पर भी नैतिक-निर्णय दिए जाते हैं, अतः कर्म के बाह्य-स्वरूप और उसके सन्दर्भ में होने वाले नैतिक-मूल्यांकन तथा निरपेक्ष नहीं हो सकते, उन्हें सापेक्ष ही मानना होगा। पुनः, कर्म या आचरण किसी आदर्श या लक्ष्य का साधन होता है और साधन अनेक हो सकते हैं। लक्ष्य या आदर्श एक होने पर भी उसकी प्राप्ति के लिए साधना के अपनी स्थिति के अनुसार अनेक मार्ग सुझाए जा सकते हैं, अतः आचरण की विविधता एक स्वाभाविक तथ्य है। दो भिन्न सन्दर्भों में परस्पर विपरीत दिखाई देने वाले मार्ग भी अपने लक्ष्य की अपेक्षा से उचित माने जा सकते हैं। पुनः, जब हम दूसरे व्यक्तियों के आचरण पर कोई नैतिक-निर्णय देते हैं, तो हमारे सामने कर्म का बाह्य-स्वरूप ही होता है, अतः दूसरे व्यक्तियों के आचरण के सम्बन्ध में हमारे मूल्यांकन और निर्णय सापेक्ष ही हो सकते हैं। हम उसके मनोभावों के प्रत्यक्ष द्रष्टा नहीं होते हैं और इसलिए उसके आचरण के मूल्यांकन में हमको निरपेक्ष निर्णय देने का कोई अधिकार नहीं होता है, क्योंकि हमारा निर्णय केवल घटित परिणामों पर ही होता है। अतः, यह निश्चय ही सत्य है किसी कर्म के बाह्य-पक्ष या व्यावहारिक-पक्ष की नैतिकता और उसके सन्दर्भ में दिये जाने वाले नैतिक-निर्णय दोनों ही सापेक्ष होंगे। नीति और नैतिक-आचरण को परिस्थिति-निरपेक्ष मानने वाले नैतिक-सिद्धान्त शून्य में विचरण करते हैं और नीति के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट कर पाने में समर्थ नहीं होते हैं।

किन्तु नीति को एकन्तरूप से सापेक्ष मानना भी खतरे से खाली नहीं है। (1) सर्वप्रथम, नैतिक-सापेक्षतावाद व्यक्ति और समाज की विविधता पर तो दृष्टि डालता है, किन्तु उस विविधता में अनुस्यूत एकता की उपेक्षा करता है। वह दैशिक, कालिक, सामाजिक और वैयक्तिक

असामनता को ही एकमात्र सत्य मानता है। (2) दूसरे, वह साध्य या आदर्श की अपेक्षा साधनों पर अधिक बल देता है, जबकि साधनों का मूल्य स्वयं उस साध्य पर आश्रित होता है, जिसके वे साधन हैं। (3) तीसरे, सापेक्षतावाद कर्म के बाह्य-स्वरूप को ही उसका सर्वस्व मान लेता है, उनके आन्तरिक पक्ष या कर्म के मानस-पक्ष की अपेक्षा करता है, जबकि कर्म की प्रेरक भावना का भी नैतिक-दृष्टि से समान मूल्य है। (4) चौथे, नैतिक-सापेक्षतावाद संकल्पस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त के विरोध में जाता है। यदि नीति के निर्धारक तत्त्व बाह्य हैं, तो फिर हमारी संकल्प की स्वतन्त्रता का कोई अधिक महत्व नहीं रहता है। सापेक्षतावाद के अनुसार नीति का नियामक तत्त्व देशकालगत परिस्थितियाँ एवं सामाजिक परिवेश हैं, वैयक्तिक-चेतना नहीं, किन्तु ऐसी स्थिति में संकल्पस्वातन्त्र्य का क्या अर्थ रह जाएगा, वह विचारणीय है। संकल्प को सापेक्ष मानने का अर्थ उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करना है। (5) पाँचवें, नीति के सन्दर्भ में सापेक्षतावाद हमें अनिवार्यतः आत्मनिष्ठावाद की ओर ले जाता है, लेकिन आत्मनिष्ठतावाद में आकर नैतिक नियम अपना समस्त स्थायित्व और वस्तुगत आधार खो देते हैं। नैतिक-जीवन में समरूपता और वस्तुनिष्ठता का अभाव हो जाता है तथा नैतिकता का ढाँचा अस्तव्यस्त हो जाता है। (6) छठे, हम यह भी कह सकते हैं कि सापेक्षतावाद में नैतिकता का शरीर तो बचा रहता है, किन्तु प्राण चले जाते हैं, उसमें विषयसामाग्री तो रहती है, किन्तु आकार नहीं होता है; क्योंकि निरपेक्षता नैतिकता की आत्मा है। (7) सापेक्षतावाद में नैतिक-मानव की एकरूपता नहीं होती है, एक सार्वभौम मानदण्ड का अभाव होता है; अतः नैतिक-निर्णय देने में व्यक्ति को वैसी ही कठिनाई अनुभव होती है, जैसी उस ग्राहक को होती है, जिसे प्रत्येक दुकान पर भिन्न-भिन्न तौल-माप मिलते हों। पुनः, नैतिक-परिस्थिति स्वयं एक ऐसा जटिल तथ्य है, जिसमें जनसाधारण के लिए बिना किसी स्पष्ट सार्वभौम निर्देशक-सिद्धान्त के यह तय कर पाना कठिन होता है कि उस परिस्थिति में क्या नैतिक है और क्या अनैतिक? अतः, नीति में किसी निरपेक्ष-तत्त्व की अवधारणा करना भी आवश्यक है। इस सन्दर्भ में जान डिवी का पूर्वोक्त दृष्टिकोण अधिक संगतिपूर्ण जान पड़ता है। वे परिस्थितियाँ,

जिनमें नैतिक-आदर्शों की सिद्धि की जाती है, सदैव परिवर्तनशील हैं और नैतिक-नियमों, नैतिक-कर्तव्यों और नैतिक-मूल्यांकन के लिए इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ समायोजन करना आवश्यक होता है, किन्तु यह मान लेना मूर्खतापूर्ण ही होगा कि नैतिक-सिद्धान्त इतने सापेक्षित हैं कि किसी सामाजिक-स्थिति में उनमें कोई नियामक-शक्ति ही नहीं होती। शुभ की विषयवस्तु बदल सकती है, किन्तु शुभ का आकार नहीं; दूसरे शब्दों में, नैतिकता का शरीर परिवर्तनशील है, किन्तु नैतिकता की आत्मा नहीं। नैतिकता का विशेष स्वरूप समय-समय पर वैसे-वैसे बदलता रहता है, जैसे-जैसे सामाजिक या सांस्कृतिक-स्तर और परिस्थिति बदलती रहती है, किन्तु नैतिकता का सामान्य स्वरूप स्थिर रहता है। नैतिक-नियमों में अपवाद या आपद्धर्म का निश्चित ही स्थान है और अनेक स्थितियों में अपवाद-मार्ग का आचरण ही नैतिक होता है, फिर भी हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि अपवाद कभी भी सामान्य नियम का स्थान नहीं ले पाते हैं। निरपेक्षतावाद के सन्दर्भ में यह एक भ्रान्ति है कि वह सभी नैतिक-नियमों को निरपेक्ष मानता है। निरपेक्षतावाद भी सभी नियमों की सार्वभौमिकता सिद्ध नहीं करता, वह केवल मौलिक नियमों की सार्वभौमिकता ही सिद्ध करता है।

वस्तुतः नीति की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए निरपेक्षतावाद और सापेक्षतावाद—दोनों ही अपेक्षित हैं। नीति का कोनसा पक्ष सापेक्ष होता है और कौनसा पक्ष निरपेक्ष, इसे निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है : (1) संकल्प की नैतिकता निरपेक्ष होती है और आचरण की नैतिकता सापेक्ष होती है। हिंसा का संकल्प कभी नैतिक नहीं होता, यद्यपि हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं। नीति में जब संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया जाता है, तो फिर हमें यह कहने का अधिकार नहीं रहता कि संकल्प सापेक्ष है, अतः संकल्प की नैतिकता सापेक्ष नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, कर्म का जो मानसिक-पक्ष है, बौद्धिक-पक्ष है, वह निरपेक्ष हो सकता है, किन्तु कर्म का जो व्यावहारिक-पक्ष है, आचरणात्मक-पक्ष है, वह सापेक्ष है, अर्थात् मनोमूलक-नीति निरपेक्ष होगी और आचरणमूलक-नीति सापेक्ष होगी।

संकल्प का क्षेत्र, प्रज्ञा का क्षेत्र, एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ चेतना या प्रज्ञा ही सर्वोच्च शासक है। अन्तस् में व्यक्ति स्वयं अपना शासक है, वहाँ परिस्थितियों या समाज का शासन नहीं है, अतः इस क्षेत्र में नीति की निरपेक्षता सम्भव है। अनासक्त-कर्म का दर्शन इसी सिद्धान्त पर स्थित है, क्योंकि अनेक स्थितियों में कर्म का बाह्यात्मक रूप कर्ता के मनोभावों का यथार्थ परिचायक नहीं होता, अतः यह माना जा सकता है कि मनोवृत्त्यात्मक या भावनात्मक-नीति निरपेक्ष होगी, किन्तु आचरणात्मक या व्यवहारात्मक-नीति सापेक्ष होगी। यही कारण है कि जैन-दर्शन में नैश्चयिक-नैतिकता को निरपेक्ष और व्यावहारिक-नैतिकता को सापेक्ष माना गया है। (2) दूसरे, साध्यात्मक-नीति या नैतिक-आदर्श निरपेक्ष होता है, किन्तु साधनपरक नीति सापेक्ष होती है। दूसरे शब्दों में, जो सर्वोच्च शुभ है, वह निरपेक्ष है, किन्तु उस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के जो नियम या मार्ग हैं, वे सापेक्ष हैं, क्योंकि एक ही साध्य की प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं। पुनः वैयक्तिक-रूचियों, क्षमताओं और स्थितियों की भिन्नता के आधार पर सभी के लिए समान नियमों का प्रतिपादन सम्भव नहीं है, अतः साध्यपरक-नीति को या नैतिक-साध्य को निरपेक्ष और साधनपरक-नीति को सापेक्ष मानना ही एक यथार्थ दृष्टिकोण हो सकता है। (3) तीसरे, नैतिक-नियमों में कुछ नियम मौलिक होते हैं और कुछ नियम उन मौलिक नियमों के सहायक होते हैं; उदाहरणार्थ, भारतीय-परम्परा में सामान्य धर्म और विशेष धर्म (वर्णाश्रम-धर्म) ऐसा वर्गीकरण हमें मिलता है। जैन-परम्परा में भी एक ऐसा ही वर्गीकरण मूलगुण और उत्तरगुण के नाम से है। यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि साधारणतया सामान्य या मूलभूत नियम ही निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनीय माने जा सकते हैं, विशेष नियम तो सापेक्ष एवं परिवर्तनीय ही होते हैं। यद्यपि हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अनेक स्थितियों में सामान्य नियमों के भी अपवाद हो सकते हैं और वे नैतिक भी हो सकते हैं, फिर भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपवाद को कभी भी नियम का स्थान नहीं दिया जा सकता। यहाँ एक बात जो विचारणीय है, वह यह कि मौलिक नियमों की निरपेक्षता भी उनकी अपरिवर्तनशीलता या उनके स्थायित्व के आधार

पर ही है, साधन की अपेक्षा से तो वे भी सापेक्ष हो सकते हैं।

जो नैतिक-विचारधाराएँ मात्र निरपेक्षतावाद को स्वीकार करती हैं, वे यथार्थ की भूमिका को भूलकर मात्र आदर्श की ओर देखती हैं। वे नैतिक-आदर्श को तो प्रस्तुत कर देती हैं, किन्तु उस मार्ग का निर्धारण करने में सफल नहीं हो पातीं, जो उस साध्य एवं आदर्श तक ले जाता है, क्योंकि नैतिक-आचारण एवं व्यवहार तो परिस्थितिसापेक्ष होता है। नैतिकता एक लक्ष्योन्मुख गति है, लेकिन यदि उस गति में व्यक्ति की दृष्टि मात्र उस यथार्थ भूमिका तक ही, जिसमें वह खड़ा है, सीमित है, तो वह कभी भी लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता, वह पथभ्रष्ट हो सकता है। दूसरी ओर, वह व्यक्ति, जो गन्तव्य की ओर तो देख रहा है, किन्तु उस मार्ग को नहीं देख रहा है, जिसमें वह गति कर रहा है, वह मार्ग में वह ठोकर खाता है और कण्टकों से अपने को पद-विद्ध कर लेता है। जिस प्रकार चलने के उपक्रम में हमारा काम न तो मात्र सामने देखने से चलता है और न मात्र नीचे देखने से ही, उसी प्रकार नैतिक-प्रगति में हमारा काम न तो मात्र निरपेक्ष-दृष्टि से चलता है और न मात्र सापेक्ष-दृष्टि से चलता है। निरपेक्षतावाद उस स्थिति की उपेक्षा कर देता है, जिसमें व्यक्ति खड़ा है, जबकि सापेक्षतावाद उस आदर्श या साध्य की उपेक्षा करता है, जो कि गतव्य है। इसी प्रकार, निरपेक्षतावाद सामाजिक-नीति की उपेक्षा कर मात्र वैयक्तिक-नीति पर बल देता है, किन्तु व्यक्ति समाजनिरपेक्ष नहीं हो सकता। पुनः, निरपेक्षतावादी-नीति में साध्य की सिद्धि ही प्रमुख होती है, किन्तु वह साधन उपेक्षित बना रहता है, जिसके बिना साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। अतः, सम्यक् नैतिक-जीवन के लिए नीति में सापेक्ष और निरपेक्ष-दोनों तत्त्वों की अवधारणा को स्वीकार करना आवश्यक है। नैतिकनिर्णय का स्वरूप एवं विषय-प्रेरक या परिणाम (हेतु या फल)

सामान्यतया सभी लोग दूसरों के व्यवहारों की प्रशंसा या निंदा करते हैं, और उसी के आधार पर किसी के आचरण को अच्छा या बुरा कहते हैं- उदाहरार्थ - अहिंसा शुभ है, और हिंसा अशुभ है। जब हम किसी कर्म के गुण-दोष या शुभत्व-अशुभत्व का विचार करते हैं, तो हमारा निर्णय-नैतिक निर्णय कहा जाता है, नैतिक निर्णय मूल्यात्मक निर्णय है,

जबकि तार्किक निर्णय ज्ञानात्मक निर्णय है। नैतिक-निर्णय में व्यक्ति का दृष्टिकोण प्रधान होता है, वह अपने दृष्टिकोण के आधार पर ही किसी कर्म के अच्छे या बुरे होने का निर्णय लेता है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग कर्म के हेतु (प्रयोजन) को नैतिक-निर्णय का आधार मानता है, तो दूसरा वर्ग कर्म के परिणाम को ही उसके नैतिक होने का आधार मानता है। पाश्चात्य परम्परा में बटलर कहते हैं कि किसी कार्य की अच्छाई या बुराई बहुत कुछ उस हेतु पर निर्भर होती है, जिससे वह किया जाता है। उसके विपरीत फलवाद की मान्यता है कि किसी कर्म की नैतिकता उस कर्म के परिणाम पर निर्भर करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता का अर्थ ऐसे परिणामों को उत्पन्न करता है, जिससे जनसाधारण के कल्याण में अभिवृद्धि हो। एक पक्ष कर्म के प्रेरक (Motive) को महत्व देता है, तो दूसरा पक्ष कर्म के परिणाम (Result) को। जैन-दर्शन में कर्म के परिणाम और कर्म के हेतु दोनों का ही विचार हुआ है। किन्तु उसकी दृष्टि एकांगी नहीं है। किसी भी कर्म की नैतिकता या अनैतिकता का निर्णय करने के लिए हमें उस कर्म के हेतु या प्रेरक और कर्म के परिणाम दोनों का ही विचार करना होगा।

जैन-चिन्तकों द्वारा हेतुवाद का फलवाद से भी अधिक समर्थन किया गया है, जिसे अनेक तथ्यों से परिपुष्ट किया जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार में, आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की वृत्ति में तथा आचार्य विद्यानन्दि की अष्टसहस्री में फलवाद का खण्डन और हेतुवाद का मण्डन पाया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि (हिंसा का) अध्यवसाय, अर्थात् मानसिक हेतु ही बन्धन का कारण है, चाहे (बाह्य रूप में) हिंसा हुई हो या न हुई हो। वस्तु (घटना) नहीं, वरन् संकल्प ही बन्धन का कारण है। दूसरे शब्दों में, बाह्य-रूप में घटित कर्म-परिणाम नैतिक या अनैतिक नहीं होते हैं, वरन् व्यक्ति का कर्म-संकल्प या हेतु ही नैतिक या अनैतिक होता है। इसी सन्दर्भ में, जैन आचार्य समन्तभद्र और विद्यानन्दि के दृष्टिकोणों का उल्लेख प्रो. सुशीलकुमार मैत्रा और यदुनाथ सिन्हा ने अपने ग्रन्थों में किया है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि कार्य का शुभत्व केवल इस तथ्य में

निहित नहीं है कि उससे दूसरों को सुख होता है और स्वयं को कष्ट होता है। इसी प्रकार, कार्य का अशुभत्व इस बात पर निर्भर नहीं करता कि उसकी फल-निष्पत्ति के रूप में दूसरों को दुःख होता है और स्वयं को सुख होता है, क्योंकि यदि शुभ-अशुभ का अर्थ दूसरों का सुख-दुःख हो, तो हमें जड़ पदार्थ और वीतराग सन्त को भी बन्धन में मानना पड़ेगा, अर्थात् उन्हें नैतिकता की परिसीमा में मानना होगा, क्योंकि उनके क्रियाकलाप भी किसी के सुख और दुःख का कारण तो बनते ही हैं और ऐसी दशा में उन्हें भी शुभाशुभ का बन्ध होगा ही। दूसरे, यदि शुभ का अर्थ स्वयं का दुःख और अशुभ का अर्थ स्वयं का सुख हो, तो वीतराग तपस्या के द्वारा शुभ का बन्ध करेगा और ज्ञानी आत्मसंतोष की अनुभूति करते हुए भी अशुभ या पाप का बन्ध करेगा, अतः सिद्ध यह होता है कि स्वयं का अथवा दूसरों का सुख अथवा दुःख रूप परिणाम शुभशुभता का निर्णायक नहीं हो सकता, वरन् उनके पीछे निहित कर्ता का शुभाशुभ प्रयोजन ही किसी कार्य के शुभत्व अथवा अशुभत्व का निश्चय करता है।

आचार्य विद्यानन्दि फलवाद या कर्म के बाह्य-परिणाम के आधार पर नैतिक-मूल्यांकन करने की वस्तुनिष्ठ पद्धति का विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि किसी दूसरे के हिताहित के आधार पर पुण्य-पाप का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुछ क्रियाशीलताएँ तो पुण्य-पाप के इस माप से नीचे हैं; जैसे जड़ पदार्थ, और कुछ पुण्य-पाप के इस माप के ऊपर हैं, जैसे अर्हत्। पुण्य-पाप के क्षेत्र में क्रियाओं के आधार पर वे ही व्यक्ति आते हैं, जो वासनाओं से युक्त हैं। किसी भी सुख या दुःख देने मात्र से कोई कार्य पुण्य-पाप नहीं होता, वरन् उस कार्य के पीछे जो वासना है, वही कार्य के शुभाशुभ होने का कारण है। वीतराग के कारण किसी को सुख या दुःख हो सकता है, लेकिन उसके पीछे वासना या प्रयोजन न होने से उसे पुण्य-पाप का बन्ध नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि जैन-दृष्टि के अनुसार भी कर्ता का प्रयोजन या अभिसन्धि ही शुभाशुभत्व की अनिवार्य शर्त है, न कि मात्र सुख-दुःख के परिणाम।

श्री युदनाथ सिन्हा भी यही मानते हैं कि जैन-आचारदर्शन कार्य के परिणाम (फल) से व्यतिरिक्त उसके हेतु की शुद्धता पर ही बल देता

है। उसके अनुसार, 'यदि कार्य किसी शुद्ध प्रयोजन से किया गया है, तो वह शुभ ही होगा, चाहे उससे किसी दूसरे को दुःख ही क्यों न पहुँचा हो और यदि अशुभ प्रयोजन से किया गया है, तो अशुभ ही होगा, चाहे परिणाम के रूप में उससे दूसरों को सुख हुआ हो।' श्री सुशील कुमार मैत्र कहते हैं, शुभाशुभ कर्म का विनिश्चय बाह्य-परिणामों पर नहीं, वरन् कर्त्ता के आत्मगत प्रयोजन की प्रकृति के आधार पर करना चाहिए।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हेतुवाद के विषय में जैन, बौद्ध और हिन्दूधर्म के आचारदर्शनों में अद्भुत साम्य दिखाई देता है। इस सम्बन्ध में धम्मपद, गीता तथा पुरुषार्थसिद्धयुपाय के कथन द्रष्टव्य हैं। आचार्य अमृतचन्द कहते हैं, "रागादि से रहित अप्रमादयुक्त आचरण करते हुए यदि प्राणघात हो जाए, तो वह हिंसा नहीं है।" धम्मपद में कहा है, "माता, पिता, दो क्षत्रिय राजा एवं अनुचरों सहित राष्ट्र का हनन करने पर भी वीततृष्ण ब्राह्मण (ज्ञानी) निष्पाप होता है।" गीता कहती है, "जिसमें आसक्ति और कर्तृत्वभाव नहीं है, वह इस समग्र लोक को मारकर भी न तो भारता है और न बन्धन में आता है। वस्तुतः, ऐसी हिंसा हिंसा नहीं है।" यद्यपि भारतीय आचारदर्शनों में इतनी वैचारिक एकरूपता है, तथापि गीता और जैनाचारदर्शन में एक अन्तर यह है कि गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञ अवस्था में रहकर हिंसा की जा सकती है, जबकि जैन-विचारणा कहती है कि इस अवस्था में रहकर हिंसा की नहीं जा सकती, मात्र हो जाती है।

प्रश्न उठता है कि यदि जैन-चिन्तन को प्रयोजन या हेतुवाद स्वीकार्य है, तो फिर उसे हेतुवाद के समर्थक बौद्धदर्शन की आलोचना करने का क्या अधिकार है? यदि जैन-चिन्तन को एकांततः हेतुवाद स्वीकार्य होता, तो वह बौद्ध-दार्शनिकों की आलोचना नहीं करता। जैन-विचारणा का विरोध तो उस एकांगी हेतुवाद से है, जिसमें बाह्य व्यवहार की अवहेलना की जाती है। एकांगी हेतुवाद में जैन-विचारणा ने सबसे बड़ा खतरा यह देखा कि वह नैतिक मूल्यांकन की वस्तुनिष्ठ कसौटी को समाप्त कर देता है। फलस्वरूप, हमारे पास दूसरे के कार्यों के नैतिक-मूल्यांकन की कोई कसौटी ही नहीं रह जाती। यदि अभिसन्धि या कर्त्ता का प्रयोजन ही हमारे कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक है, तो

फिर एक व्यक्ति दूसरे के आचरण के सम्बन्ध में कोई भी नैतिक-निर्णय नहीं दे सकेगा, क्योंकि कर्त्ता का प्रयोजन, जो कि एक वैयक्तिक-तथ्य है, दूसरे के द्वारा जाना नहीं जा सकता। दूसरे व्यक्ति के आचरण के सम्बन्ध में नैतिक-निर्णय तो कार्य के बाह्य-परिणाम के आधार पर ही दिया जा सकता है। लोग बाह्य-रूप से अनैतिक-आचरण करते हुए भी यह कहकर कि उसमें हमारा प्रयोजन शुभ था, स्वयं के नैतिक या धार्मिक होने का दावा कर सकते हैं। महावीर के युग में भी बाह्य-रूप में अनैतिक-आचरण करते हुए अनेक लोग धार्मिक या नैतिक होने का दावा करते थे। इसी कारण, महावीर को यह कहना पड़ा कि 'मन से सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें करना क्या संयमी पुरुषों का लक्षण है ?' इस प्रकार, एकांगी-हेतुवाद का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें नैतिकता का दम्भ पनपता है। दूसरे, एकान्त-हेतुवाद में मन और कर्म की एकरूपता को कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। एकांगी-हेतुवाद यह मान लेता है कि कार्य के मानसिक-पक्ष और परिणामात्मक-पक्ष में एकरूपता की आवश्यकता नहीं है, दोनों स्वतंत्र हैं, उनमें एक प्रकार का द्वैत है, जबकि सच्चे नैतिक-जीवन का अर्थ है-मनसा-वाचा-कर्मणा व्यवहार की एकरूपता। नैतिक-जीवन की पूर्णता तो मन और कर्म के पूर्ण सामंजस्य में है। यह ठीक है कि कभी-कभी कर्त्ता के हेतु और उसके परिणाम में एकरूपता नहीं रह पाती है, लेकिन वह अपवादात्मक स्थिति ही है, इसके आधार पर सामान्य नियम की प्रतिष्ठापना नहीं हो सकती। सामान्य मान्यता तो यह है कि बाह्य-आचरण कर्त्ता की मनोदशाओं का प्रतिबिम्ब है। अतः नैतिक निर्णय का विषय एकान्ततः न तो अभिसंधी या मानसिक प्रयोजन (Intention) होता है और न कर्म का बाह्य परिणाम या कर्मफल होता है।

ज्ञान दर्शन और चारित्र की जैन आचारदर्शन में तात्त्विक एकरूपता

पाश्चात्य आचार-दर्शन में नैतिकता के लिए तीन तात्त्विक आधारों को आवश्यक माना गया है। मानवीय-अनुभव के विषयों के एक सीमित भाग के व्यवस्थित अध्ययन को विज्ञान कहते हैं, लेकिन जब अध्ययन की दृष्टि व्यापक होती है और उन अनुभवों की आधारभूत मान्यताओं तक जाती है,

तब वह दर्शन कहलाती है। यद्यपि आचारशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र भी सीमित है, तथापि उसकी अध्ययनदृष्टि व्यापक है और इसी के आधार पर वह दर्शन का अंग है। मानवीय-चेतना के तीन पक्ष हैं - (1) ज्ञानात्मक, (2) अनुभूत्यात्मक और (3) क्रियात्मक। अतः, दार्शनिक-अध्ययन के भी तीन विभाग किए गए, जो क्रमशः - (1) तत्त्वदर्शन, (2) धर्मदर्शन और (3) आचारदर्शन कहे जाते हैं। इसप्रकार, तत्त्वदर्शन, धर्मदर्शन और आचारदर्शन की विषयवस्तु भिन्न नहीं हैं, मात्र अध्ययन के पक्षों की भिन्नता है। मैकेंजी कहते हैं कि नीतिशास्त्र जीवन के सम्पूर्ण अनुभव पर संकल्प या क्रियाशीलता के दृष्टिकोण से विचार करता है। वह मनुष्य को कर्त्ता, यानी किसी साध्य का अनुसरण करने वाले प्राणी के रूप में देखता है और ज्ञाता या भोक्ता के रूप में केवल परोक्षतः देखता है, लेकिन वह मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाशीलता का, जिस शुभ को पाने के लिए वह प्रयत्नशील है, उसके सम्पूर्ण स्वरूप का तथा इस प्रयत्न में वह जो कुछ करता है, उसके पूरे अर्थ का विचार करता है। चेतना के विविध पक्षों की विभिन्नता के आधार पर तत्त्वदर्शन, धर्मदर्शन और आचारदर्शन में एक सीमा के बाद भेद नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जीवन और जगत् एक ऐसी संगति है, जिसमें सभी तथ्य परस्पर में इतने सापेक्ष हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

विचारपूर्वक देखा जाए, तो जैन, दर्शन भी तत्त्वदर्शन, धर्मदर्शन और आचारदर्शन के मध्य विभाजक-रेखा नहीं खींचता है। लगभग सभी भारतीय-दर्शनों की यह प्रकृति है कि वे आचारशास्त्र को दर्शन से पृथक् नहीं करते हैं। इस सन्दर्भ में डॉ. रामानन्द तिवारी लिखते हैं कि न वेदान्त में और न किसी अन्य भारतीय-दर्शन में आचारशास्त्र को दर्शन से पृथक् किया गया है। दर्शन मनुष्य के जीवन और ज्ञान के चरम सत्य की खोज का प्रतीक है, सत्य एक और अखण्ड है। अतः, दर्शन के किसी पक्ष की मीमांसा, उसे अन्य पक्षों के पृथक् करके समुचित रीति से नहीं की जा सकती है। वस्तु, वेदान्त और अन्य भारतीय-दर्शनों में यह आचारदर्शन सम्बन्धी चिन्तन या सामान्य दार्शनिक-चिन्तन के अन्तर्गत ही है, उससे पृथक् नहीं।

जैन-विचारकों ने जीवन के इन तीनों पक्षों को अलग-अलग देखा तो सही, लेकिन उन्हें अलग-अलग किया नहीं। यही कारण है कि जैन-दर्शन ने तत्त्वदर्शन, धर्मदर्शन और आचारदर्शन पर विचार तो किया, लेकिन उन्हें एक-दूसरे पृथक् नहीं रखा। सभी एक-दूसरे में इतने घुले-मिले हैं कि इन्हें एक-दूसरे से पृथक् करना सम्भव ही नहीं है। न तो जैन-आचारमीमांसा को तत्त्वमीमांसा और धर्ममीमांसा से पृथक् किया जा सकता है और न उनसे अलग कर उसे समझा ही जा सकता है। जैन-दर्शन का मुद्रालेख 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' मानवीय-चेतना के अनुभूत्यात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक (संकल्पात्मक) - तीनों पक्षों को समन्वित रूप से प्रस्तुत करता है। यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य क्रमशः धर्म, तत्त्वज्ञान और आचरण के प्रतीक हैं। इस प्रकार, जहा मैकेंजी आदि पाश्चात्य-विचारक नैतिकता में आचरणात्मक-पक्ष को ही सम्मिलित करते हैं, वहाँ जैन विचारक नैतिकता में जीवन के तीनों पक्ष-अनुभूति, ज्ञान और क्रिया को सम्मिलित करते हैं। यही कारण है कि जैन-आचारदर्शन का अध्ययन करते समय उसकी तत्त्वमीमांसा और धर्ममीमांसा को छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि उसकी तात्त्विक-मान्यता 'अनन्तधर्मात्मक वस्तु' के आधार पर ही अनेकान्तवाद और नयवाद के सिद्धान्त खड़े हैं और अनेकान्तवाद को ही आचारदर्शन के क्षेत्र में वैचारिक-अहिंसा कहा गया है। दूसरी ओर, अहिंसा ने जब व्यवहार के क्षेत्र को छोड़ विचार के क्षेत्र में प्रवेश किया, तो वह अनेकान्त बन गई। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से नैतिक-सापेक्षता का प्रश्न जुड़ा हुआ है। इस प्रकार, तत्त्व दर्शन और आचार दर्शन एक-दूसरे से अलग नहीं रह जाते। जहाँ तक धर्मदर्शन और आचारदर्शन के सम्बन्ध का प्रश्न है, जैन परम्परा में पूरी तरह एक-दूसरे से मिले हुए हैं। धर्म ही नीति है और नीति ही धर्म है। दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची बन गये हैं। यदि जैन-परम्परा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य समवेत रूप में मोक्ष-मार्ग है, तो फिर तत्त्वदर्शन, धर्मदर्शन और आचारदर्शन एक-दूसरे से सम्पूर्णतः पृथक् होकर नहीं रह सकते। तत्त्वदर्शन आचारशास्त्र का आधार है।

भारतीय और पाश्चात्य-परम्परा में नैतिक-मानदण्ड के सिद्धान्त: एक तुलना

1. सदाचार और दुराचार का अर्थ

जब हम सदाचार या नैतिकता के किसी शाश्वत मानदण्ड या नैतिक-प्रतिमान को जानना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें यह देखना होगा कि सदाचार का तात्पर्य क्या है और किसे हम सदाचार कहते हैं। शाब्दिक-व्युत्पत्ति की दृष्टि से सदाचार शब्द सत्+आचार- इन दो शब्दों से मिलकर बना है, अर्थात् जो आचरण सत् या उचित है, वह सदाचार है, लेकिन यह प्रश्न बना रहता है कि सत् या उचित आचरण क्या है? यद्यपि हम आचरण के कुछ प्रारूपों को सदाचार और कुछ प्रारूपों को दुराचार कहते हैं, किन्तु मूल प्रश्न यह है कि वह कौन-सा तत्त्व है, जो किसी आचरण को सदाचार या दुराचार बना देता है। हम अक्सर यह कहते हैं कि झूठ बोलना, चोरी करना, हिंसा करना, व्यभिचार करना दुराचार है और करुणा, दया, सहानुभूति, ईमानदारी, सत्यवादिता आदि सदाचार हैं, किन्तु वह आधार कौन-सा है, जो इन आचरणों को दुराचार या सदाचार बना देता है। चोरी या हिंसा क्यों दुराचार है और ईमानदारी या सत्यवादिता क्यों सदाचार है? यदि हम सत् या उचित के अंग्रेजी पर्याय राईट (right) पर विचार करते हैं, तो यह पाते हैं कि यह शब्द लैटिन Rectus शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है- नियमानुसार, अर्थात् जो आचरण नियमानुसार है, वह सदाचार है जो नियमविरुद्ध है, वह दुराचार है। यहाँ नियम से तात्पर्य सामाजिक एवं धार्मिक-नियमों या परम्पराओं से है। भारतीय-परम्परा में भी सदाचार शब्द की ऐसी ही व्याख्या मनुस्मृति में उपलब्ध होती है, मनु कां कथन है-

तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।

वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ 2-18 ॥

अर्थात्, जिस देश, काल और समाज में जो आचरण परम्परा से चला आता है, वही सदाचार कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो परम्परागत आचार के नियम हैं, उनका पालन करना ही सदाचार है। दूसरे शब्दों में, जिस देश, काल और समाज में आचरण की जो परम्पराएँ स्वीकृत

रही हैं, उन्हीं के अनुसार आचरण करना सदाचार कहा जाएगा, किन्तु यह दृष्टिकोण भी समुचित प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः, कोई आचरण किसी देश या काल में आचरित एवं अनुमोदित होने से सदाचार नहीं बन जाता।

कोई आचरण केवल इसलिए सत् या उचित नहीं होता है कि वह किसी समाज में स्वीकृत होता रहा है, अपितु वास्तविकता तो यह है कि इसलिए स्वीकृत होता रहा है, क्योंकि वह सत् है। किसी आचरण का सत् या असत् होना, अथवा सदाचार या दुराचार होना स्वयं उसके स्वरूप पर निर्भर होता है, न कि उसके आचरित अथवा अनाचरित होने पर। महाभारत में दुर्योधन ने कहा था—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति।

जानामि अधर्मं न च मे निवृत्ति॥

अर्थात्, मैं धर्म को जानता हूँ, किन्तु उस ओर प्रवृत्त नहीं होता, उसका आचरण नहीं करता, मैं अधर्म को भी जानता हूँ, परन्तु उससे विरत नहीं होता, निवृत्त नहीं होता, अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि किसी आचरण का सदाचार या दुराचार होना इस बात पर निर्भर नहीं है कि वह किसी वर्ग या समाज द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत होता रहा है। सदाचार और दुराचार की मूल्यवत्ता उनके परिणामों पर या उस साध्य पर निर्भर होती है, जिसके लिए उनका आचरण किया जाता है। आचरण की मूल्यवत्ता, स्वयं आचरण पर नहीं अपितु उसके अभिप्रेरक या साध्य या परिणाम पर निर्भर होती है। यद्यपि किसी आचरण की मूल्यवत्ता का निर्धारण उसके समाज पर पड़ने वाले प्रभाव के आधार पर किया जाता है, फिर भी उसकी मूल्यवत्ता का अन्तिम आधार तो कोई आदर्श या साध्य ही होता है, अतः हम जब सदाचार के मापदण्ड की बात करते हैं, तो हमें उस परम मूल्य या साध्य पर ही विचार करना होगा, जिसके आधार पर किसी कर्म को सदाचार या दुराचार की कोटि में रखा जाता है। वस्तुतः, मानव-जीवन का परम साध्य ही वह तत्त्व है, जो सदाचार का मानदण्ड या कसौटी बनता है।

2. जैनदर्शन में सदाचार का मानदण्ड

अब मूल प्रश्न यह है कि परम मूल्य या चरम साध्य क्या है?

जैन-दर्शन अपने चरम साध्य के बारे में स्पष्ट है। उसके अनुसार, व्यक्ति का चरम साध्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति है वह यह मानता है कि जो आचरण निर्वाण या मोक्ष की दिशा में ले जाता है, वही सदाचार की कोटि में आता है। दूसरे शब्दों में, जो आचरण मुक्ति का कारण है, वह सदाचार है और जो आचरण बन्धन का कारण है, वह दुराचार है, किन्तु यहाँ पर हमें यह भी स्पष्ट करना होगा कि उसका मोक्ष अथवा निर्वाण से क्या तात्पर्य है। जैनधर्म के अनुसार निर्वाण या मोक्ष स्वभावदशा एवं आत्मपूर्णता की प्राप्ति है। वस्तुतः, हमारा जो निजस्वरूप है, उसे प्राप्त कर लेना, अथवा हमारी बीजरूप क्षमताओं को विकसित कर आत्मपूर्णता की प्राप्ति ही मोक्ष है। उसकी पारम्परिक-शब्दावली में विभाव से हटकर स्वभाव में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। यही कारण था कि जैनदार्शनिकों ने धर्म की एक विलक्षण एवं महत्वपूर्ण परिभाषा दी है। उनके अनुसार, धर्म वह है, जो वस्तु का निजस्वभाव है (वत्थुसहावो धम्मो)। व्यक्ति का धर्म या साध्य वही हो सकता है, जो उसकी चेतना या आत्मा का निज स्वभाव है और जो हमारा निजस्वभाव है, उसी को पा लेना ही मुक्ति है, अतः उस स्वभावदशा की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचरण है।

पुनः, प्रश्न यह उठता है कि हमारा स्वभाव क्या है? भगवतीसूत्र में गौतम ने भगवान् महावीर के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित किया था। वे पूछते हैं, 'भगवन्, आत्मा का निजस्वरूप क्या है और आत्मा का साध्य क्या है?' महावीर ने उनके प्रश्नों का जो उत्तर दिया था, वही आज भी समस्त जैनआचारदर्शन में किसी धर्म के नैतिक-मूल्यांकन का आधार है। महावीर ने कहा था, 'आत्मा समत्वस्वरूप है और उस समत्वस्वरूप को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है।' दूसरे शब्दों में, समता या समभाव स्वभाव है और विषमता विभाव है और जो विभाव से स्वभाव की दिशा में, अथवा विषमता से समता की दिशा में ले जाता है, वही धर्म है, नैतिकता है, सदाचार है, अर्थात् विषमता से समता की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचार है वहीं विभाव से फलित होने वाला आचरण दुराचार है। समता सदाचार है और विषमता दुराचार है।

यहाँ हमें समता के स्वरूप पर भी विचार कर लेना होगा। यद्यपि

द्रव्यार्थिक-नय की दृष्टि से समता का अर्थ परभाव से हटकर शुद्ध स्वभाव-दशा में स्थित हो जाना है, किन्तु अपनी विविध अभिव्यक्तियों की दृष्टि से भिन्न स्थितियों में इसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। आध्यात्मिकदृष्टि में समता या समभाव का अर्थ राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागता या अनासक्त भाव की उपलब्धि है। मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से मानसिक-समत्व का अर्थ है- समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं से रहित मन की शान्त और विक्षोभ (तनाव) रहित अवस्था। यही समत्व जब हमारे सामुदायिक या सामाजिक-जीवन में फलित होता है, तो इसे हम अहिंसा के नाम से अभिहित करते हैं। वैचारिकदृष्टि से इसे हम अनाग्रह या अनेकान्तदृष्टि कहते हैं। जब हम इसी समत्व के आर्थिकपक्ष पर विचार करते हैं, तो इसे परिग्रह के नाम से जानते हैं। साम्यवाद एवं न्यासीसिद्धान्त इसी अपरिग्रहवृत्ति की आधुनिक अभिव्यक्तियाँ हैं। यह समत्व ही मानसिक-क्षेत्र में अनासक्ति या वीतरागता के रूप में, सामाजिक-क्षेत्र में अहिंसा के रूप में, वैचारिकता के क्षेत्र में अनाग्रह या अनेकान्त के रूप में और आर्थिक-क्षेत्र में अपरिग्रह के रूप में अभिव्यक्त होता है, अतः 'समत्व' को निर्विवाद रूप में और आर्थिकक्षेत्र में अपरिग्रह के रूप में अभिव्यक्त होता है, अतः 'समत्व' को निर्विवाद रूप से सदाचार का मानदण्ड स्वीकार किया जा सकता है। 'समत्व' को सदाचार का मानदण्ड स्वीकार करते हुए भी हमें उसके विविध पहलुओं पर विचार तो करना ही होगा, क्योंकि सदाचार का सम्बन्ध अपने साध्य के साथ-साथ उन साधनों से भी होता है, जिनके द्वारा हम उसे पाना चाहते हैं और जिस रूप में वह हमारे व्यवहार में और सामुदायिक जीवन में प्रकट होता है।

जहाँ तक व्यक्ति के चैतसिक या आन्तरिक-समत्व का प्रश्न है, हम उसे वीतराग मनोदशा या अनासक्त चित्तवृत्ति की साधना मान सकते हैं। फिर भी समत्व की साधना का यह रूप हमारे वैयक्तिक एवं आन्तरिक-जीवन से अधिक सम्बन्धित है, यह व्यक्ति की मनोदशा का परिचायक है। यह ठीक है कि व्यक्ति की मनोदशा का प्रभाव उसके आचरण के आन्तरिक पक्ष पर विचार भी करते हैं, किन्तु सदाचार या दुराचार का प्रश्न हमारे व्यवहार के बाह्य एवं सामुदायिक पक्षों के साथ अधिक जुड़ा हुआ है। जब

भी हम सदाचार या दुराचार के किसी मानदण्ड की बात करते हैं, तो हमारी दृष्टि व्यक्ति के आचारण के बाह्य-पक्ष पर, अथवा उस आचरण का दूसरों पर क्या प्रभाव या परिणाम होता है- इस बात पर अधिक होती है। सदाचार या दुराचार का प्रश्न केवल कर्त्ता के आन्तरिक मनोभावों या वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित नहीं है, वह आचरण के बाह्य-पक्ष अथवा हमारे व्यवहार के सामाजिक-पक्ष को भी अपने में समेट सके। सामान्यतया, भारतीयचिन्तन में इस सम्बन्ध में एक सर्वमान्य दृष्टिकोण यह है कि परोपकार ही पुण्य है और परपीड़ा ही पाप है। तुलसीदासजी ने इसे निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है-

‘परहित सरिस धरम नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई।’

अर्थात्, व्यक्ति का वह आचरण, जो दूसरों के लिए कल्याणकारी या हितकारी है, सदाचार है, पुण्य है और जो दूसरों के लिए अकल्याणकारी है, अहितकर है, वही पाप है, दुराचार है। जैन-धर्म में सदाचार के एक ऐसे ही शाश्वत मानदण्ड की चर्चा हमें आचारांगसूत्र में उपलब्ध होती है। वहाँ कहा गया है, ‘भूतकाल में जितने अर्हत् हो गए हैं, वर्तमानकाल में जितने अर्हत् हैं और भविष्य में जितने अर्हत् होंगे, वे सभी यह उपदेश करते हैं कि सभी प्राणों, सभी भूतों, सभी जीवों और सभी सत्त्वों को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है, किन्तु मात्र दूसरे की हिंसा के निषेध को, या दूसरों के हितसाधन को ही सदाचार या दुराचार की कसौटी नहीं माना जा सकता है। ऐसी अवस्थाएँ सम्भव हैं कि जब मेरे असत्य सम्भाषण एवं अनैतिक-आचरण के द्वारा दूसरों का हितसाधन होता हो, अथवा कम से कम किसी का अहित न होता हो, किन्तु क्या ऐसे आचरण को सदाचरण कहने का साहस कर सकेंगे? क्या वेश्यावृत्ति के माध्यम से अपार धनराशि को एकत्रित कर उसे लोकहित के लिए व्यय करने मात्र से कोई स्त्री सदाचारी की कोटि में आ सकेगी, अथवा यौन-वासना की सन्तुष्टि के वे रूप, जिसमें किसी भी दूसरे प्राणी की हिंसा नहीं है, दुराचार की कोटि में नहीं आएंगे?

सूत्रकृतांग में सदाचारिता का ऐसा ही दावा अन्य तीर्थियों द्वारा प्रस्तुत

भी किया गया था, जिसे महावीर ने अमान्य कर दिया था। क्या हम उस व्यक्ति को, जो डाके डालकर उस सम्पत्ति को गरीबों में वितरित कर देता है, सदाचारी मान सकेंगे? एक चोर और एक नेता, दोनों ही व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को गरीबों में वितरित कर देते हैं, सदाचारी मान सकेंगे? एक चोर और एक सन्त, दोनों ही व्यक्ति को सम्पत्ति के पाश से मुक्त करते हैं, फिर भी दोनों समान कोटि के नहीं माने जाते। वस्तुतः, सदाचार या दुराचार का निर्णय केवल एक ही आधार पर नहीं होता है। उसमें आचरण का प्रेरक आन्तरिक पक्ष, अर्थात् व्यक्ति की मनोदशा और आचरण का बाह्य-परिणाम, अर्थात् सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव, दोनों ही विचारणीय हैं। आचार की शुभाशुभता विचार पर और विचार की शुभाशुभता स्वयं व्यवहार पर निर्भर करती है। सदाचार या दुराचार का मानदण्ड तो ऐसा होना चाहिए, जो इन दोनों को समाविष्ट कर सके।

साधारतया, जैन-धर्म सदाचार का शाश्वत मानदण्ड अहिंसा को स्वीकार करता है, किन्तु यहाँ हमें यह विचार करना होगा कि क्या केवल किसी को दुःख या पीड़ा नहीं देना, या किसी की हत्या नहीं करना—मात्र यही अहिंसा है। यदि अहिंसा की मात्र इतनी ही व्याख्या है, तो फिर यह सदाचार और दुराचार का मानदण्ड नहीं बन सकती, जबकि जैन आचार्यों ने सदैव ही उसे सदाचार का एकमात्र आधार प्रस्तुत किया है। आचार्य अमृतचन्दजी ने कहा है कि अनृतवचन, स्तेय, मैथुन, परिग्रह आदि पापों के जो भिन्न-भिन्न नाम दिए गए, वे तो केवल शिष्यबोध के लिए हैं, मूलतः तो वे सब हिंसा ही हैं। वस्तुतः, जैन आचार्यों ने अहिंसा को व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार है। वह आन्तरिक भी है और बाह्य भी। उसका सम्बन्ध व्यक्ति से भी है और समाज से भी। इसे जैन परम्परा में 'स्व' की हिंसा और 'पर' की हिंसा— ऐसे दो भागों में बाँटा गया है। जब हिंसा हमारे स्वरूप या स्वभाव-दशा का घात करती है, तो वह स्व-हिंसा है और जब वह दूसरों के हितों को चोट पहुँचाती है, तो वह पर की हिंसा है। स्व की हिंसा के रूप में वह आन्तरिक-पाप है, तो पर की हिंसा के रूप में वह सामाजिक-पाप, किन्तु उसके ये दोनों ही रूप दुराचार की कोटि में ही आते हैं। अपने इस व्यापक अर्थ में ही हिंसा को दुराचार की और

अहिंसा को सदाचार की कसौटी माना जा सकता है।

पाश्चात्य नैतिक मानदण्ड के सिद्धांत और जैनधर्मदर्शन

नैतिक-निर्णय की दृष्टि से कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का विचार करने के लिए नैतिक-प्रतिमान के विषय में पाश्चात्य-आचारदर्शन में काफी गहराई से विचार किया गया है, अतः तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह विचारणीय है कि पाश्चात्य-आचारदर्शन में स्वीकृत नैतिक-प्रतिमानों का सामान्यरूप से भारतीयदर्शन और विशेषरूप से जैनदर्शन से क्या सम्बन्ध हो सकता है?

पाश्चात्य-परम्परा में प्रारम्भ से ही नैतिक-प्रतिमान के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। प्रथम तो यह कि कुछ विचारकों ने तो किसी भी नैतिक-प्रतिमान को स्वीकार ही नहीं किया है। कुछ विचारकों ने नैतिक-प्रतिमान को तो स्वीकार किया, लेकिन वह नैतिक-प्रतिमान क्या है, इन विषय में उनमें काफी मतभेद हैं। पाश्चात्य-विचारकों के विभिन्न सिद्धान्तों का निर्माण किया है, उन सबका विस्तृत एवं गहन चिन्तन तो यहाँ सम्भव नहीं है, फिर भी उन विभिन्न धारणाओं के साथ जैन एवं अन्य दर्शनों का क्या सम्बन्ध हो सकता है, इस पर संक्षिप्त विचार करना उचित होगा। सर्वप्रथम 'नैतिक-सन्देहवाद' को ही लें।

नैतिकसन्देहवाद और जैनआचारदर्शन

नैतिक-सन्देहवाद की विचारधारा भारत और पाश्चात्य-देशों में प्राचीन समय से चली आ रही है। भारत के चार्वाक दार्शनिक और ग्रीस के सोफिस्ट विचारक इस विचार-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतीय-परम्परा में भी नैतिक-सन्देहवाद सम्बन्धी विचार प्रचलित थे, ऐसे सन्दर्भ जैन, बौद्ध और वैदिक-ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

जैन आचार्यों ने सूत्रकृतांग एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इस विचारधारा का उल्लेख किया है। इस विचारधारा के अनुसार धर्म (उचित) और अधर्म (अनुचित) की शंका में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि यह सुखों की उपलब्धि में बाधक है, गधे के सींग के समान धर्म और अधर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं है। महाभारत में भी यक्ष के प्रश्नों के उत्तर में युधिष्ठिर ने यही कहा था कि तर्क के द्वारा धर्माधर्म का निर्णय करना सम्भव नहीं

है, श्रुति भी इस विषय में एकमत नहीं है, ऋषियों के कथन भी परस्पर विरेधी हैं, अतः उनके वचनों को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। महावीर और बुद्ध के समकालीन अज्ञानवादी विचारक संजय बलदिठपुत्र इसी नैतिक-सन्देहवाद का प्रतिनिधित्व करते थे। नैतिक-सन्देहवाद मूलरूप में यह मानकर चलता है कि किसी भी ऐसे नैतिक-प्रतिमान को खोज पाना असम्भव है, जिसे धर्माधर्म या उचित-अनुचित के निर्णय का प्रामाणिक आधार बनाया जा सके।

पाश्चात्यआचारदर्शन में नैतिकसन्देहवाद की धारणा तार्किकआधारों पर पुष्ट हुई है। नैतिक-सन्देहवादी पाश्चात्यविचारक इस सम्बन्ध में तो एकमत हैं कि वे नैतिकमानक के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन नैतिक-मानक को अस्वीकार करने के उनके तर्क अलग-अलग हैं। उनके तीन वर्ग हैं।

(अ) नैतिकसन्देहवाद की अर्थवैज्ञानिक युक्ति और तार्किकभाववाद

तार्किकभाववाद को मानने वाले विचारकों में कारनेप, रसल एवं एअर प्रमुख हैं। ये नैतिक-आदेश एवं नैतिक-प्रत्ययों के भाषाविषयक विवेचन के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि नैतिक-प्रत्यय मात्र सांवेगिक अभिव्यक्तियाँ हैं और इनकी सत्यता और असत्यता के सन्दर्भ में विचार करना निरर्थक है। इनके अनुसार शुभ और अशुभ, धर्म और अधर्म को अच्छा या शुभ कहने का अर्थ यही है कि उसके कारण हृदय में जो भाव उत्पन्न होता है, वे सुखद लगते हैं। नैतिक-प्रत्यय आन्तरिक-भावों के उद्गार-मात्र हैं। अच्छाई का अर्थ है- सुखद अनुभूति। शुभ और अशुभ मूल्यात्मक निर्णय नहीं हैं, वर्णनात्मक निर्णय हैं। सुखद भाव के अतिरिक्त न कोई अच्छा है और दुःखद भाव के अतिरिक्त न कोई अशुभ या बुरा है। एअर के अनुसार जिन्हें नैतिकता के मौलिक प्रत्यय और परिभाषाएँ कहा जाता है, वे सभी प्रत्याभास मात्र हैं, क्योंकि जिस वाक्य में वे रहते हैं, उसे अपनी ओर से कोई अर्थ प्रदान नहीं करते। प्रत्याभास के रूप में वे मात्र हमारी प्रसन्नता या क्षोभ को प्रकट करते हैं। किसी कर्म को उचित कहकर हम उसके प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और किसी कार्य को अनुचित कहकर हम उसके प्रति अपना क्षोभ प्रकट करते हैं।

नैतिक-प्रत्ययों का अर्थ हमारे मनोभावों से जुड़ा हुआ है। प्रोफेसर कारनेप के अनुसार, 'एक मूल्यात्मक कथन वस्तुतः व्याकरण की दृष्टि से छद्मरूप में प्रस्तुत एक आज्ञा से अधिक नहीं है। इसका मानवीय आचरण पर कुछ प्रभाव तो हो सकता है, लेकिन यह प्रभाव हमारी इच्छा या अनिच्छा से ही सम्बन्धित है। यह न तो सत्य हो सकता है, लेकिन यह प्रभाव हमारी इच्छा या अनिच्छा से ही सम्बन्धित है। यह न तो सत्य हो सकता है और न असत्य।' 'चोरी करना अनुचित है'— इस कथन का अर्थ है, चोरी मत करो या मुझे चोरी पसन्द नहीं, इस प्रकार इसका कोई सत्य मूल्य नहीं है।

इस प्रकार, तार्किक-भाववादी विचारक 'औचित्य', 'अनौचित्य', 'शुभ', 'अशुभ' एवं 'चाहिए' के नैतिक-प्रत्ययों को भावनात्मक अभिव्यक्ति अथवा क्षोभ या पसन्दगी, की प्रतिक्रिया मात्र मानते हैं और बताते हैं कि ये प्रतिक्रियाएँ भी लोकव्यवहार के अनुसार उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार, न तो कोई मौलिक नैतिक-प्रत्यय है और न नैतिक माने जाने वाले प्रत्ययों का कोई मूल्यात्मक अर्थ ही है। सभी नैतिक-प्रत्यय सामाजिक-परम्पराओं की सीखी हुई संवेगात्मक अभिव्यक्तियों के ही रूप हैं।

(आ) नैतिक-सन्देहवाद की मनोवैज्ञानिक युक्ति

मनोवैज्ञानिक-आधार पर नैतिक-प्रतिमान के प्रति सन्देहात्मक दृष्टिकोण रखने वालों में प्रमुख हैं—व्यवहारवाद के प्रणेता वाट्सन और मनोविश्लेषण-सम्प्रदाय के प्रवर्तक फ्रायड।

वाट्सन की दृष्टि में मानवीय-व्यवहार यान्त्रिक एवं अन्ध है। वे अपने अध्ययन को व्यवहार के बाह्य प्रकट स्वरूप तक ही सीमित रखते हैं। यदि उनके लिए नैतिकता का कोई स्थान हो सकता है, तो वह इसी बाह्य यान्त्रिक एवं अन्ध व्यवहार पर आधारित है। यदि उनके लिए नैतिकता का कोई अर्थ हो सकता है, तो वे उसे बाह्य प्रकट व्यवहार तक ही सीमित रखते हैं। यदि उनके लिए नैतिकता का अर्थ स्थान हो सकता है, तो वह इसी बाह्य यान्त्रिक एवं अन्ध व्यवहार में ही हो सकता है, लेकिन प्रयोजन, लक्ष्य अथवा चेतन उद्देश्यों से रहित व्यवहार में नैतिकता को स्वीकार करना हास्यास्पद होगा, क्योंकि फिर तो हवा का बहना और पानी का गिरना भी नैतिकता की सीमा में आ जाएगा। यदि वाट्सन की दृष्टि में

मानवीय-व्यवहार यात्रिक एवं अन्ध है, तो फिर उसमें नैतिकता का कोई स्थान नहीं हो सकता। उसमें नैतिकता माना भ्रम होगा।

फ्रायड की दृष्टि से मानवीय-व्यवहार जैविक-वासनाओं से नियन्त्रित होता है। मानवीय-प्रकृति ऐसी हो है, तो उसके लिए किसी नैतिक-सिद्धान्त की स्थापना ही सम्भव नहीं है। फ्रायड के अनुसार मनुष्य मूलप्रवृत्त्यात्मक वासनाओं का समूह है और वासनाओं के विरुद्ध किसी नैतिक-सिद्धान्त की स्थापना का तर्क निरर्थक है। फ्रायड की मान्यता में नैतिक आदर्शों की उपलब्धि असम्भव है। वे आदर्श थोथे हैं और मानवीय अयौक्तिक वासनाओं के चिरकालीन दमन के प्रपंचित प्रक्षेपण हैं, जो उपलब्धि के योग्य ही नहीं हैं। इस प्रकार, फ्रायड के मनोविज्ञान में नैतिकता का कोई स्थान नहीं रहता।

(इ) नैतिक-सन्देहवाद की समाजशास्त्रीय-युक्ति

कुछ समाजशास्त्रीय-विचारक भी नैतिकता के निरपेक्ष, स्थायी एवं सार्वभौमिक-प्रतिमान के अस्तित्व के प्रति सन्देह प्रकट करते हैं। विलियम ग्राहम समनेर कहते हैं कि नैतिक-मान्यताएँ अथवा उचित और अनुचित की धारणा समाज-सापेक्ष है। जो भी तत्कालीन सामाजिक-रीतिरिवाजों के अनुकूल होता है, वह उचित और जो प्रतिकूल है, वह अनुचित है। उनके अनुसार यह रीतिरिवाज निर्णय नहीं वरन् विकास है (जो विकास पर आधारित है, वह निरपेक्ष नहीं)। अतः, नैतिकता के सन्दर्भ में निरपेक्षता का विचार अर्थ है। वह तो रीतिरिवाजों से प्रत्युत्पन्न है और अभी भी मौलिक और रचनात्मक नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि निरपेक्ष अर्थ में नैतिक-प्रत्ययों का अस्तित्व भ्रम है। एक, स्वीकारात्मक नैतिक-सिद्धान्त (सामूहिक) इच्छा की अभिव्यक्ति से अधिक नहीं है। दूसरे, समाजशास्त्रीय-विचारक कार्ल मनहीयम कहते हैं कि ऐसा कोई (नैतिक) आदर्श नहीं हो सकता, जो मात्र आकारिक एवं निरपेक्ष हो। रीतिरिवाज नैतिकता की भावनात्मक प्रकृति में समाविष्ट हैं और फिर ऐसी दशा में नैतिक-निर्णयों के लिए स्थिर मूल्यों को खोज पाना असम्भव है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि पूर्व और पश्चिम के ये सब विचारक कम से कम इस एक बात पर सहमत हैं कि नैतिकता की धारणा का कोई

अस्तित्व नहीं है और उसके सन्दर्भ में विचार करना निरर्थक है, किन्तु जैन-दर्शन को नैतिक-सन्देहवाद अस्वीकार रहा है।

जैन-दार्शनिकों को किसी भी प्रकार का नैतिक-सन्देहवाद स्वीकार नहीं है। महावीर नैतिक-प्रतिमान की सत्यता को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि 'कल्याण (शुभ) तथा पाप (अशुभ) हैं, ऐसा ही निश्चय करें, इससे अन्यथा नहीं।' महावीर का यह वचन स्पष्ट कर देता है कि जैन-विचारणा में नैतिक-सन्देहवाद का कोई स्थान नहीं है। उन्होंने ऐसी मान्यता को, जो शुभ और अशुभ की वास्तविक सत्ता में विश्वास नहीं रखती, सदाचारघातक मान्यता कहा है।

बुद्ध और महावीर के समकालीन विचारक संजय वेलटिठपुत्त भी इसी प्रकार के नैतिक-सन्देहवाद में विश्वास करते थे। महावीर ने उनकी मान्यता को अनुचित ही माना था। संजय वेलटिठपुत्त का दर्शन ह्यूम के अनुभववाद, कांट के अज्ञेयवाद एवं तार्किक-भाववादियों के विश्लेषणवाद का पूर्ववर्ती स्थूल रूप था। उसकी आलोचना करते हुए कहा गया है कि ये विचारक तर्क-वितर्क में कुशल होते हुए भी सन्देह से परे नहीं जा सके।

वस्तुतः नैतिक-सन्देहवाद मानवीय आदर्श का निरूपण करने में समर्थ नहीं है, चाहे उसका आधार नैतिक-प्रत्ययों का विश्लेषण हो, अथवा उसे मानव की मनोवैज्ञानिक-अवस्थाओं या सामाजिक-आधारों पर स्थापित किया गया हो। यदि हम शुभ को अपनी मनोवैज्ञानिक-भाववास्थाओं अथवा सामाजिक-परम्पराओं में खोजने का प्रयास करेंगे, तो वह उनमें उपलब्ध नहीं होगा। जैन-दार्शनिकों के अनुसार नैतिक-आदर्श तर्क के माध्यम से नहीं खोजा जा सकता, क्योंकि वह तर्क का विषय नहीं है, उसी प्रकार मानव के यान्त्रिक एवं सामाजिक-व्यवहार में भी शुभ की खोज करना व्यर्थ का प्रयास ही होगा। इन विचारकों की मूलभूत भ्रान्ति यह है कि वे भाषा को पूर्ण एवं सक्षम रूप से देखते हैं, जबकि भाषा स्वयं अपूर्ण है। वह पूर्णता के नैतिक-साध्य का विश्लेषण कैसे करेगी? इसी प्रकार, मनुष्य को मात्र यान्त्रिक एवं अन्धवासनाओं से चलने वाला प्राणी मान लेना भी मानव-प्रकृति का यथार्थ विश्लेषण नहीं होगा।

पुनश्च, नैतिक-प्रत्ययों को सांवेगिक-अभिव्यक्ति या रुचि-सापेक्ष मानने पर भी स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को निरस्त नहीं किया जा सकता है। यदि नैतिक-प्रत्यय सांवेगिक-अभिव्यक्ति है, तो प्रश्न यह है कि नैतिक-आवेगों का दूसरे सामान्य आवेगों से अन्तर का आधार क्या है? वह कौन-सा तत्त्व है, जो नैतिक-आवेग को दूसरे आवेगों से अन्तर करता है और उसका आधार क्या है? यह तो सुनिश्चित सत्य है कि नैतिक-आवेग दूसरे आवेगों से भिन्न है। दायित्वबोध का आवेग, अन्याय के प्रति आक्रोश का आवेग और क्रोध का आवेग— ये तीनों भिन्न-भिन्न स्तरों के आवेग हैं। जो चेतना इनकी भिन्नता का बोध करती है, वही नैतिक-मूल्यों की द्रष्टा भी है। नैतिक-मूल्यों को स्वीकार किए बिना हम भिन्न-भिन्न प्रकार के आवेगों का अन्तर नहीं कर सकते। यदि इसका आधार पसन्दगी या रुचि है, तो फिर पसन्दगी या नापसन्दगी के भावों की उत्पत्ति का आधार क्या है? नैतिक-भावों की व्याख्या मात्र पसन्दगी और नापसन्दगी के रूप में ही की जा सकती है। मानवीय-पसन्दगी अथवा रुचि केवल मन की मौज या मन की तरंग पर निर्भर नहीं है। इन्हें पूरी तरह आत्मनिष्ठ नहीं माना जा सकता, इनके पीछे एक वस्तुनिष्ठ आधार भी होता है। आज हमें उन आधारों का अन्वेषण करना होगा, जो हमारी पसन्दगी और नापसन्दगी को बनाते या प्रभावित करते हैं। वे कुछ आदर्श, सिद्धान्त, दृष्टियाँ या मूल्यबोध हैं, जो हमारी पसन्दगी या नापसन्दगी को बनाते हैं और जिनके आधार पर हमारी रुचियाँ गठित होती हैं। मानवीय-रुचियाँ और मानवीय-पसन्दगी या नापसन्दगी आकस्मिक या प्राकृतिक नहीं हैं। जो तत्त्व इनको बनाते हैं, उनमें नैतिक मूल्य भी हैं। ये पूर्णतया व्यक्ति और समाज की रचना भी नहीं हैं, अपितु व्यक्ति के मूल्यांकन के बोध से भी उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः, मूल्यों की सत्ता अनुभव की पूर्ववर्ती है, मनुष्य मूल्यों का द्रष्टा है, सृजक नहीं। अतः रुचिसापेक्षता के आधार पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को निरस्त नहीं किया जा सकता है। दूसरे, यदि हम औचित्य एवं अनौचित्य का आधार सामाजिक-उपयोगिता को मानते हैं, तो यह भी ठीक नहीं। मेरे व्यक्तिगत स्वार्थों से सामाजिक हेतु क्यों श्रेष्ठ एवं वरेण्य हैं? इस प्रश्न का हमारे पास क्या उत्तर होगा?

सामाजिक-हितों की वरेण्यता का उत्तर नीति की मूल्यवत्ता को स्वीकार किए बिना नहीं दिया जा सकता है। इस प्रकार, परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता पर प्रश्न-चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। नैतिक-मूल्यों के अस्तित्व की स्वीकृति में ही उनकी परिवर्तनशीलता का कोई अर्थ हो सकता है, उनके नकारने में नहीं।

यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज भी नैतिक-मूल्यों का सृजन नहीं करता है। समाज किन्हीं आचरण के प्रारूपों को विहित या अविहित मान सकता है, किन्तु सामाजिक-विहितता और अविहितता नैतिक-औचित्य या अनौचित्य से भिन्न है। एक कर्म अनैतिक होते हुए भी विहित माना जा सकता है, अथवा नैतिक होते हुए भी अविहित माना जा सकता है। कंजर जाति में चोरी, आदिम कबीलों में नरबलि या मुस्लिम-समाज में बहुत-पत्नीप्रथा विहित है। राजपूतों में लड़की को जन्मते ही मार डालना कभी विहित रहा था। अनेक देशों में वेश्यावृत्ति, समलैंगिकता, मद्यपान आज भी विहित और वैधानिक है, किन्तु क्या इन्हें नैतिक कहा जा सकता है? नग्नता को, शासनतन्त्र की आलोचना को अविहित एवं अवैधानिक माना जा सकता है, किन्तु इससे नग्न रहना या शासक-वर्ग के गलत कार्यों की आलोचना को अनैतिक नहीं कहा जा सकेगा। मानवों के समुदाय-विशेष के द्वारा किसी कर्म को विहित या वैधानिक मान लेने मात्र से वह नैतिक नहीं हो जाता। गर्भपात वैधानिक हो सकता है, लेकिन नैतिक कभी नहीं। नैतिक-मूल्यवत्ता निष्पक्ष विवेक के प्रकाश में आलोकिता होती है। वह सामाजिक-विहितता या वैधानिकता से भिन्न है। समाज किसी कर्म को अविहित बना सकता है, किन्तु उचित या अनुचित नहीं।

नैतिक-प्रत्ययों को अथवा शुभ को समाज की आदत से उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत, जिसे सामाजिक-सदाचार कहा जाता है, वह अच्छाई या शुभ से उत्पन्न होता है। नैतिक-सन्देहवाद के मूल में यह भ्रान्ति है कि वह मूल्यों को व्यावहारिक-अनुभवों में ही खोजने का प्रयास करता है, जबकि वे उनसे ऊपर भी होते हैं। नैतिक-प्रतिमान या आदर्श हमारे व्यवहारों से प्रभावित नहीं होता, बल्कि उससे हमारे व्यवहार प्रभावित होते हैं। वह हमारे व्यवहारों के मूल में निहित है।

आज नैतिक-मानदण्डों की जिस गत्यात्मकता की बात कही जा रही है, उससे तो स्वयं नैतिकता के मूल्य होने में ही अनास्था उत्पन्न हो गई है। आज का मनुष्य अपनी पाशविक-वासनाओं की पूर्ति के लिए विवेक एवं संयम की नियामक मर्यादाओं की अवहेलना को ही मूल्य-क्रान्ति मान रहा है। वर्षों के चिन्तन और साधना से फलित ये मर्यादाएँ आज उसे नाकारा लग रही हैं और इन्हें तोड़-फेंकने में ही उसे मूल्य-क्रान्ति परिलक्षित हो रही है। स्वतन्त्रता के नाम पर वह अतन्त्रता और अराजकता को ही मूल्य मान बैठा है, किन्तु यह सब मूल्य-विभ्रम या मूल्य-विपर्यय ही है, जिसके कारण नैतिक-मूल्यों के निर्मूल्यीकरण को ही मूल्य-परिवर्तन कहा जा रहा है। यहाँ हमें यह समझ लेना होगा कि मूल्य-क्रान्ति या मूल्यान्तरण मूल्य-निषेध नहीं है। परिवर्तनशीलता का तात्पर्य स्वयं नीति के मूल्य होने में अनास्था नहीं है। यह सत्य है कि नैतिक-मूल्यों में और नीति-सम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन हुए हैं और होते रहेंगे, किन्तु मानव के इतिहास में कोई भी काल ऐसा नहीं है, जब स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार किया गया हो। वस्तुतः, नैतिक-मानदण्डों की परिवर्तनशीलता में भी कुछ ऐसा अवश्य है, जो बना रहता है और वह है-स्वयं नीति की मूल्यवत्ता। नैतिक-मूल्यों की विषयवस्तु बदलती रहती है, किन्तु उनका आकार बना रहता है। मात्र इतना ही नहीं, कुछ मूल्य ऐसे भी हैं, जो अपनी मूल्यवत्ता को कभी नहीं खोते, मात्र उनकी व्याख्या के सन्दर्भ एवं अर्थ बदलते हैं।

नैतिक-प्रतिमान के सिद्धान्त

जिन विचारकों ने नैतिक-सन्देहवाद को अस्वीकार कर नैतिक-प्रतिमानों को स्वीकार किया है, उनमें भी नैतिक-प्रतिमान के सम्बन्ध में मतभेद हैं। नैतिक-प्रतिमान के सिद्धान्तों को दो वर्गों में रखा जा सकता है- (1) विधानवादी-सिद्धान्त और (2) साध्यवादी-सिद्धान्त।

विधानवादी-सिद्धान्त

नैतिक-प्रतिमान के विधानवादी-सिद्धान्त दो प्रकार के हैं- (1) बाह्य विधानवादी सिद्धान्त और (2) आन्तरिक विधानवादी-सिद्धान्त। बाह्य विधानवादी-सिद्धान्त के भी- (अ) सामाजिक-विधानवाद, (आ)

वैधानिक-विधानवाद और (इ) ईश्वरीय-विधानवाद- ये तीन प्रकार हैं।

1. बाह्य-विधानवादी-सिद्धान्त

(अ) सामाजिक-विधानवादी- सामाजिक-विधानवाद के अनुसार समाज द्वारा स्वीकृत नियमों का पालन करना शुभ और सामाजिक-नियमों का पालन न करना या उनका उल्लंघन करना अशुभ है। आधुनिक पाश्चात्य-परम्परा में इमाइल डरखिम और ल्यूकिन लेवीब्रुल इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। इस सिद्धान्त की मूलभूत मान्यता यह है कि शुभ और अशुभ के प्रत्ययों, जिन्हें हम नैतिक प्रतिपादन का आधार बनाते हैं, सामाजिक-स्वीकृति और अस्वीकृति से निर्मित होते हैं। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि समाज जिसे उचित मानता है, वह उचित है और समाज जिसे अनुचित मानता है, वह अनुचित है। इस प्रकार, इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक-स्वीकृति या अस्वीकृति ही नैतिकता का प्रतिमान है।

जैन-दार्शनिक सामान्यतया सामाजिक-नियमों को अस्वीकार नहीं करते। जैनपरम्परा में वे सभी लौकिक-विधियाँ (सामाजिक-नियम) स्वीकार्य हैं, जिनसे सम्यक्त्व और व्रतों में कोई दोष नहीं लगता। जैनपरम्परा के अनुसार सामाजिकनियम यदि व्यक्ति के आध्यात्मिक-विकास में बाधक हैं, तो वे त्याज्य ही हैं। स्थानांगसूत्र में नगरधर्म, ग्रामधर्म आदि के रूप में लौकिक-विधानों को मान्यता प्रदान की गई है, फिर भी उन्हें नैतिकता का प्रतिमान नहीं कहा जा सकता। जैनदार्शनिकों ने व्यावहारिकदृष्टिकोण से उनका मूल्य स्वीकार किया है।

गीता में भी कुलधर्म, जातिगत मर्यादा आदि के रूप में सामाजिक-विधानवाद का समर्थन हुआ है। अर्जुन युद्ध से इसीलिए बचना चाहता है कि उससे कुलधर्म और जातिधर्म के नष्ट होने की सम्भावना दिखाई देती है। भारतीय-परम्परा में धर्म-अधर्म की व्यवस्था के लिए सामाजिक-नियमों एवं परम्पराओं को स्थान अवश्य दिया गया है, फिर भी वे भारतीय-दर्शन में नैतिकता के चरम प्रतिमान नहीं हैं।

जैन-दार्शनिक सामान्यतया सामाजिक-नियमों को अस्वीकार नहीं करते। जैनपरम्परा में वे सभी लौकिक-विधियाँ (सामाजिक-नियम) स्वीकार्य

हैं, जिनसे सम्यक्त्व और व्रतों में कोई दोष नहीं लगता। जैनपरम्परा के अनुसार सामाजिक नियम, यदि व्यक्ति के आध्यात्मिक-विकास में बाधक हैं, तो वे त्याज्य ही हैं। स्थानांगसूत्र में नगरधर्म, ग्रामधर्म आदि के रूप में लौकिक-विधानों को मान्यता प्रदान की गई, फिर भी उन्हें नैतिकता का प्रतिमान नहीं कहा जा सकता। जैन दार्शनिकों ने व्यावहारिक दृष्टिकोण से उनका मूल्य स्वीकार किया है।

गीता में भी कुलधर्म, जाति-मर्यादा आदि के रूप में सामाजिक-विधानवाद का समर्थन हुआ है। अर्जुन युद्ध से इसीलिए बचना चाहता है कि उससे कुलधर्म और जातिधर्म के नष्ट होने की सम्भावना दिखाई देती है। भारतीय-परम्परा में धर्म-अधर्म की व्यवस्था के लिए सामाजिक-नियमों एवं परम्पराओं को स्थान अवश्य दिया गया है, फिर भी वे भारतीय-दर्शन में नैतिकता के चरम प्रतिमान नहीं हैं।

(आ) वैधानिक-विधानवाद- विधानवादी-सिद्धान्तों का एक प्रकार यह भी है, जिसमें राजकीय-नियमों को ही नैतिकता का प्रमापक मान लिया जाता है। आधुनिक युग में वैधानिक-नियमों की उत्पत्ति समाजनिरपेक्ष नहीं है, इसलिए सामाजिक-विधानवाद और वैधानिक-विधानवाद में अन्तर करना उचित न होगा। हाँ, प्राचीन युग में, जबकि राजा ही वैधानिक-नियमों का नियामक होता था, वैधानिक-विधानवाद नैतिक-प्रतिमान का एक महत्वपूर्ण अंग था। भोजप्रबन्ध के अनुसार राजा के वचन या विधान से पवित्र आत्मा भी अपवित्र हो जाता है और अपवित्र आत्मा भी पवित्र बन जाता है। राज्य के नियमों का परिपालन जैनआचारदर्शन में भी स्वीकृत है। राज्य नियमों के विरुद्ध काम करने को जैन-दार्शनिकों ने अनैतिक कर्म कहा है। श्रमण और गृहस्थ-दोनों के लिए ही राजकीय-मर्यादाओं का उल्लंघन अनुचित था। फिर भी, जैन-आचारदर्शन के अनुसार राजकीय-नियम नैतिकता का प्रतिमान नहीं हो सकते, क्योंकि राज्यनियमों का विधान जिन लोगों के द्वारा किया जाता है, वे राग और द्वेष से मुक्त नहीं होते, इसलिए उनके आदर्श पूर्णतया प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते। राज्य के नियम परिवर्तनशील होते हैं तथा विभिन्न देशों एवं समयों में अलग-अलग होते हैं, जबकि नैतिक-प्रतिमान को अपेक्षाकृत

स्थायी एवं देशकालगत सीमाओं से ऊपर होना चाहिए।

(इ) ईश्वरीय-विधानवाद- ईश्वरीय-विधानवाद के अनुसार नैतिकता का वास्तविक आधार ईश्वरीय-इच्छा एवं नियम ही हैं। ईश्वरीय-नियमों के अनुसार आचरण करना नैतिक है और उसके विरुद्ध आचरण करना अनैतिक। पाश्चात्य-परम्परा में देकार्त, लाक, स्पिनोजा आदि अनेक विचारक इस प्रतिमान के समर्थक हैं। समकालीन चिन्तकों में कार्ल बर्थ, इमिल ब्रनर एवं रिन्होल्डनीबर आदि विचारक इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। ईश्वरीय-आज्ञा में नैतिकता के प्रतिमान को खोजने की यह परम्परा भारतीय-चिन्तन में भी है। ईश्वर प्रणीत धर्मशास्त्रों की आज्ञा के अनुसार आचरण करना भारतीय-आचारदर्शन की प्रमुख मान्यता रही है। धर्मदर्शन के अनुसार तो ईश्वरप्रणीत शास्त्रों की आज्ञाओं का पालन ही नैतिकता का चरम प्रतिमान है।

हिन्दू, बौद्ध जैन-दर्शनों में भी ईश्वर, बुद्ध अथवा तीर्थंकर की आज्ञाओं का पालन करना नैतिक-जीवन का अनिवार्य अंग है। गीता का कथन है कि जो शास्त्र के विधान को छोड़कर मनमानी करता है, उसे सुख, सफलता और उत्तम गति नहीं मिलती, इसलिए कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय करने के लिए शास्त्रों को ही प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्रोक्त विधान को जानकर उसके अनुसार ही कर्म करना चाहिए।

बौद्ध-परम्परा में भी बुद्ध द्वारा प्रणीत नियमों का पालन करना नैतिकता का प्रतिमान माना गया है। सम्पूर्ण विनयपिटक और सुत्तपिटक में नैतिक-जीवन के नियमों का प्रतिपादन है और आज भी बौद्ध-उपासक उन्हें नैतिकता एवं अनैतिकता के प्रतिमान के रूप में स्वीकार करते हैं। बुद्ध ने स्वयं यह कहा था कि 'जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है। बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय भी अन्तिम बार भिक्षुओं को आमन्त्रित करके कहा, "हे आनन्द, शायद तुमको ऐसा हो, हमारे शास्ता चले गए-अब हमारा शास्ता नहीं है। आनन्द, ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय के उपदेश दिए हैं, प्रज्ञप्त किए हैं, मेरे बाद वे ही तुम्हारे शास्ता होंगे।"

जैन-परम्परा में भी जिनवचनों का पालन करना नैतिक-जीवन का

आवश्यक अंग माना गया है। सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रों की आज्ञाओं का पालन करना प्रत्येक गृहस्थ एवं श्रमण के लिए आवश्यक है। आचारांगसूत्र में महावीर कहते हैं कि मेरी आज्ञाओं का पालन धर्म है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन-परम्परा में भी विधानवाद का स्थान है। जैन-आचारदर्शन वीतराग पुरुषों अथवा तीर्थंकरों के आदेशों को नैतिक-जीवन का प्रतिमान स्वीकार करता है।

फिर भी, इतना स्पष्ट है कि यदि नैतिकता के प्रतिमान के रूप में बाह्य-आदेशों को ही सब कुछ मान लिया गया, तो नैतिकता आन्तरिक-वस्तु नहीं रह जाएगी। बाह्य-आदेशों का पालन 'करना चाहिए' के स्थान पर 'करना पड़ेगा' की प्रकृति का होता है। वह बहुत-कुछ पुरस्कार की आशा एवं दण्ड के भय पर निर्भर होता है, अतः उसे पूर्ण रूप से नैतिकता का प्रतिमान स्वीकार नहीं किया जा सकता। नैतिक-जीवन में ईश्वर, बुद्ध या जिन के वचन मार्गदर्शक हो सकते हैं, लेकिन कर्तव्य की भावना का उद्भव तो हमारे अन्दर से ही होना चाहिए। अमनस्क-भाव से बाह्य आदेशों का पालन नैतिक नहीं कहा जा सकता, नैतिकता अन्तरात्मा की वस्तु है। उसे बाह्य-विधानों के आश्रित नहीं माना जा सकता।

आन्तरिक-विधानवाद

आन्तरिक या अन्तरात्मक-विधानवाद के अनुसार शुभ और अशुभ का निर्णायक-तत्त्व व्यक्ति की अन्तरात्मा है। अपनी अन्तरात्मा के अनुसार आचरण करना शुभ और उसके प्रतिकूल आचरण करना अशुभ माना गया है। पाश्चात्य-परम्परा में अन्तरात्मक-विधानवाद के प्रतिपादकों में हेनरी मोर, रल्फ कडवर्थ, सैमुअल क्लार्क, विलियम वुलेस्टन, शैपट्सबरी, हचिसन और बटलर की एक लम्बी परम्परा है। समकालीन चिन्तकों में एडवर्ड वेस्टरमार्क, अर्थर केनिआन रोजर्स और फ्रैंक चेपमेन शार्प प्रमुख हैं। भारतीय-परम्परा में आन्तरिक-विधानवाद का समर्थन मनु के युग से ही मिलता है। मनु ने मनःपूतं समाचरेत कहकर इसी अन्तरात्मक-विधानवाद का समर्थन किया है। महाभारत के अनुशासनपर्व में भी कहा गया है, 'सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, दान और त्याग, सभी में अपनी आत्मा को प्रमाण मानकर ही व्यवहार करना चाहिए।

आन्तरिक (अन्तरात्मक) विधानवाद की यह धारणा जैन और बौद्ध-परम्परा में भी स्वीकृत रही है, लेकिन जैन और बौद्ध-परम्पराएँ इस बात को स्पष्ट कर देती हैं कि अन्तरात्मा के आदेश को उसी समय प्रामाणिक माना जाता है, जब वह राग और द्वेष से ऊपर उठकर कोई निर्णय ले। अन्तरात्मा को नैतिकता का प्रतिमान स्वीकार करने के लिए यह शर्त आवश्यक है, अन्यथा राग-द्वेष से युक्त वासनामय आत्मा के आदेशों को भी नैतिक मानना पड़ेगा, जो कि हास्यास्पद होगा। अतः, यह दृष्टिकोण समुचित ही है कि राग-द्वेष से रहित साक्षी स्वरूप अन्तरात्मा को ही नैतिकता का प्रतिमान स्वीकार किया जाए। पाश्चात्य-परम्परा के अन्तरात्मक विधानवादी-विचारकों ने इस सम्बन्ध में गहराई से विचार नहीं किया और फलस्वरूप उनकी आलोचना की गई। भारतीय-विचारक इस सम्बन्ध में सजग रहे हैं। उनके अनुसार, आत्मा का राग-द्वेष से रहित जो शुद्ध स्वरूप है, वही नैतिकता का प्रतिमान हो सकता है और यदि इस रूप में हम अन्तरात्मा को नैतिकता का प्रतिमान स्वीकार करेंगे, तो उसका ईश्वरीय-विधानवाद और आत्मपूर्णतावाद से भी कोई विरोध नहीं रहेगा।

नैतिक-प्रतिमान को आन्तरिक-विधान के रूप में मानने वाले विचारकों में अन्तरात्मा या अन्तर्दृष्टि के स्वरूप के विषय में अलग-अलग दृष्टिकोण हैं और उनके अलग-अलग सम्प्रदाय भी हैं। प्रमुख रूप से उन सम्प्रदायों को निम्न वर्गों में रखा जा सकता है— (अ) बुद्धिवाद या तार्किक सहज ज्ञानवाद (आ) रसेन्द्रियवाद या नैतिक-इन्द्रियवाद, (इ) सहानुभूतिवाद, (ई) नैतिक-अन्तरात्मवाद, (उ) मनोवैज्ञानिक-अन्तरात्मवाद।

(अ) बुद्धिवाद और जैनदर्शन— कैम्ब्रिज प्लेटोवादियों ने, जिनमें बेंजामिन हिवचकोट, राल्फ कडवर्थ, हेनरी मोर, रिचर्ड कम्बरलेन, सैमुअल क्लार्क और विलियम वुलेस्टन प्रमुख हैं, अन्तरात्मा को बौद्धिक या तार्किक माना है। उनकी दृष्टि में अन्तर्दृष्टि (प्रज्ञा) तर्कमय है। राल्फ कडवर्थ के अनुसार सदगुण और अवगुण के अपने-अपने स्वरूप हैं। वे वस्तुमूलक एवं वस्तुतन्त्र हैं, न कि आत्मतन्त्र। वह उन्हें ज्ञानाकार प्रत्यय स्वरूप मानता है। उसके अनुसार हम शुभ और अशुभ का ज्ञान ठीक कैसे ही प्राप्त कर सकते हैं, जैसे तर्कशास्त्र के प्रत्ययों का ज्ञान। वे इन्द्रियगम्य नहीं, वरन्

बुद्धिगम्य हैं। जैनपरम्परा रात्फ कडवर्थ के विचारों से सहमत है। वह कडवर्थ के साथ इस अर्थ में भी सहमत है कि प्रज्ञा या बुद्धि के द्वारा हम उन्हें जान सकते हैं। यद्यपि जैन-दर्शन के अनुसार इसका ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा भी होता है। सैमुअल क्लार्क नैतिक-नियमों को गणित के नियमों के समान प्रातिभ एवं प्रामाणिक मानता है। उसके अनुसार, वे वस्तुओं के स्वभाव में निहित हैं, अथवा वे वस्तुओं के गुणों और पारस्परिक-सम्बन्धों में विद्यमान हैं। उनको हम अपनी बुद्धि से पहचानते हैं। यह हो सकता है कि सभी लोग उनका पालन न करें, फिर भी वे उन्हें बुद्धि के द्वारा जानते अवश्य हैं। सैमुअल क्लार्क के इस विचार की जैनदर्शन के तुलना करने पर ज्ञात होता है कि जैन-दार्शनिकों के अनुसार भी धर्म वस्तु के स्वभाव में निहित है। वस्तु के स्वभाव को जाना जा सकता है। सैमुअल क्लार्क ने सदाचार के चार सिद्धान्त माने हैं- (1) ईश्वर-भक्ति का सिद्धान्त, (2) समानता का सिद्धान्त, (3) परोपकार का सिद्धान्त और (4) आत्मसंयम का सिद्धान्त।

सैमुअल के अनुसार, ईश्वर-भक्ति का सिद्धान्त नित्यता, अनन्तता, सर्वशक्तिमत्ता, न्याय, दया आदि ईश्वरीय-गुणों के प्रति निष्ठा है। जैन-परम्परा के अनुसार इसकी तुलना सम्यग्दर्शन से की जा सकती है। सैमुअल का समानता का सिद्धान्त यह बताता है कि हर मनुष्य के प्रति हम वही व्यवहार करें, जिसकी हम अपने प्रति युक्तियुक्त होने की आशा करते हैं। जैन-आगम सूत्रकृतांग में नैतिकता के इस सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा है और यह बताया गया है कि जिस व्यवहार की हम अपने प्रति अपेक्षा करते हैं, वैसा ही व्यवहार दूसरों के प्रति भी करना चाहिए। बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों में भी इसी सिद्धान्त का समर्थन हुआ है। सैमुअल का तीसरा सिद्धान्त परोपकार का सिद्धान्त है। हमें सभी मनुष्यों के साथ भलाई करना चाहिए। सैमुअल इसके लिए यह प्रमाण देता है कि सार्वजनिक परोपकार या करुणा प्रकृति का नियम है, यह सभी मानवों के पारस्परिक-सम्बन्धों की संवादिता है। जैनदर्शन में भी परोपकार के सिद्धान्त को प्राणी की प्रकृति के आधार पर ही स्थापित किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि परस्पर एक-दूसरे का उपकार करना जीव

का स्वभाव है। सैमुअल का चौथा सिद्धान्त आत्मसंयम का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य का अपने प्रति भी कुछ कर्तव्य है और वह यह कि अपनी वासनाओं और क्षुधाओं को नियन्त्रित करे। जैनआचारदर्शन में आत्मसंयम का महत्वपूर्ण स्थान है। समग्र जैनआचारदर्शन के नियम आत्मसंयम के लिए हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैनदर्शन में सैमुअल के चारों ही सिद्धान्तों को मोटे रूप से स्वीकार किया गया है।

विलियम वुलेस्टन आन्तरिक-विधानवाद के सिद्धान्तों में बुद्धिवाद का प्रमुख व्याख्याता है। उसके अनुसार नैतिकता तार्किक-सत्य है और नैतिकता तार्किक-मिथ्यात्व है। वुलेस्टन शुभाशुभ की मीमांसा में बुद्धि के द्वारा प्रकाशित शुभ का परित्याग एक प्रकार का आत्मविरोध या आत्मप्रवंचना है। जैनविचारकों ने वुलेस्टन की इस धारणा का समर्थन किया है। धर्म की समीक्षा में बुद्धि का महत्वपूर्ण योगदान जैनविचारणा को मान्य है। कहा गया है कि 'साधक' को प्रज्ञा के द्वारा ही धर्म की समीक्षा करनी चाहिए। विज्ञान (विवेकज्ञान) से ही धर्म के साधनों का निर्णय होता है।

(आ) नैतिक-इन्द्रियवाद और जैनदर्शन- नैतिक-इन्द्रियवाद के विचारकों के अनुसार शुभ और अशुभ का बौध बुद्धि के द्वारा नहीं, नैतिक-इन्द्रिय के द्वारा होता है। जिस प्रकार हम सुन्दर और असुन्दर में भेद करते हैं, ठीक उसी प्रकार शुभ और अशुभ में विवेक करते हैं। मनुष्य का अन्तःकरण ऐसा है, जो शुभ और अशुभ में अन्तर स्थापित कर देता है। इस सम्प्रदाय के विचारकों में शेफ्ट्सबरी, हचिसन और जॉन रस्कन प्रमुख हैं। ये सब विचारक इस बात में एकमत हैं कि शुभ और अशुभ का निर्णय आन्तरिक भावना के आधार पर करते हैं। शेफ्ट्सबरी ने तीन प्रकार की भावनाएँ मानी हैं— (1) अस्वाभाविक या असामाजिक-भावनाएँ, जिनमें राग-द्वेष जन्य वृत्तियाँ आती हैं, (2) सामाजिक भावनाएँ, जिनमें दया, परोपकार, वात्सल्य, मैत्री इत्यादि की भावना हैं और (3) आत्मभावनाएँ, जिनमें आत्मप्रेम, जीवनप्रेम इत्यादि हैं। तुलनात्मक दृष्टि से इन तीनों प्रकार की भावनाओं की तुलना जैनदर्शन के तीन उपयोगों से की जा सकती है। जैनदर्शन के अनुसार निम्न तीन उपयोग हैं— (1) अशुभोपयोग, (2) शुभोपयोग और (3) शुद्धोपयोग। अशुभोपयोग असामाजिक या

अस्वाभाविक-भावना के समकक्ष हैं। दोनों के अनुसार इसमें द्वेष आदि वृत्तियाँ होती हैं। इसी प्रकार, शुभोपयोग स्वाभाविक या सामाजिक-भावनाओं के समान हैं। दोनों ही विचारणाएँ इसमें प्रशस्त राग-भाव से युक्त लोककल्याण को स्वीकार करती हैं। आत्मभावनाओं की तुलना शुद्धोपयोग से की जा सकती है, यद्यपि इस सम्बन्ध में दोनों में अधिक निकटता नहीं है, क्योंकि शेषट्सबरी ने आत्मभावनाओं में स्वार्थ और संग्रहभावना को भी स्थान दिया है। फिर भी, किसी अर्थ में शेषट्सबरी और जैन-विचारणा में कुछ विचारसाम्य अवश्य परिलक्षित होता है।

हचिसन नैतिक-इन्द्रियवाद के दूसरे प्रमुख विचारक हैं। उनके सिद्धान्तों के प्रमुख तथ्य हैं- (1) जन्मजात-प्रत्यय, (2) परोपकार-भावना और (3) शान्त प्रेरक। इन्हें उन्होंने आत्मप्रेम, परोपकार और नैतिक-इन्द्रिय कहा है। हचिसन के अनुसार शुभ या सदगुण सुखानुभूति के पूर्ववर्ती हैं और इसी प्रकार परोपकार की भावना वैसी ही स्वाभाविक और सार्वभौमिक है, जैसे भौतिक जगत् में गुरुत्वाकर्षण का नियम। हचिसन के उपर्युक्त सिद्धान्तों की जैन-दर्शन से तुलना करते समय यह कहा जा सकता है कि दोनों के अनुसार नैतिक-प्रत्यय जन्मजात हैं, अर्जित नहीं। शुभ और अशुभ का निर्णय हमारी भावनाओं और स्वीकृतियों से नहीं होता, वरन् उनके आधार पर हमारी भावनाएँ बनती हैं। जिस प्रकार हचिसन परोपकार-भावना को स्वाभाविक मानता है, उसी प्रकार जैन-दर्शन भी उसे जीव का स्वभाव मानता है। हचिसन ने भावनाओं को दो वर्गों में बांटा है- पहली शान्त और दूसरी अशान्त। शान्त और व्यापक भावनाएँ श्रेयस्कर हैं। हचिसन के इस विचार का समर्थन न केवल जैनदर्शन वरन् अन्य भारतीयदर्शन भी करते हैं।

रस्किन के अनुसार नैतिक-इन्द्रिय रसेन्द्रिय है। रसना ही एकमात्र नैतिकता है। पहला और अन्तिम निर्णायक प्रश्न है, 'आप क्या पसन्द करते हैं? आप जो पसन्द करते हैं, मुझे बताएँ और तब मैं बता दूंगा कि आप क्या हैं।' रस्किन के अनुसार व्यक्ति की रुचि ही उसके नैतिक-जीवन का प्रतिमान अभिव्यक्त करती है। रस्किन की रसेन्द्रिय या नैतिक-इन्द्रिय की तुलना श्रद्धा से की जा सकती है। जिस प्रकार भारतीय-दर्शन में

श्रद्धा नैतिकता का प्रतिमान है। गीता में कहा गया है कि पुरुष श्रद्धामय है और उसकी जैसी श्रद्धा होती है, उसी के अनुरूप वह हो जाता है। गीता के इस कथन का रस्किन के रुचि-सिद्धान्त से बहुत कुछ साम्य है। जैन-परम्परा के सम्यग्दर्शन को रस्किन के रुचि सिद्धान्त के तुल्य माना जा सकता है, अन्तर यही है कि जैन-परम्परा सम्यग्दर्शन (भावात्मक श्रद्धा) पर और रस्किन रुचि पर बल देते हैं। फिर भी, दोनों के अनुसार वही नैतिकता का निर्णायक-प्रतिमान है, यह महत्त्व की बात है।

रसेन्द्रियवाद या रुचि-सिद्धान्त की मूलभूत कमजोरी यह है कि वह शिव और सुन्दर में अन्तर स्थापित नहीं कर पाता। जैन-विचारकों ने इस कड़िनाई को समझा था और इसीलिए उन्होंने सम्यग्दर्शन को महत्वपूर्ण मानते हुए भी उसे सम्यक्चारित्र से अलग किया। यह ठीक है कि रुचि या दृष्टि के आधार पर चारित्र का निर्माण होता है। फिर भी, दोनों ही पृथक्-पृथक् पक्ष हैं। उनको एक-दूसरे से मिलाने की गलती नहीं करनी चाहिए।

(इ) सहानुभूतिवाद और जैन-दर्शन- सहानुभूतिवाद आन्तरिक-विधानवाद का एक प्रमुख प्रकार है। इसके अनुसार अन्तर्दृष्टि या प्रज्ञा सहानुभूत्यात्मक है। सहानुभूति वह तत्त्व है, जो सदगुण का मूल्यांकन करता है और जिसके आधार पर किसी कर्म को सदगुण कहा जाता है। सहानुभूति सदगुण का आधार और स्रोत-दोनों ही है। एडमस्मिथ इस दृष्टिकोण के प्रमुख प्रतिपादक हैं। समकालीन मानवतावादी विचारक भी इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। रसल प्रभृति कुछ विचारक मानव में निहित इसी सहानुभूति के तत्त्व के आधार पर नैतिकता की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार नैतिकता ईश्वरीय-आदेश या पारलौकिक-जीवन के प्रति प्रलोभन या भय पर निर्भर नहीं है, वरन् मानव की प्रकृति में निहित सहानुभूति के तत्त्व पर निर्भर है। जैनदर्शन से इस दृष्टिकोण की तुलना करने पर हम यह पाते हैं कि जैनविचारकों ने भी मानव में निहित इस सहानुभूति के तत्त्व को स्वीकार किया है। उनके अनुसार तो सभी प्राणियों में परस्पर सहयोग की वृत्ति स्वाभाविक है, लेकिन सहानुभूति का तत्त्व प्राणी-प्रकृति का अंग होते हुए भी सभी में समान रूप से नहीं पाया जाता

है, अतः सहानुभूति के आधार पर नैतिकता को पूर्णतया निर्भर नहीं किया जा सकता है।

(ई) नैतिक अन्तरात्मवाद और जैनदर्शन-- नैतिक-अन्तरात्मवाद के प्रवर्तक जोसेफ बटलर हैं। इनके अनुसार, सदगुण वह है, जो मानव प्रकृति के अनुरूप हो और दुर्गुण वह है, जो मानवप्रकृति के विपरीत हो। दूसरे शब्दों में, सदगुण मानवप्रकृति के नियमों का अनुवर्तन है और दुर्गुण इन नियमों का उल्लंघन है। मानवप्रकृति में कर्म की संवादिता ही सदगुण है और कर्म की विसंवादिता दुर्गुण है, लेकिन बटलर इस मानवप्रकृति को मानव की यथार्थ प्रकृति नहीं मानते। यदि हम मानवप्रकृति का अर्थ मानव की यथार्थ प्रकृति करेंगे, तो वह जो करता है, उस सबको शुभ समझना होगा, अतः हमें यहाँ यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि बटलर के अनुसार मानवप्रकृति का अर्थ मानव की यथार्थ प्रकृति नहीं, वरन् आदर्श प्रकृति है। मानव की आदर्श प्रकृति के अनुरूप जो कर्म होगा, वह शुभ और उसके विपरीत जो कर्म होगा, वह अशुभ माना जाएगा। बटलर के इन दृष्टिकोण का समर्थन जैन-परम्परा भी करती है। आत्मा की जो विभाव-अवस्थाएँ हैं या जो विसंवादी-अवस्थाएँ हैं, वह अशुभ या अशुद्ध अवस्था है। जो कर्म आत्मा को स्वभावदशा की ओर ले जाते हैं, वे ही शुभ हैं, या शुद्ध या शुद्ध अवस्था है। जो कर्म आत्मा की जो स्वभाव-अवस्था या संवादी-अवस्था है, वह शुभ या शुद्ध अवस्था है। जो कर्म आत्मा को स्वभावदशा की ओर ले जाते हैं, वे शुभ हैं।

बटलर ने मानवप्रकृति के चार तत्त्व माने हैं— (1) वासना, (2) स्वप्ने, (3) परहित और (4) अन्तरात्मा। जैन-दर्शन के अनुसार मानवप्रकृति के दो ही तत्त्व माने जा सकते हैं— (1) वासना या कषायात्मा और (2) उपयोग या ज्ञानात्मा। बटलर के अनुसार, इन सबमें अन्तरात्मा ही नैतिक-जीवन का अन्तिम निर्णायक-तत्त्व है। बटलर ने इसको प्रशंसा और निन्दा करने वाली बुद्धि, नैतिक-बुद्धि, नैतिक-इन्द्रिय और ईश्वरीय-बुद्धि भी कहा है। यही हमारी अन्तरात्मा का स्थायी भाव और हृदय का प्रत्यक्षीकरण भी है। बटलर के अनुसार, अन्तरात्मा के दो पहलू हैं— (1) शुद्ध ज्ञान और (2) सर्वाधिकारिता। सर्वाधिकारी होने के कारण वह

क्रियाप्रेरक और सुधारक भी है और शुद्ध ज्ञानमय होने के कारण वह कर्मों के औचित्य और अनौचित्य का विवेक भी है और शुद्ध ज्ञानमय होने के कारण वह कर्मों के औचित्य और अनौचित्य का विवेक भी है तथा वह सत्कर्म और सुख में एवं असत्कर्म और दुःख में एक निश्चित सम्बन्ध भी देखता है ।

बटलर के उपर्युक्त दृष्टिकोण की जैन दर्शन से तुलना करने पर कहा जा सकता है कि ज्ञानमय आत्मा ही नैतिक जीवन का अन्तिम निर्णायक तत्त्व है । जैन दार्शनिकों ने इसे आवश्यक माना है कि नैतिक विवेक करते समय आत्मा को राग और द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठा हुआ होना चाहिए । राग और द्वेष से ऊपर उठी हुई आत्मा जहाँ एक ओर सन्मार्ग की प्रेरक है, वहीं यथार्थ नैतिक निर्णय करने में सक्षम भी है । राग और द्वेष की वृत्तियों से अलग हटकर आत्मा जब कोई भी विवेकपूर्ण निर्णय करता है, अथवा कर्म करता है, तो वह शुभ होता है । इसके विपरीत, कषाय या राग-द्वेष से प्रभावित होकर कोई निर्णय करता है, तो वह अशुभ होता है । जैन दार्शनिकों ने अन्तरात्मा में विवेक और पुरुषार्थ (वीर्य)- दोनों को स्वीकार किया है जो कि बटलर की शुद्ध और सर्वाधिकारिता की मान्यता के समान है । जैन दर्शन भी बटलर के समान आत्मा के ज्ञानात्मक तथा भावात्मक (दर्शन)- दोनों ही पक्ष स्वीकार करता है, जो पारिभाषिक शब्दावली में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग कहे जाते हैं ।

बटलर ने मानवप्रकृति के पूर्वोक्त चार तत्त्वों में एक आनुपूर्वी को स्वीकार किया है, जिसमें सबसे नीचे वासनाएँ हैं और सबसे ऊपर अन्तरात्मा है । जैसे पशुबल बुद्धिबल के अधीन हो जाता है, उसी प्रकार वासनाबल, स्वप्न और परहित अन्तरात्मा के अधीन हो जाते हैं । जैन परम्परा के अनुसार भी नैतिक विकास की दिशा में वासनाबल क्षीण होता जाता है और कर्मों का निर्धारण शुद्ध राग-द्वेष से रहित आत्मा के द्वारा होने लगता है । बटलर की अन्तरात्मा ईश्वरीय-बुद्धि के रूप में जैन-परम्परा की वीतराग आत्मा से तुलनीय है । इस प्रकार, बटलर के नैतिक अन्तरात्मावाद और जैन परम्परा में बहुत कुछ साम्य खोजा जा सकता है ।

फिर भी, बटलर के सिद्धान्त की मूलभूत कमजोरी यह है कि

अन्तरात्मा जब दो विपरीत आदेश देती है, तो उनके अन्तर्विरोध को दूर करना कठिन हो जाता है। किंकर्तव्यविमूढ़ता की अवस्था में बटलर की अन्तरात्मा नैतिक-समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं करती।

(उ) मनोवैज्ञानिक-अन्तरात्मवाद- मनोवैज्ञानिक-अन्तरात्मवाद के प्रवर्तक मार्टिन्स हैं। मार्टिन्स ने अपने सिद्धान्त का बहुत कुछ विकास बटलर के अन्तरात्मवाद से ही किया है, फिर भी उन्होंने उसे सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक आधारों पर स्थापित करने का प्रयास किया है। मार्टिन्स के अनुसार, अन्तरात्मा ही शुभाशुभ का निर्णायक है। वह शुभाशुभ का विधान नहीं है, वरन् उस विधान को दिखाता है, जो कर्मों को शुभाशुभ बनाता है। उसके अनुसार, अन्तरात्मा कर्मों के अच्छे-बुरे तारतम्य का मात्र द्रष्टा है। सभी कर्मों के स्रोत होते हैं और इन स्रोतों में ही उनके अच्छे-बुरे तारतम्य का एक विधान है। मार्टिन्स के अनुसार, कर्मप्रेरक दो प्रकार के हैं- (1) प्राथमिक और (2) गौण। प्राथमिक कर्मप्रेरक चार प्रकार के हैं- (1) प्राथमिक-प्रवर्तक, जिनमें क्षुधा, मैथुन एवं पाशविक-सक्रियताएँ अर्थात् आराम की प्रवृत्ति हैं, (2) प्राथमिक-विकर्षण, जिनमें द्वेष, क्रोध और भय समाहित हैं, (3) प्राथमिक-आकर्षण- यह रागभाव या आसक्ति है, इसमें वात्सल्य (पुत्रैषणा), समाजप्रेम (लोकैषणा) और करुणा या सहानुभूति के तत्त्व समाहित हैं, (4) प्राथमिक-समाजप्रेम (लोकैषणा) और करुणा या सहानुभूति के तत्त्व समाहित हैं, (4) प्राथमिक-भावनाएँ, जिनमें जिज्ञासा, विस्मय और श्रद्धा का समावेश है। ये सत्य, सुन्दर और शिव (कल्याण) की ओर प्रवृत्त करते हैं। ये ज्ञान, अनुभूति और कर्म के प्रेरक हैं। दूसरे गौण कर्मप्रेरक भी चार प्रकार के हैं- (1) गौण प्रवृत्तियाँ-जिसमें स्वादप्रियता, कामुकता, लोभ और मद समाहित हैं, (2) गौण विकर्षण-इनमें मात्सर्य, प्रतिकार और शंकाशीलता समाविष्ट हैं (3) गौण आकर्षण- इनमें स्नेह, सामाजिकता और दयाभाव का समावेश है, (4) गौण भावनाएँ- इनमें सत्याराधना, सौन्दर्योपासना और धर्मनिष्ठा समाहित हैं।

मार्टिन्स के अनुसार, नैतिक-दृष्टि से उपर्युक्त सभी कर्म-स्रोत समान नैतिक-स्तर के नहीं हैं, वरन् उनमें नैतिक स्तर की दृष्टि से एक तारतम्य है, जो निम्नतम से उच्चतम नैतिक अवस्था को अभिव्यक्त करता है।

मार्टिन्यू के अनुसार वह तारतम्य निम्न है-

1. गौण विकर्षण- अविश्वास, द्वेष, शंकाशीलता ।
2. गौण जैविक-प्रवृत्तियाँ-भोजन तथा मैथुन की पशु-प्रवृत्तियाँ ।
3. प्राथमिक जैविक-प्रवृत्तियाँ-भोजन तथा मैथुन की पशु-प्रवृत्तियाँ ।
4. प्राथमिक पाशविक-प्रवृत्तियाँ-अनियन्त्रित सक्रियता ।
5. लाभ का लोभ-पशु-प्रवृत्ति की उपज ।
6. गौण आकर्षण-सहानुभूतिमूलक संवेदनाओं की भावनात्मक वृत्ति ।
7. प्राथमिक विकर्षण-घृणा, भय, क्रोध ।
8. गौण पाशविक-प्रवृत्तियाँ-सत्ता मोह अथवा महत्वाकांक्षा ।
9. गौण अभिभावनाएँ-संस्कृति, प्रेम ।
10. प्राथमिक भावनाएँ-आश्चर्य तथा प्रशंसा ।
11. प्राथमिक आकर्षण-वात्सल्य, सामाजिक-मैत्री, उदारता, कृतज्ञता ।
12. दया का प्राथमिक आकर्षण ।
13. श्रद्धा की प्राथमिक भावना ।

इस प्रकार, मार्टिन्यू के अनुसार कर्म-स्रोतों के इस तारतम्य में श्रद्धा सर्वोच्च नैतिक गुण है और गौण-विकर्षण, अर्थात् अविश्वास, मात्सर्य और सन्देहशीलता सबसे निम्नतम दुर्गुण हैं। श्रद्धा मात्र गुण है और मात्सर्य, द्वेष आदि मात्र दुर्गुण हैं। शेष सभी कर्मस्रोत इन दोनों के बीच में आते हैं और उनमें गुण और अवगुण के विभिन्न प्रकार के समन्वय हैं। नैतिक-दृष्टि से वही कर्म शुभ होगा, जो उच्च कर्मप्ररकों से उत्पन्न होगा। जो कर्म जितने अधिक निम्न कर्मस्रोत से उत्पन्न होगा, वह उतना ही अधिक अनैतिक होगा। संक्षेप में, मार्टिन्यू के यही नैतिक-विचार हैं।

मार्टिन्यू के नैतिक-दर्शन की तुलना जैन-परम्परा से की जा सकती है। जैन-परम्परा के अनुसार कर्मप्रेरक ये हैं- (1) राग, (2) द्वेष, (3) क्रोध, (4) मान, (5) माया, (6) लोभ, (7) भय, (8) परिग्रह, (9) मैथुन, (10) आहार, (11) लोक, (12) धर्म और (13) ओघ। इनमें राग और द्वेष दो कर्मबीज हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ-ये चार कषाय हैं तथा शेष संज्ञाएँ हैं। यदि हम मार्टिन्यू के उपर्युक्त वर्गीकरण से तुलना करें, तो इनमें से अधिकांश वृत्तियाँ उसमें मौजूद हैं। यही नहीं, यदि हम चाहें तो बन्धन की तीव्रता

की दृष्टि से इनका एक क्रम भी तैयार कर सकते हैं, जिसमें द्वेष सबसे निम्न और धर्म सबसे उच्च होगा और ऐसी स्थिति में हम यह भी पाएंगे कि जैन-दर्शन का वह वर्गीकरण मार्टिन्यू के उपर्युक्त तारतम्य से भी काफी समानता रखेगा। क्रम की दृष्टि से इन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है— (1) द्वेष, (2) राग, (3) लोभ, (4) मान, (5) माया-कपटवृत्ति (6) क्रोध (7) ओघ (8) भय, (9) परिग्रह, (10) मैथुन, (11) आहार, (12) लोक- (सामाजिकता) और (13) धर्म। कुछ मतभेदों को छोड़कर यह क्रम-व्यवस्था मार्टिन्यू के कर्मस्रोत के नैतिक-तारतम्य से काफी निकट है।

एक अन्य अपेक्षा से भी मार्टिन्यू के कर्मस्रोत के नैतिक तारतम्य की तुलना जैन-आचारदर्शन से की जा सकती है। यदि हम कर्मप्रेरकों के रूप में मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तथा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह—इन चार संज्ञाओं को स्वीकार करें, तो भी बन्धन की तीव्रता की दृष्टि से एक क्रम तैयार किया जा सकता है, जो मार्टिन्यू के पूर्वोक्त तारतम्य के काफी निकट होगा। वह क्रम इस प्रकार होगा—

1. मिथ्यादर्शन—सन्देहशीलता, आकांक्षा एवं अश्रद्धा।
2. मिथ्याज्ञान—नैतिक-विवेक एवं बुद्धि का अभाव।
3. मिथ्याचारित्र—क्रोध, मान, माया और लोभ के कर्मप्रेरक।
4. भयवृत्ति—भय से उत्पन्न कर्म।
5. परिग्रह—संचय की वृत्ति एवं आसक्तिभाव।
6. मैथुन—ऐन्द्रिक-सुखों की इच्छा एवं यौनप्रवृत्तियाँ।
7. आहार—शरीर-रक्षा एवं क्षुधानिवृत्ति की क्रियाएँ।
8. सम्यक्चारित्र—सदाचरण।
9. सम्यग्ज्ञान—नैतिक-विवेक।
10. सम्यग्दर्शन—श्रद्धा एवं आत्मविश्वास।

यह क्रम अपने पूर्णतावादी दृष्टिकोण के आधार पर उन दोषों से ग्रसित भी नहीं होता, जो दोष मार्टिन्यू के नैतिक-दर्शन में हैं।

आन्तरिक-विधानवाद के विरोध में साध्यवादी और विकासवादी—सिद्धान्त

आते हैं। अगले-पृष्ठों में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि उनका जैन दर्शन के साथ कितना साम्य है।

प्रयोजनात्मक अथवा साध्यवादी-सिद्धान्त

नैतिक-प्रतिमान के दूसरे प्रकार के सिद्धान्तों को प्रयोजनात्मक या साध्यवादी सिद्धान्त कहते हैं। इन सिद्धान्तों के अनुसार किसी कर्म की नैतिकता का निर्णय उसके साध्य, प्रयोजन, परिणाम, आदर्श, परमशुभ अथवा मूल्य के आधार पर होना चाहिए, लेकिन प्रयोजनवादी, विचारक कर्म के वास्तविक लक्ष्य के विषय में एकमत नहीं हैं। इन विचारकों ने विभिन्न साध्य माने हैं और इस कारण साध्यवादियों के भी कई सम्प्रदाय हैं, उनमें (1) सुखवाद, (2) विकासवाद, (3) बुद्धिपरतावाद, (4) पूर्णतावाद एवं (5) मूल्यवाद प्रमुख हैं।

सुखवाद

सुखवाद के अनुसार कर्म का साध्य सुख की प्राप्ति अथवा तृप्ति है। वही कर्म शुभ है, जो हमारी इन्द्रियपरता (वासनाओं) को सन्तुष्ट करता है और वह कर्म अशुभ है, जिससे वासनाओं की पूर्ति अथवा सुख की प्राप्ति नहीं होती। सुखवादियों के भी अनेक उपसम्प्रदाय हैं। उनमें मनोवैज्ञानिक-सुखवाद और नैतिक-सुखवाद प्रमुख हैं। नैतिक सुखवादी-परम्परा में भी अनेक उपसम्प्रदाय हैं। सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक सुखवाद और जैन आचारदर्शन के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में विचार करना उचित होगा।

मनोवैज्ञानिक-सुखवाद और जैन आचारदर्शन मानता है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद एक तथ्यपरक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि व्यक्ति सदैव सुख के लिए प्रयास करता है। जैन-आचारदर्शन भी यह मानता है कि समस्त प्राणीवर्ग स्वभाव से ही सुखामिलाषी है। दशवैकालिकसूत्र स्पष्ट रूप से प्राणीवर्ग को परम (सुख) धर्मी मानता है। टीकाकारों ने परम शब्द का अर्थ सुख करते हुए इस प्रकार व्याख्या की है, 'पृथ्वी आदि स्थावर प्राणी और द्वीन्द्रिय आदि त्रस प्राणी, इस प्रकार सर्व प्राणी परम अर्थात् सुखधर्मी हैं, सुखामिलाषी हैं। सुख की अभिलाषा करना प्राणियों का नैसर्गिक स्वभाव है। आचारंगसूत्र में भी कहा है कि 'सभी

प्राणियों को सुख प्रिय है, अनुकूल है और दुःख अप्रिय है और प्रतिकूल है।

इस प्रकार, जैन-आचारदर्शन में सुख की अभिलाषा को प्राणियों की प्रकृति का स्वाभाविक-लक्षण मानकर मनोवैज्ञानिक सुखवाद की धारणा को स्थान दिया गया है। इतना ही नहीं, जैन-विचारकों ने इस मनोवैज्ञानिक-सुखवादी धारणा का अपनी नैतिक-मान्यताओं के संस्थापन में भी उपयोग किया है। सूत्रकृतांग में प्राणियों की सुखाकांक्षा और दुःख से रक्षण की मनोवैज्ञानिक प्रकृति का नैतिक मानक के रूप में सुन्दर वर्णन है। सूत्रकृतांग का वह कथाप्रसंग इस प्रकार है, 'क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी-ऐसे विभिन्न वादी, जिनकी संख्या 363 कही जाती है, (जो) सब लोगों को परिनिर्वाण और मोक्ष का उपदेश देते हैं। वे अपनी-अपनी प्रज्ञा, छन्द, शील, दृष्टि, रुचि, प्रवृत्ति और संकल्प के अनुसार अलग-अलग धर्ममार्ग स्थापित करके उनका प्रचार करते हैं। एक समय ये सब वादी एक बड़ा घेरा बनाकर एक स्थान पर बैठे थे। उस समय एक मनुष्य जलते हुए अंगारों से भरी हुई एक कड़ाही लोहे की सड़ासी से पकड़कर, जहाँ वे सब बैठे थे, लाया और कहने लगा, 'हे मतवादियों, तुम सब अपने-अपने धर्म के प्रतिपादक हो और परिनिर्वाण और मोक्ष का उपदेश देते हो, तुम इस जलते हुए अंगारों से भरी हुई कड़ाही को एक मुहूर्त तक खुले हुए हाथ में पकड़े रहो।' ऐसा कहकर वह मनुष्य वह कड़ाही प्रत्येक के हाथ में रखने गया, पर वे अपने-अपने हाथ पीछे हटाने लगे। तब उस मनुष्य ने उनसे पूछा, 'हे मतवादियों, तुम अपने हाथ पीछे क्यों हटाते हो? हाथ न जले, इसीलिए? और जले, तो क्या हो? दुःख? दुःख न हो, इसीलिए अपने हाथ पीछे हटाते हो, यही बात है न?' तो इसी माप से दूसरों के सम्बन्ध में भी विचार करना, यही धर्मविचार है या नहीं? बस, तब तो नापने का गज-प्रमाण और धर्मविचार मिल गए।

यह प्रसंग जैन नैतिकता की मनोवैज्ञानिक सुखवादी-धारणा का एक अच्छा चित्रण है, जिसमें न केवल नैतिकता का मनोवैज्ञानिक-पक्ष प्रस्तुत है, वरन् उसे नैतिक-सिद्धान्तों की स्थापना का आधार भी बनाया गया है। फिर भी, तुलनात्मक-दृष्टि से इस मनोवैज्ञानिक-सुखवाद के दोनों पक्षों

पर विचार करना आवश्यक है। निषेधात्मक-दृष्टि से यह प्राणियों की दुःख-निवारण की स्वाभाविक-प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करता है, जबकि विधायक-दृष्टि से प्राणियों की सुख प्राप्त करने की स्वाभाविक अभिरुचि की ओर संकेत करता है।

अन्य भारतीय दर्शनों में मनोवैज्ञानिक सुखवाद- न केवल जैन-दर्शन, वरन् अन्य भारतीय-दर्शनों ने भी सुखवाद का समर्थन किया है। भौतिक-सुखवाद को मानने वाले चार्वाकों का सिद्धान्त तो सर्वप्रसिद्ध ही है। उनके अनुसार, इन्द्रियों की वासनाओं को सन्तुष्ट करते हुए सम्पूर्ण जीवन में सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। चार्वाक के अतिरिक्त अन्य दर्शनकारों ने भी सुखवाद का समर्थन किया है। महाभारत में कहा गया है कि सभी सुख चाहते हैं और दुःख से उद्विग्न होते हैं। छान्दोग्य-उपनिषद् में भी इसी सुखवादी दृष्टिकोण का समर्थन है। उसमें कहा गया है कि जब मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, तभी वह कर्म करता है। बिना सुख मिले कोई कर्म नहीं करता। अतः, सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करना चाहिए। चाणक्य ने भी मनुष्य को स्वार्थी माना है और उसके स्वार्थ को नियन्त्रित करने के लिए राज्य-सत्ता को अनिवार्य माना है। उसके अनुसार, मनुष्य स्वभावतः सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। उद्योतकर ने मानव-मनोविज्ञान के आधार पर सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति को मानव-जीवन का साध्य बताया है। भारतीय-परम्परा में सुखवाद की धारणा की अभिव्यक्ति प्राचीन समय से ही रही है, लेकिन चार्वाक-दर्शन को छोड़कर अन्य भारतीय-दर्शनों ने वैयक्तिक-सुख के स्थान पर सदैव सार्वजनिक-सुख की ही कामना की है। भारतीय साधक प्रतिदिन यह प्रार्थना करता है कि-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे मद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

(यजुर्वेद, शान्तिपाठ)

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-सुखवाद से तुलना करने पर हमें इसकी एक विशिष्टता का परिचय मिलता है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-सुखवाद अपने सिद्धान्त का अनुसरण करना अनिवार्य मानता है, लेकिन सुख के सम्पादन

की इस स्पर्धा में प्रत्येक प्राणी का सुख दूसरे प्राणियों के सुखों के नाश पर निर्भर हो, तो क्या करना नैतिक होगा? इस प्रश्न का उत्तर वहाँ नहीं मिलता। सुखों का अनुसरण जितना स्वाभाविक है, उतना ही स्वाभाविक यह भी है कि पाश्चात्य-परम्परा में जिन भौतिक सुखों के अनुकरण का समर्थन किया गया है, उनको लेकर प्राणियों के हितों में ही परस्पर संघर्ष होता है। यदि मेरा सुख किसी दूसरे व्यक्ति के सुख के नाश पर निर्भर हो, तो क्या मेरे लिए उस सुख का अनुकरण उचित या नैतिक होगा? यदि सभी अपने स्वार्थ की सिद्धि करने में लग जाएं, तो न तो समाज में सुख और शान्ति बनी रहेगी और न व्यक्ति ही सुख प्राप्त कर पाएगा, क्योंकि दूसरे व्यक्ति भी अपना सुख भोगते हुए उसके सुख में बाधा डालेंगे।

जैन-नैतिकता सुख के अनुसरण की मान्यता को स्वीकार करते हुए व्यक्ति को यह तो अधिकार प्रदान करती है कि वह स्वयं के सुख का अनुसरण करे, लेकिन उसे अपने वैयक्तिक-सुख की उपलब्धि के प्रयास में दूसरे के सुखों एवं हितों का हनन करने का अधिकार नहीं है। यदि तुम्हारे सुख के अनुसरण के प्रयास में दूसरे के सुख का हनन अनिवार्य है, तो तुम्हें ऐसे सुख का अनुसरण नहीं करना चाहिए, किन्तु इस आधार पर कोई यह आक्षेप कर सकता है कि ऐसी अवस्था में यह अपनी सुखवादी-धारणा से दूर हो जाता है। जैन नैतिकता तो सुखों के आधिभौतिक और आध्यात्मिक-स्वरूप को भी स्वीकार करती है। पाश्चात्य-धारणा की मूलभूत भ्रान्ति यही है कि वह सुखों के विभिन्न स्तरों पर बल नहीं देती है और सुखों के भौतिक-स्वरूप में ऊपर उठकर उनके आध्यात्मिक-स्वरूप की ओर नहीं बढ़ती है। सुखों में पारस्परिक-संघर्ष तो उनके भौतिक स्वरूप तक ही सीमित है।

जैन-आचारदर्शन और नैतिक-सुखवाद

नैतिक सुखवाद की विचारधारा यह मानकर चलती है कि सुख का अनुसरण करना चाहिए या सुख ही वांछनीय है। नैतिक सुखवाद के विचारकों में मिल प्रभृति कुछ विचारक नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक-सुखवाद पर आधारित करते हैं। मिल का कहना है कि कोई वस्तु या विषय काम्य है, इसका प्रमाण यह है कि श्लोग वस्तुतः

उसकी कामना करते हैं। सामान्य सुख काम्य है, इसके लिए इसे छोड़कर कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता कि प्रत्येक मनुष्य सुख की कामना करता है, लेकिन सुखवाद को मनोवैज्ञानिक आधार पर खड़ा करने का मिल का यह प्रयास तार्किक दृष्टि से दूषित ही है। यदि सभी मनुष्य स्वभावतः सुख की कामना करते हैं, तो फिर 'सुख की कामना करनी चाहिए'— इस कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता, जबकि नैतिक आदेश के लिए 'चाहिए'— आवश्यक है, लेकिन मनोवैज्ञानिक—सुखवाद इस 'चाहिए' के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ता। इसी कारण, सिजविक तथा समकालीन विचारकों में ड्यरेंटिइक आदि ने सुखवाद को विशुद्ध नैतिक—आधार पर खड़ा किया है। फिर भी, उपर्युक्त सभी विचारकों के लिए सुख काम्य है और उनकी दृष्टि में नैतिक—आदेश है— 'सुख के लिए प्रयत्न करना चाहिए।'

नैतिक सुखवादी—विचारधारा की दूसरी मान्यता यह थी कि वस्तुतः जो सुख काम्य है, वह वैयक्तिक नहीं, वरन् सामान्य सुख है। यह धारणा उपयोगितावाद के नाम से भी जानी जाती है। उपयोगितावाद की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. अधिक से अधिक सुख,
2. उच्चतमसुख (एन्द्रिक—सुखों की अपेक्षा मानसिक—सुख उच्च कोटि का माना गया है)
3. अधिक से अधिक संख्या का अधिक से अधिक सुख
4. बहुसंख्यकों का सुख
5. सार्वभौम एवं सामान्य सुख
6. सामाजिक सुख

इन आधारों पर उपयोगितावाद के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

1. सुख—प्राप्ति और दुःख—मुक्ति, केवल यह दो ही स्वतःसाध्य के रूप में काम्य हैं। अन्य सभी वस्तुएँ केवल इसीलिए काम्य हैं कि वे या तो सुखपूर्ण हैं या सुखवर्द्धक हैं, अथवा दुःखों का नाश करने वाली हैं।
2. जिस अनुपात में कोई कर्म सुख या दुःख देता है, उसी अनुपात में वह शुभ या अशुभ होता है।

3. प्रत्येक व्यक्ति का सुख समान है। किसी एक व्यक्ति को अपना सुख जितना काम्य है, उतना ही दूसरे व्यक्ति का, अतः सुख की मात्रा को बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए, चाहे वह किसी का भी सुख हो।

4. सर्वाधिक सुख का अर्थ है— सुख की मात्रा में अधिक से अधिक संभाव्य वृद्धि। इसका अर्थ यह भी है कि सुख और दुःख को मापा जा सकता है।

5. परोपकारी होने का अर्थ है— सामाजिक सुख या लोकोपयोगिता में वृद्धि करना। इसी प्रकार, स्वार्थी होने का मतलब है— सामाजिक—सुख में कमी करना।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि नैतिक सुखवाद की धारणा सुख को काम्य मानते हुए भी लोकहित या लोकमंगल को स्थान देती है।

जैन आचारदर्शन में नैतिक सुखवाद के दोनों पक्ष, अर्थात् सुखों की काम्यता एवं उपयोगिता (लोकहित) समाहित हैं, जिन पर हम यहाँ विचार करेंगे।

जैन-आचारदर्शन में नैतिक-सुखवाद के समर्थक कुछ तथ्य मिलते हैं। महावीर ने कई बार यह कहा कि जिससे सुख हो, वह करो। इस कथन के आधार पर यह फलित निकाला जा सकता है कि महावीर नैतिक सुखवाद के समर्थक थे। यद्यपि हमें यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि सुख शब्द का जो अर्थ महावीर की दृष्टि में था, वह वर्तमान सुख शब्द की व्याख्या से भिन्न था।

एक अन्य दृष्टि से भी जैन नैतिकता को सुखवादी कहा जा सकता है, क्योंकि जैन नैतिक आदर्श मोक्ष आत्मा की अनन्त सौख्य की अवस्था है इस प्रकार जैन नैतिकता सुख के अनुसरण करने का आदेश देती है। इस अर्थ में भी वह सुखवादी है, यद्यपि यहाँ पर उसका सुख की उपलब्धि का नैतिक आदर्श भौतिक सुख की उपलब्धि का आदर्श नहीं है, वरन् वह तो परमानन्द की अवस्था की उपलब्धि का आदर्श है।

सामान्य अर्थ में सुख-दुःख सापेक्ष शब्द हैं, एक विकल्पात्मक स्थिति है। दुःख के विपरीत जो है, उसकी अनुभूति है, वह सुख है, या वहाँ सुख दुःख का अभाव है। जैन दर्शन 'निर्वाण' में जिस अनन्त सौख्य की कल्पना

करता है, वह निर्विकल्प सुख है। वस्तुतः जैन दृष्टि में निर्विकल्प सुख ही वास्तविक सुख है।

सुखवाद के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि जैन विचारकों की दृष्टि में 'सुख' शब्द का क्या अर्थ अभिप्रेत है। कठिनाई यह है कि जैनागमों की भाषा प्राकृत है। प्राकृत 'सुह' शब्द के संस्कृत भाषा में 'सुख' और 'शुभ'—ऐसे दो रूप बनते हैं। दूसरे, जैनागमों में विभिन्न स्थलों पर 'सुह' भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ प्रसंग के अनुकूल अर्थ निश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

जैनाचार्यों ने 'सुख' दस प्रकार के माने हैं— (1) आरोग्यसुख, (2) दीर्घायुष्यसुख, (3) सम्पत्तिसुख, (4) कामसुख, (5) भोगसुख, (6) सन्तोषसुख, (7) अस्तित्वसुख, (8) शुभभोगसुख, (9) निष्क्रमणसुख और (10) अनाबाधसुख।

सुख के इस वर्गीकरण को जैन दृष्टि से निम्नस्तरीय और उच्चस्तरीय सुखों के सापेक्ष आधार पर प्रस्तुत किया जाए, जो उसका स्वरूप निम्न होगा— (1) सम्पत्तिसुख, (2) कामसुख, (3) भोगसुख, (4) शुभभोगसुख, (5) आरोग्यसुख, (6) दीर्घायुष्यसुख, (7) सन्तोषसुख, (8) निष्क्रमणसुख, (9) अस्तित्वसुख और (10) अनाबाधसुख।

सम्पत्ति या अर्थ गार्हस्थिक—जीवन के लिए आवश्यक है और सांसारिक—सुखों के लिए कारणभूत होने से उसे 'सुख' कहा गया है। भारतीय—विचारणा में चार पुरुषार्थों में अर्थ को एक पुरुषार्थ मानकर नैतिक दृष्टि से उसका महत्व अवश्य स्वीकार किया गया है, लेकिन सम्पत्ति अपने में साध्य नहीं है, वह तो मात्र साधन है, इसीलिए इसे नैतिकता का साध्य नहीं माना जा सकता। यद्यपि मम्मनसेठ के समान कुछ लोग होते हैं, जिनके लिए धन या अर्थ की साध्य बन जाता है, लेकिन जैन—विचारणा में अर्थ या सम्पत्ति को सुख मानकर उसके अपहार का निषेध अवश्य किया गया है, तथापि जैन दर्शन यह तो स्वीकार करता है कि सुख का चाहे निम्नस्तरीय ही रूप क्यों न हो, स्वाभाविक रूप से प्राणी के जीवन का साध्य होता है, लेकिन नैतिकता इस बात में नहीं है कि उस निम्नस्तरीय सुख के अनुसरण में उच्चस्तरीय सुख का त्याग कर दिया जाए। साम्पत्तिक—सुख का त्याग कामसुख एवं भोगसुख के लिए करना

चाहिए, क्योंकि अर्थ काम और भोग का साधन है। इसी प्रकार, काम और भोग का परित्याग शुभभोग के लिए करना चाहिए। यहाँ पर जैन दार्शनिक कामसुख और भोगसुख तथा शुभभोगसुख में अन्तर करते हैं। कामसुख और भोगसुख क्रमशः वासनात्मक और इन्द्रियसुखों के प्रतीक हैं और शुभभोग मानसिक-सुखों का प्रतीक है। जैन विचारकों के मत में इन्द्रियसुखों की अपेक्षा मानसिक-सुख श्रेष्ठ है, अतः मानसिक-सुख या बौद्धिक-सुख के अनुसरण के लिए इन्द्रियसुखों का परित्याग आवश्यक है। एक दूसरी दृष्टि से शुभ शब्द का अर्थ 'कल्याणकारी' करने पर कामसुख और भोगसुख को वैयक्तिक और शुभभोग को सामाजिक या लोक कल्याणकारी कार्यों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस स्थिति में जैन विचारणा के अनुसार वैयक्तिक सुखों का परित्याग समाज के कल्याण के लिए किया जाना चाहिए, यही सिद्ध होता है। वैयक्तिक सुखभोग का लोककल्याण के हेतु परित्याग किया जाना चाहिए यह मानकर जैन-विचारणा अपयोगितावादी दृष्टिकोण के निकट आ जाती है। लेकिन बौद्धिक सुख और लोक कल्याणकारी कार्यों के सम्पादन में रहा हुआ सुख भी सर्वोपरि नहीं रहता, जबकि आरोग्य (स्वास्थ्य) एवं जीवन का प्रश्न उपस्थित हो जाता है, यद्यपि बौद्धिक-सुख अनुसरणीय है, तथापि स्वास्थ्य और जीवन की सुरक्षा के निमित्त उनका भी परित्याग आवश्यक है।

काम-भोग, बौद्धिक-सुख और स्वास्थ्य एवं जीवन सम्बन्धी सुखों की आकांक्षाएँ अपने में साध्य नहीं हैं। आकांक्षाएँ सन्तोष के लिए होती हैं, अतः सन्तोषजनित सुख इन सब आकांक्षाजनित सुखों से श्रेष्ठ है, क्योंकि जिन सुखों के मूल में आकांक्षा या इच्छा होती है, वे सुख दुःखप्रत्युत्पन्न हैं। आकांक्षा या इच्छा एक मानसिक तनाव है और सभी तनाव दुःखद होते हैं, अतः दुःखप्रत्युत्पन्न सुख सापेक्ष रूप में सुख होते हुए भी निम्नस्तरीय सुख ही हैं, लेकिन सन्तोषवृत्ति का सुख ऐसा है, जिसके कारण इच्छा या तनाव समाप्त हो जाता है। उसका अन्त सुख-रूप ही है, अतः उसके लिए इन सभी प्रकार के सुखों का परित्याग किया जा सकता है, लेकिन सन्तोष-सुख भी अपने में साध्य नहीं है, सन्तोष से बड़ा सुख निष्क्रमण (त्याग) का है। सन्तोष में इच्छा का अभाव नहीं है, लेकिन निष्क्रमण में इच्छा, ममत्व या

आसक्ति का अभाव है। सन्तोष और इच्छा के अभाव की पूर्णता आसक्ति के अभाव में ही होती है। सन्तोष किया जाता है, लेकिन अनासक्ति होती है। सन्तोष प्रयासजन्य है, अनासक्ति स्वभावजन्य है। अतः एक सन्तोषी व्यक्ति की अपेक्षा भी अनासक्त वीतराग पुरुष का सुख कहीं अधिक होता है। कहा भी गया है कि न तो अपार सम्पत्तिशाली पुरुष ही सुखी है, न अधिकार-सम्पन्न सेनापति ही; पृथ्वी का अधिपति राजा एवं स्वर्ग के निवासी देव भी एकान्त रूप से सुखी नहीं हैं; जगत् में यदि कोई एकान्त रूप से सुखी है, तो वह है निस्पृह, वीतराग साधु। चक्रवर्ती और देवराज इन्द्र के सुखों की अपेक्षा भी, लोक- व्यापार से निवृत्त निस्पृह श्रमण अधिक सुखी है।

स्वभाविक तौर पर यह प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों कहा गया है कि निस्पृह वीतराग साधु ही सर्वाधिक सुखी है? उसका सुख ही क्यों उच्च कोटि का सुख है? जैनाचार्यों ने उक्त प्रश्न का उत्तर निम्न शब्दों में दिया है, निस्पृहता के अतिरिक्त शेष सब सुख दुःख के प्रतिकार के निमित्त होते हैं, मात्र सुख का अभिमान उत्पन्न करते हैं, वे वास्तविक सुख नहीं कहे जा सकते। जो सुख दुःख के अस्थायी प्रतिकार हैं, वे मात्र सुखाभास हैं; वास्तविक सुख नहीं हैं। वैषयिक-सुखों की तुलना खाज के खुजाने से उत्पन्न सुख से की जाती है। जैसे खाज खुजाने से उत्पन्न सुख का आदि और अन्त-दोनों दुःखपूर्ण हैं, वैसे ही वैषयिक-सुखों का आदि और अन्त-दोनों ही दुःखपूर्ण हैं, अतः वे वास्तविक सुख नहीं हो सकते।

जैन-विचारणा के अनुसार निष्क्रमण-अवस्था में व्यक्ति सब कुछ त्याग देता है, लेकिन त्याग उसी का किया जा सकता है, जो 'पर' है, 'स्व' का त्याग नहीं किया जा सकता, अतः सब-कुछ त्याग करने के पश्चात् जो शेष रहता है, वह है उसका परिशुद्ध 'स्व'। वही अपना है। पाश्चात्य-विचारक मैकेंजी भी कहते हैं कि शुद्ध नैतिक-दृष्टिकोण से किसी भी व्यक्ति का किसी भी सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है, सिवाय उसके, जिसने उसे अपने अस्तित्व का अंग बना लिया है। जैन-विचारक यहाँ यह कहना चाहेंगे कि वस्तुतः किसी भी बाह्य सत्ता को अपना अंग बनाया ही नहीं जा सकता। अपने अस्तित्व को छोड़कर शेष सब बाह्य हैं।

जर्मन विचारक जी. सीमेल कहते हैं, 'शुद्ध अर्थ में अपने अस्तित्व के अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है,' अतः जो अपना नहीं है, उसे छोड़ देना, उससे निवृत्त होना निष्क्रमण—सुख और जो 'स्व' है, उसे पा लेना अस्तित्व—सुख है। इसे हम शुद्धात्मदशा कह सकते हैं, जिसमें आत्मा विभावदशा से स्वभावदशा में आ जाती है और आत्मा के निजगुण प्रकट हो जाते हैं। यही शुद्ध आत्मदशा अस्तित्वसुख है। वस्तुतः, निष्क्रमणसुख और अस्तित्वसुख एक ही अवस्था के दो पहलू हैं— पहला निषेधात्मक पहलू है, दूसरा भावात्मक पहलू। जो स्वभाव नहीं है, उसे छोड़ने से जो सुख होता है, वह निष्क्रमणसुख है और जो 'स्व' है, उसके 'पर' के अभाव में शुद्ध रूप में रहने से जो सुख मिलता है, वह अस्तित्वसुख है। 'पर' भाव को छोड़ना निष्क्रमण सुख है और 'स्व' स्वभाव में रमण करना अस्तित्वसुख है। निष्क्रमण, निस्पृहता, या वीतरागता या अनासक्ति के द्वारा 'पर' भाव को छोड़ने और 'स्व' स्वभाव में रमण करने का जो सुख है, उसे जैन-दर्शन के अनुसार उच्चतम नैतिक या चारित्रिक—सुख कहा जा सकता है। यद्यपि यह उच्चतम नैतिक सुख है, तथापि यह भी साध्य नहीं है, साधन ही है। नैतिक जीवन स्वयं एक साधन है। नैतिक जीवन का साध्य है—अनाबाध सुख। यही सर्वोच्च सुख है, यही नैतिकता का आदर्श है। अनाबाध सुख वास्तविक पूर्णता है, मुक्ति है। जिसमें जन्म, जरा एवं मरण आदि समस्त बाधाओं को अभाव हो, जहाँ समस्त आत्मगुण अनाबाध रूप से प्रकट हों, वही अनाबाध सुख है।

यदि हम जैन नैतिकता को किसी विशेष अर्थ में सुखवाद के नाम से पुकारना उचित समझें, तो उसके नैतिक—आचरण का चरमादर्श इस अनाबाध सुख की उपलब्धि ही है, यह मानना होगा। अनाबाध सुख वस्तुतः आध्यात्मिक—आनन्द की वह अवस्था है, जिसमें हम शुद्ध एवं पूर्ण आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करते हैं। दुःख का कारण तनाव है और तनाव का कारण राग—द्वेष रूप तनाव को समाप्त कर देता है और अर्हत् या वीतराग—अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तो उसे इस वास्तविक सुख का अनन्तवाँ भाग भी नहीं होते, अर्थात् वीतराग के सुख की अपेक्षा लौकिक—सुख न कुछ के बराबर है।

‘सुखवाद के अनुसार भी सुख मन या चित्त की शान्त भावना है। यह जितनी प्रगाढ़, चिरकालीन तथा निरन्तर हो, उतना ही सुख अधिक होता है। वैराग्य (वीतराग-दशा) मनुष्य की ऐसी ही प्रगाढ़, चिरकालीन और निरन्तर शान्तवृत्ति है। यह वृत्ति कर्म करने से नहीं, किन्तु कर्म का परित्याग करके एकान्त में चित्त को एकाग्र करने से आती है, अतएव सुखवाद की तार्किक पराकाष्ठा यह है कि वैराग्य (वीतरागदशा) ही एकमात्र श्रेय है।

महाभारत भी वासनामूलक एवं ऐन्द्रिक-सुखों को, जो दुःखप्रसूत हैं या जिनका अन्त दुःख में होता है, त्याज्य ठहराता है। सभी (ऐन्द्रिक या वासनात्मक) सुख या तो दुःखान्त होते हैं, या दुःख से उत्पन्न होते हैं, अतः जिसे शाश्वत सुख की अपेक्षा है, उसे आदि और अन्त में दुःखरूप इन सुखों का त्याग कर देना चाहिए। यही नहीं, महर्षि वेदव्यास कहते हैं कि ‘बिना त्याग किए सुख नहीं मिलता, बिना त्याग किए परमतत्त्व की उपलब्धि भी होती, बिना त्याग के अभय की प्राप्ति भी नहीं होती, अतः सब कुछ त्याग करके सुखी हो जाओ।

जैनदर्शन की भाँति महाभारत में भी लगभग वैसे ही शब्दों में कहा गया है कि वासनाओं की पूर्ति से होने वाले कामसुख, या भौतिकसुख, या दिव्य लोगों के महान् सुख भी वीततृष्ण व्यक्ति के सुखों की सोलहवीं कहला के बराबर भी नहीं हैं। जैन विचारणा के सुख के पूर्ण या अनाबाध स्वरूप को ही छान्दोग्योपनिषद् में ‘भूमा’ कहा गया है। ऋषि कहता है कि जो भूमा या अनन्त है, वहीं सुख है, अल्प या अनित्य में सुख नहीं है। अनन्तता, पूर्णता या शाश्वतता ही सुख है, अतः उसी की जिज्ञासा करनी चाहिए।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि न केवल जैन परम्परा में, वरन् बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में भी सुख को अपने विशिष्ट अर्थ में नैतिक जीवन का साध्य माना गया है, अतः कहा जा सकता है कि जैन विचारणा और सामान्य रूप से अन्य सभी भारतीय विचारणाओं में नैतिक साध्य के रूप में सुख को स्वीकार किया गया है और उसे शुभत्व का प्रमाणक भी माना गया है, फिर भी यह स्मरण रखने की बात है कि भारतीय-चिन्तन में सुख को ही एकमात्र नैतिक-जीवन का साध्य नहीं कहा गया है। सुख हमारी

तात्त्विक प्रकृति के अंग के रूप में साध्य अवश्य हैं, लेकिन इसके साथ ही हमारी सात्त्विक प्रकृति के अन्य पक्ष भी समान रूप से नैतिक-साध्य बनने की अपेक्षा रखते हैं। सुखवाद चेतना के मात्र अनुभूत्यात्मक पक्ष को स्वीकार करता है और उसके बौद्धिक पक्ष की अवहेलना करता है। यही उसका एकांगीपन है।

जैन-दार्शनिक सुखवाद को स्वीकार करते हुए भी चैतना के बौद्धिक एवं ज्ञानात्मक पक्ष की अवहेलना नहीं करते और इस रूप में वे सुखवादी विचारणा की तत्त्व चर्चा करते हुए भी आलोचना के पात्र नहीं बनते हैं।

अरस्तू का मात्रा का मानक और जैन दर्शन- पाश्चात्य विचारकों में अरस्तू का नाम अग्रगण्य है। अरस्तू नैतिक दर्शन में शुभ का प्रतिमान 'स्वर्णिम माध्य' माना गया है। अरस्तू के अनुसार प्रत्येक गुण अपनी मध्यावस्था में ही नैतिक शुभ होता है। उसने सदगुण और दुर्गुण की कसौटी के रूप में इसी 'स्वर्णिम माध्य' को स्वीकार किया है। सदमार्ग मध्यमार्ग है। उदाहरणार्थ, साहस सदगुण है, जो कायरता और उग्रता की मध्यावस्था है। कायरता और सदैव संघर्षरत रहना दोनों ही अवगुण हैं। 'आदर्श' इन दोनों के मध्य में है, जिसे 'साहस' कहा जाता है। इसी प्रकार, सांसारिक सुखों में अनुसरण के रूप में अत्यधिक भोग-विलास और विरक्ति के रूप में तप-मार्ग या देह-दण्डन-दोनों अनुचित हैं। संयम दोनों की मध्यावस्था के रूप में सदगुण है। यद्यपि मात्रात्मक मानक की इस धारणा के सम्बन्ध में कुछ अपवाद स्वयं अरस्तू ने भी स्वीकार किए हैं।

जैन दर्शन में अरस्तू के इस मात्रात्मक मानक दृष्टिकोण का समर्थन आचार्य गुणभद्र के आत्मानुशासन नामक ग्रन्थ में भी मिलता है। वे लिखते हैं कि सुख का अनुभव बुरा नहीं है, लेकिन उसके पीछे जो वासना है, वह बुरी है। सुख-भोग से कोई पाप नहीं होता, पाप होता है सुख-भोग की वासना के कारण, क्योंकि यह वासना सम्यक् दृष्टिकोण की घातक है। वासना से सम्यक्त्व का नाश होता है, जबकि सम्यक्त्व सुख का हेतु है। वासना मात्रातिक्रमण की ओर ले जाती है और यही मात्रातिक्रमण पाप है। आचार्य इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए मिठाई का उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं कि 'अजीर्ण' मिष्ठान्न भोजन से नहीं होता, वह होता है उसकी

मात्रा का अतिक्रमण करने से, इस प्रकार जैन दर्शन में भी अरस्तू के समान मात्रा के मानक का विचार उपलब्ध है।

हम इसी आधार पर यह निष्कर्ष उपस्थित कर सकते हैं कि प्राकृतिक-क्षुधाओं, उदात्त भावनाओं और संवेगों का दमन नहीं करना चाहिए, वरन् उन्हें इस रूप में नियोजित करना चाहिए कि वे पूर्ण नैतिक जीवन की दिशा में आगे ले जाएं।

विकासवाद और जैन-दर्शन

विकासवादी-आचारदर्शन नैतिकता को एक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। उनकी दृष्टि में नैतिक प्रत्यय ओर उनके अर्थ सापेक्ष हैं। सापेक्ष नैतिकता विकासवादी आचारदर्शन की महत्वपूर्ण मान्यता है। विकासवाद के अनुसार नैतिकता का अर्थ है अपने अस्तित्व को बनाए रखना और विकास की प्रक्रिया में सहायक होना है, वही शुभ है और जो सहायक नहीं है, वह अशुभ है। विकासवादी दर्शन में सुख को नैतिकजीवन का परम साध्य स्वीकार किया गया है, लेकिन उसके साथ ही वैयक्तिक एवं जातीय जीवन के अस्तित्व को भी महत्वपूर्ण माना गया है। स्पेन्सर कहते हैं कि जीवन का अन्तिम साध्य आनन्द है, लेकिन जीवन का निकटवर्ती साध्य जीवन की लम्बाई और चौड़ाई है। वे कहते हैं कि क्रम-विकास की गति सदैव आत्मरक्षण की दिशा में होती है और वह उस सीमा को उस समय प्राप्त होता है, जब जीवन, लम्बाई और चौड़ाई-दोनों में अधिकतम हो जाता है। विकासवादी दर्शन में जो प्रक्रियाएँ जीव को वातावरण में समायोजित करती हैं और जीवन की लम्बाई और चौड़ाई में वृद्धि करती हैं, वे ही नैतिक हैं। इस प्रकार, विकासवादी दर्शन में प्रमुखरूप से तीन दृष्टिकोण परिलक्षित होते हैं-

1. जीवन का रक्षण,
2. परिवेश से समायोजन, और
3. विकास की प्रक्रिया में सहगामी होना ।

जैन-दर्शन विकासवाद के कुछ तथ्यों को स्वीकार करता है। जीवन को परम-मूल्य मानने की धारणा जैनदर्शन में भी स्वीकृत है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि सभी को जीवन एवं प्राण प्रिय हैं। दशवैकालिकसूत्र

में भी कहा गया है कि सभी जीवित रहना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता। इस प्रकार, जीवनरक्षण को एक प्रमुख तथ्य माना गया है। जैनदर्शन का अहिंसा सिद्धान्त भी इसी जीवनरक्षण एवं जीवन के परममूल्य की धारणा पर अधिष्ठित है। सूत्रकृतांग में भी इसी विकासवादी-दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अपने जीवन के कल्याण का जो उपाय जान पड़े, उसे शीघ्र ही पाण्डितपरुषों से सीख लेना चाहिए।

स्पेन्सर आचरण के शुभत्व और अशुभत्व का आधार जीवनवृद्धकता को मानते हुए कहता है कि अच्छा आचरण जीवनवृद्धक और बुरा आचरण जीवन के जीवन के विनाश का कारण है। जैन दर्शन के अनुसार भी आचरण के शुभत्व और अशुभत्व का प्रमापक अहिंसा का सिद्धान्त है। आचार्य अमृतचन्द्र ने जैन नैतिकता के सभी नियमों को इसी अहिंसा के सिद्धान्त से निर्गमित किया है। अहिंसा का सिद्धान्त भी यही कहता है कि जो आचरण जीवन के विनाश से निर्गमित होता है ही, वह अनैतिक है। अहिंसा का सिद्धान्त भी यही है कि जो आचरण जीवन के विनाश का कारण है, वह अशुभ है और जो आचरण जीवन के रक्षण का कारण है, वह शुभ है। इस प्रकार, स्पेन्सर के दृष्टिकोण से जैन दर्शन की साम्यता सिद्ध होती है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्पेन्सर जीवनरक्षण को शुभत्व का आधार मानते हुए भी अहिंसा के सूक्ष्म सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता। उसके सिद्धान्त में जीवन के सभी रूपों को वह समानता नहीं दी गई है, जो कि जैन दर्शन के अहिंसा-सिद्धान्त में है।

न केवल जैन दर्शन में, वरन् बौद्ध और वैदिक दर्शनों में भी जीवन के मूल्य को स्वीकार किया है और कहा गया है कि जीवन का रक्षण वरेण्य है। कौषीतकि-उपनिषद् में कहा गया है कि निःश्रेयस मात्र प्राण में है। चाणक्य ने भी कहा है कि धन और स्त्री की अपेक्षा भी आत्मा (जीवन) की सदैव रक्षा करनी चाहिए। बुद्ध ने भी जीवनरक्षण को आवश्यक कहा है। धम्मपद में बुद्ध कहते हैं कि अपने को प्रिय समझा है, तो अपने को सुरक्षित रखना चाहिए।

विकासवादी आचारदर्शन का दूसरा प्रमुख प्रत्यय समायोजन है।

परिवेश के प्रति समायोजन नैतिक जीवन का आवश्यक अंग माना जाता है। स्पेन्सर के शब्दों में सभी बुराइयों का उत्स देह का परिवेश के अनुरूप न होना है। स्पेन्सर ने परिवेश के साथ अनुरूपता या समायोजन को नैतिक जीवन का साध्य और शुभाशुभ का प्रतिमान—दोनों ही माना है। जैन दर्शन का समत्वयोग इसी समायोजन की प्रक्रिया को अभिव्यक्त करता है, यद्यपि जैन-दर्शन में समायोजन का अर्थ आन्तरिक समत्व से है। उसकी दृष्टि में बाह्य समायोजन इतना महत्वपूर्ण नहीं है। उसमें समायोजन का अर्थ चेतना का स्वस्वभाव के अनुरूप होना है। इस प्रकार, विकासवाद और जैन दर्शन—दोनों ही समायोजन को स्वीकार करते हैं, लेकिन जहाँ विकासवाद व्यक्ति और परिवेश के मध्य समायोजन को महत्व देता है, वहाँ जैन दर्शन मनोवृत्तियों और स्वस्वभाव के मध्य समायोजन को आवश्यक मानता है। विकासवाद में समायोजन जीवनरक्षण के लिए है, जबकि जैन दर्शन में समायोजन आत्मा (स्वस्वभाव) के रक्षण के लिए है।

विकासवाद का तीसरा प्रत्यय 'विकास की प्रक्रिया में सहभागी होना' है। जो कर्म विकास को अवरुद्ध करते हैं और उसमें बाधक बनते हैं, वे अनैतिक हैं और जो कर्म विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं, वे नैतिक हैं। जैन दर्शन में विकास का प्रत्यय तो आया है, लेकिन भौतिक विकास का जो रूप विकासवाद में मान्य है, वह जैन दर्शन में उपलब्ध नहीं है। जैन दर्शन आत्मा के आध्यात्मिक विकास पर जोर देता है और इस दृष्टि से वह अवश्य ही उन कर्मों को नैतिक मानता है, जो आत्मविकास में सहायक हैं और उन कर्मों को अनैतिक मानता है, जो आत्मिक शक्तियों के विकास में बाधक हैं। जैन दर्शन के अनुसार विकास का सर्वोच्च रूप आत्मा की ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक शक्तियों की पूर्णता की स्थिति है। जब आत्मा में ये शक्तियाँ पूर्णतया प्रकट हो जाती हैं और उन पर कोई आवरण या बाधकता नहीं होती, तभी नैतिक-पूर्णता प्राप्त होती है। इस प्रकार, जैन दर्शन विकास के प्रत्यय को स्वीकार करते हुए भी विकासवाद से थोड़ा भिन्न है।

स्पेन्सर का विकासवादी दर्शन और जैन दर्शन पुनः एक स्थान पर

एकदूसरे के निकट आते हैं। स्पेन्सर के अनुसार विकास की अवस्था में नैतिकता सापेक्ष होती है और वह विकास की पूर्णता पर ही नैतिकता की निरपेक्षता को स्वीकार करता है। उसके अनुसार भी हम जैसे-जैसे आध्यात्मिक-विकास की प्रक्रिया में ऊपर उठते जाते हैं, वैसे-वैसे नैतिक-बाध्यताओं और नैतिक-सापेक्षताओं से ऊपर उठते हुए नैतिक-निरपेक्षता की ओर आगे बढ़ते हैं।

स्पेन्सर ने जीवन की लम्बाई और चौड़ाई को नैतिक प्रतिमान बनाने का प्रयास किया है। जैन दर्शन जीवन रक्षण की बात करते हुए भी स्पेन्सर की जीवन की लम्बाई और चौड़ाई के नैतिक-प्रतिमान को स्वीकार नहीं करता। स्पेन्सर के अनुसार जीवन की लम्बाई का अर्थ है— दीर्घायु होना और चौड़ाई का अर्थ है— जीवन की सक्रियता या कर्मठता। जैन-दर्शन स्पेन्सर की उपर्युक्त मान्यताओं को समुचित नहीं मानता, क्योंकि एक महापुरुष को अल्पायु होने के कारण अनैतिक नहीं कहा जा सकता और एक डाकू को शारीरिक-दृष्टि से कर्मठ होने पर नैतिक नहीं कहा जा सकता। जीवनवृद्धि का सच्च अर्थ तो सदगुणों की वृद्धि है। जैन दार्शनिकों ने जीवनरक्षण की अपेक्षा सदगुणों के रक्षण को अधिक महत्वपूर्ण माना है। वह तो सदगुणों के रक्षण के लिए देह के उत्सर्ग या प्राणान्त को भी अनैतिक नहीं मानता। उसके अनुसार, जीवन अपने में साध्य नहीं, वरन् नैतिक पूर्णता को प्राप्त करने का साधन है। इस प्रकार, जैन-दर्शन और स्पेन्सर का विकासवाद कुछ अर्थों में एक दूसरे से भिन्न भी सिद्ध होते हैं।

स्पेन्सर का जीवन-वृद्धि का आदर्श वस्तुतः वैयक्तिक नीतिशास्त्र का प्रतिपादक है। स्पेन्सर के लिए वैयक्तिक-नैतिकता ही प्रमुख थी। यद्यपि उसने जातिरक्षण को भी स्वीकार किया है, तथापि सामाजिक-नीतिशास्त्र का प्रतिपादन विकासवाद के अन्य दो विचारकों के द्वारा ही हुआ है। उनमें स्टीफेन ने सामाजिक-स्वास्थ्य और अलेक्जेंडर ने सामाजिक-समकक्षता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यद्यपि स्पष्ट रूप में जैन दार्शनिकों ने इन सिद्धान्तों के सन्दर्भ में कोई बात कही हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता, तथापि यदि हम सामाजिक-स्वास्थ्य का अर्थ सामाजिक-व्यवस्था करते

हैं, तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैन-दर्शन भी एक सुव्यवस्थित समाज-रचना को आवश्यक मानता है। सामाजिक-समकक्षता सामाजिक-समत्व की सूचक है और इस रूप में जैन-दर्शन का अनाग्रह और अपरिग्रह का सिद्धान्त इस सामाजिक-समत्व का संरक्षण करता है। तत्त्वार्थसूत्र में निर्दिष्ट प्राणियों की सहयोगात्मक प्रकृति भी सामाजिक समत्व की संरक्षक है।

बुद्धिपरतावाद और जैन-दर्शन

कांट अपने नैतिक सिद्धान्त के प्रतिपादन में भावनाओं को कोई स्थान नहीं देते। उसके अनुसार नैतिक-जीवन का लक्ष्य भावनाओं से ऊपर बुद्धिमय जीवन है। कांट के नीतिशास्त्र में सद-इच्छा ही परमशुभ है। वे सद्विच्छा को सदभावना नहीं, वरन् कर्तव्यभाव मानते हैं। उनके अनुसार, सद्विच्छा या परमशुभ निरपेक्ष है। कांट किसी भावना से प्रेरित कर्म को नैतिक नहीं मानते। उनके अनुसार, कर्म को भावना से नहीं, वरन् बुद्धि से नियन्त्रित होना चाहिए। निष्पक्ष बुद्धि से नियन्त्रित कर्म ही नैतिक हो सकता है। कांट ने नैतिक-आदेश के या कर्म की नैतिकता के प्रतिमान पाँच सूत्र दिए हैं—

1. सार्वभौम विधान— तुम केवल उसी नियम का पालन करो, जिसके माध्यम से तुम उसी समय इच्छा कर सको कि यह एक सार्वभौम विधान हो।

2. प्रकृति विधान— ऐसा करो, मानो तुम्हारे कर्म का नियम तुम्हारी इच्छा के माध्यम से प्रकृति का एक सार्वभौम विधान होने वाला हो।

3. स्वयंसाध्य— ऐसा करो, जिससे स्वयं के व्यक्तित्व में तथा प्रत्येक अन्य पुरुष के व्यक्तित्व में निहित मानवता को तुम सदा ही साध्य के रूप में प्रयोग करो, साधन के रूप में नहीं।

4. स्वतन्त्रता— ऐसा करो कि तुम्हारी इच्छा उसी समय अपने नियम के माध्यम से अपने को सार्वभौम विधान बनाने वाली समझ सके।

5. साध्यों का राज्य— ऐसा करो, मानो तुम सदा अपने नियम के माध्यम से साध्यों के एक सार्वभौम साध्य के विधायक सदस्य हो।

जैन-दर्शन में कांट के सिद्धान्तों के कुछ सूत्र अवश्य मिल जाते हैं,

जिनके आधार पर दोनों की निकटता को परखा जा सकता है।

कांट और जैन-दर्शन, दोनों नैतिक-साध्य के रूप में ज्ञान को स्वीकार करते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार निष्पक्ष एवं निरपेक्ष पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) नैतिक-जीवन का साध्य है, यद्यपि इस सन्दर्भ में जैन-दर्शन और कांट में थोड़ा विचार-भेद भी है। कांट के अनुसार निरपेक्ष ज्ञानमय जीवन ही नैतिक-साध्य है, जबकि जैन-दर्शन के अनुसार ज्ञान के साथ-साथ भाव भी नैतिक-साध्य है। जैन-दर्शन मोक्ष-दशा में अनन्तज्ञान के साथ-साथ अनन्तसुख की उपस्थिति भी मानता है। कांट के अनुसार ज्ञान ही साध्य है, जबकि जैन-दर्शन के अनुसार ज्ञान भी साध्य है।

जहाँ तक परमशुभ की निरपेक्षता का प्रश्न है, जैन-दर्शन नैतिकता के आन्तरिक पक्ष या आचारलक्षी-निश्चयनय को अवश्य ही निरपेक्ष मानता है; लेकिन साथ ही वह व्यावहारिक नैतिकता की सापेक्षता भी स्वीकार करता है। जैन-दर्शन के अनुसार आन्तरिक नैतिकता अवश्य निरपेक्ष और निरपवाद है; लेकिन बाह्य नैतिक-नियम तो सापेक्ष और सापवाद ही हैं। जैन-दर्शन में अपवादमार्ग या आपद्धर्म का विधान है, यद्यपि उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान भी है। सामान्य स्थिति में निरपेक्षरूप से ही नैतिक नियमों के पालन पर जोर दिया गया है। इस प्रकार, जहाँ जैन-दर्शन निरपेक्ष और सापेक्ष-दोनों ही प्रकार की नैतिक-विधियों को स्वीकार करता है, वहाँ कांट केवल निरपेक्ष-नैतिकता पर ही बल देते हैं। कांट अपवादमार्ग और आपद्धर्म को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जो शुभ है, वह सदैव ही शुभ और अशुभ है, वह सदैव ही अशुभ है।

जहाँ तक वासनाओं के बुद्धि से नियन्त्रित होने का प्रश्न है, जैन-दर्शन और कांट-दोनों के दृष्टिकोण समान हैं। जैन-दर्शन भी वासनाओं पर बुद्धि का शासन आवश्यक मानता है।

आचारमार्ग की कठोरता की दृष्टि से कांट और जैन-दर्शन एक दूसरे के निकट हैं। कांट के आचारदर्शन को अपवादमार्ग एवं भावना के अभाव के कारण कठोरतावाद कहा जाता है, जबकि जैन-आचारदर्शन को तपप्रधान होने के कारण कठोरतावाद कहा जाता है, यद्यपि जैनदर्शन अपवादमार्ग और भावना को स्वीकार करता है।

कांट के सार्वभौम विधान के सूत्र के अनुसार कोई भी कर्म तभी नैतिक हो सकता है, जबकि सार्वभौम नियम बनने की क्षमता रखता हो। सामान्य नियम ही नैतिक-नियम हो सकता है। यदि कोई नियम इस सिद्धान्त के प्रतिकूल है, तो वह अनैतिक है। उदाहरणार्थ, चोरी करने को लीजिए। यदि कोई व्यक्ति चोरी को अपने आचरण का व्यक्तिगत नियम बनाता है, तो उसे यह भी देखना होगा कि क्या वह चोरी को उसी समय सार्वभौम-नियम बना सकता है? स्पष्ट है कि वह यह कभी नहीं चाहेगा कि उसके द्वारा चुराए माल की अन्य कोई चोरी करे। इस प्रकार, चोरी सार्वभौम-नियम नहीं हो सकती, क्योंकि चोरी को सार्वभौम बनाने पर चोरी का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। इसी प्रकार, हिंसा, असत्य, बेईमानी आदि अवगुण भी सार्वभौम नियम नहीं बनाए जा सकते, इसलिए वे सभी अनैतिक हैं। कांट के इस सूत्र का आशय यही है कि हम जैसा व्यवहार अपने प्रति चाहते हैं, वैसा ही आचरण दूसरों के प्रति करें, हम अपने बारे में जैसी इच्छा करें, वैसी ही इच्छा दूसरे के बारे में भी करें। जैन-दर्शन और अन्य भारतीय दर्शनों में भी इसे ही नैतिक-नियम का सर्वस्व माना गया है। जैन, बौद्ध एवं वैदिक-आचारदर्शनों में भी शुभाशुभत्व के प्रतिपादन के रूप में यही सिद्धान्त स्वीकृत हैं। जैन-आचारदर्शन में भी कर्म के शुभाशुभत्व का निर्णायक यही आत्मवत्दृष्टि का सिद्धान्त है। गीता और बौद्ध-आचारदर्शन में भी इस सिद्धान्त का समर्थन मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कांट का सार्वभौम-विधान का सूत्र आत्मवत् दृष्टि के सिद्धान्त के रूप में भारतीय-परम्परा में ही स्वीकृत रहा है।

कांट के प्रकृति विधान के सूत्र का आशय यह है कि जो कर्म प्रकृति की एकरूपता और सोद्देश्यता के अनुरूप हैं, वे ही करने चाहिए। इस सूत्र का एक आशय यह भी हो सकता है कि स्वभाव के अनुरूप ही कर्म करना चाहिए। कांट के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन गीता में स्वधर्म सिद्धान्त के रूप में हुआ है। गीता में कृष्ण कहते हैं कि ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुरूप ही आचरण करते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार यह कहना पड़ेगा कि आत्मा का जो निज स्वभाव है, या जो स्वभावदशा है, उसी से हमारे कर्म निःसृत होने चाहिए। जो कर्म स्वभावदशा से निःसृत

होते हैं, वे ही नैतिक होते हैं। विभावदशा में होने वाले कर्म अनैतिक हैं।

कांट के स्वयंसाध्य के सूत्र का आशय यह है कि मनुष्य स्वयं साध्य है और उसको किसी दूसरे मनुष्य के लिए साधन नहीं बनना चाहिए। यदि व्यक्ति अपनी आत्मा को साध्य न बनाकर स्वयं को किसी अन्य का साधन बनाता है, तो उसका यह कर्म नैतिक नहीं माना जाएगा। जैन-दर्शन में ऐसा कोई निर्देश हमें उपलब्ध नहीं होता है। इसके विपरीत, अनेक स्थितियों में व्यक्ति को दूसरे के हित का साधन बनने को कहा गया है। यदि हम इस सिद्धान्त का यह आशय स्वीकार करें कि मानवता का (चाहे वह हमारे स्वयं के अन्दर हो, अथवा किसी अन्य व्यक्ति में) सम्मान करना चाहिए, तो इस रूप में वह जैन-दर्शन में भी स्वीकृत हो सकता है। एक अन्य अपेक्षा से भी इस सूत्र का यह भी आशय निकाला जा सकता है कि व्यक्ति का नैतिक-विकास और पतन स्वयं उसी पर निर्भर है। इस अर्थ में यह सिद्धान्त नैतिक-जीवन में पुरुषार्थ की धारणा पर बल देता है और यह जैन-दर्शन में भी स्वीकृत है। जैन-आचारदर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि व्यक्ति का हित और अहित स्वयं उसी पर निर्भर है।

कांट के स्वतन्त्रता के सूत्र की व्याख्या यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त हैं, अतः जिसे हम अपना अधिकार मानते हैं, उसे ही दूसरों का भी अधिकार मानना चाहिए। यदि हम चोरी करते समय दूसरों की सम्पत्ति पर अपना अधिकार मानते हैं, तो दूसरों को भी यह अधिकार प्राप्त है कि वे आपकी सम्पत्ति पर अपना अधिकार मानकर उसका उपभोग करें। इस प्रकार, यह सूत्र समान अधिकार की बात कहता है, जो कि प्रथम सूत्र से अधिक भिन्न नहीं है। यह सूत्र भी सबको अपने समान समझने का आदेश है और इस रूप में वह आत्वत्-दृष्टि का ही प्रतिपादक है।

कांट का साध्यों के राज्य का सूत्र यह बताता है कि सभी मनुष्यों को समान मूल्यवाला समझो और इस अर्थ में यह सिद्धान्त लोकप्रिय या लोकसंग्रह का प्रतिपादक है तथा पारस्परिक-सहयोग तथा पूर्ण सामंजस्य के साथ कर्म करने का निर्देश देता है। इसमें भी आत्मवत्-दृष्टि का भाव सन्निहित है। इस सूत्र में प्रतिपादित सभी विचार जैन तथा अन्य भारतीय-दर्शनों में उपलब्ध हैं।

पूर्णतावाद और जैन-दर्शन

पूर्णतावाद का सिद्धान्त नैतिक-साध्य के रूप में आत्मा के विभिन्न पक्षों की पूर्णता को स्वीकार करता है। सुखवाद आत्मा के भावनात्मक पक्ष को नैतिक-जीवन का साध्य बताता है, जबकि बुद्धिवाद आत्मा के बौद्धिक-पक्ष को ही नैतिकता का साध्य मानता है। सुखवाद और बुद्धिवाद के एकांगी दृष्टिकोणों से ऊपर उठकर पूर्णतावाद भावनात्मक-आत्मा और बौद्धिक-आत्मा-दोनों को ही नैतिक-जीवन का साध्य मानता है। नैतिकता समग्र आत्मा की सिद्धि है, उस आत्मा की, जो कि बुद्धिमय भी है और भावनामय भी। वह आत्मा के विभिन्न पक्षों को नहीं, वरन् पूर्ण आत्मा का नैतिक-जीवन का साध्य बनाता है। वह आत्मिक-क्षमताओं के पूर्ण विकास की धारणा को स्थापित करता है। पूर्णतावाद का एक प्राचीन रूप ईसा के उस कथन में मिलता है, जिसमें कहा गया है कि 'तुम वैसे ही पूर्ण हो जाओ, जैसे स्वर्ग में तुम्हारा पिता है।' हेगेल ने भी अपने दर्शन की मुख्य शिक्षा 'पूर्ण व्यक्ति बनो' के रूप में दी है। हेगेल के दृष्टिकोण का ही विकास करने वाले पूर्णतावादी विचारकों में कियर्ड, ग्रीन, ब्रैडले एवं बोसाके प्रमुख हैं। समकालीन पूर्णतावादी विचारकों में पेटन और म्यूरहेड आते हैं। ब्रैडले अपने पूर्णतावाद में आत्मसाक्षात्कार पर बल देते हैं। उनका कथन है कि अपने को एक अनन्त पूर्ण के रूप में प्राप्त करो। ब्रैडले अपने नीतिशास्त्र के प्रमुख ग्रंथ 'एथिकल स्टडीज' में इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि व्यक्ति का नैतिक-साध्य एक अनन्त पूर्ण आत्मा के रूप में आत्मसाक्षात्कार करना है। पूर्णतावाद की सामान्य विशेषताओं को निम्न रूप में रखा जा सकता है— (1) परमशुभ वासनाओं का बुद्धि के द्वारा व्यवस्थापन एवं नियन्त्रण करना है। (2) नैतिक-जीवन की प्रक्रिया आत्मत्याग के द्वारा आत्मलाभ की है। क्षुद्र, पाशविक, वासनामय एवं इन्द्रियपरक आत्मा के त्याग के द्वारा उच्च एवं सामाजिक-आत्मा का लाभ ही नैतिक-विकास की प्रक्रिया है। (3) नैतिकता आध्यात्मिक-तत्त्व के अनन्त विकास की प्रक्रिया है। (4) पूर्णतावाद नैतिकता के आन्तरिक-पक्ष, अर्थात् चरित्र-विकास एवं वासनाओं के परिमार्जन पर बल देता है। (5) वह अपनी क्षमताओं को पहचान कर उनके पूर्ण प्रकटन पर बल देता है। (6)

मनुष्य होने के लिए सामाजिक होना आवश्यक है, यद्यपि सामाजिकता भी अन्तिम नहीं है, सामाजिकता से भी ऊपर उठना आवश्यक है। इस प्रकार, वह सामाजिकता और नैतिकता के क्षेत्र के अतिक्रमण पर बल देता है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए, तो सभी मोक्षलक्षी-दर्शन पूर्णतावाद के समर्थक हैं। श्री संगमलाल पाण्डे लिखते हैं कि वास्तव में हिन्दू-धर्म, बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म के नीतिशास्त्र बहुत कुछ एकसमान हैं। वे सभी मनुष्य को पूर्ण होने की शिक्षा देते हैं। तीनों धर्मों का पूर्णतावाद पर त्रिवेणीसंगम होने के कारण पूर्णतावाद भारतीय-नीतिशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया है।

जिस प्रकार पूर्णतावाद नैतिक साध्य के रूप में भावनामय और बुद्धिमय-दोनों ही पक्षों को स्वीकार करता है और बुद्धि के द्वारा भावनाओं के अनुशासन पर बल देता है, उसी प्रकार जैन-दर्शन भी मोक्ष के नैतिक-साध्य में भावनात्मक और बौद्धिक-दोनों ही पक्षों को स्वीकार करता है तथा यह मानता है कि व्यावहारिक जीवन में कषाययुक्त आत्मा को ज्ञानात्मा से अनुशासित होना चाहिए। जैन-दर्शन के अनुसार ही कषाय आत्मा का त्याग और ज्ञान, दर्शन और चरित्र-गुण से युक्त शुद्ध आत्मा का लाभ नैतिक-जीवन का आवश्यक अंग है। जैन-दर्शन और पूर्णतावाद इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि नैतिकता आध्यात्मिक-तत्त्व (आत्मा) के अनन्त विकास की प्रक्रिया है। यद्यपि पूर्णतावाद और विशेषकर ब्रैडले का दृष्टिकोण यह स्वीकार करता है कि अनन्त विकास की प्रक्रिया है। यद्यपि पूर्णतावाद और विशेषकर ब्रैडले का दृष्टिकोण यह स्वीकार करता है कि अनन्त विकास की प्रक्रिया भी अनन्त है और कभी समाप्त नहीं होती है, जबकि जैन-दर्शन मानता है कि व्यक्ति अनन्त विकास की इस प्रक्रिया में पूर्णता तक पहुँच सकता है। पूर्णतावाद आदर्श के यथार्थ बन जाने की सम्भावना में विश्वास नहीं करता, जबकि जैन-दर्शन यह मानता है कि नैतिक-पूर्णता का यह आदर्श यथार्थ बनाया जा सकता है। जिस प्रकार पूर्णतावाद नैतिकता के आन्तरिक-पक्ष, चरित्रविकास एवं वासनाओं के परिमार्जन को आवश्यक मानता है, उसी प्रकार जैन-दर्शन भी नैतिकता के आन्तरिक-पक्ष, चरित्रविकास एवं वासनाओं के परिमार्जन

पर बल देता है। जिस प्रकार पूर्णतावाद अपनी क्षमताओं को पहचानकर उनके पूर्ण प्रकटन तक पुरुषार्थी बना रहना आवश्यक मानता है, उसी प्रकार जैन-दर्शन भी आत्मा के स्वस्वरूप को जानकर उसकी पूर्णता के लिए सतत परिश्रम और जागरूकता को आवश्यक मानता है। जैन-दर्शन भी पूर्णतावाद के समान सामाजिकता को नैतिकता का अन्तिम तत्त्व नहीं मानता और समाज से भी ऊपर उठने की धारणा को स्वीकार करता है।

जैन-दर्शन का नैतिक-साध्य मोक्ष है, लेकिन मोक्ष पूर्णता या आत्मसाक्षात्कार की अवस्था ही है। जैन-दार्शनिकों ने मोक्ष की अवस्था में अनन्तचतुष्टय की उपलब्धि को स्वीकार कर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जैन-दर्शन पूर्णता के रूप में जीवन के सभी सदृशों का पूर्ण विकास चाहता है। वस्तुतः, जैन-दर्शन के मोक्ष की यह धारणा पूर्णतावाद या आत्मसाक्षात्कार के सिद्धान्त से दूर नहीं है। जैन-दर्शन की मोक्ष की यह धारणा पूर्णतावाद या आत्मसाक्षात्कार के सिद्धान्त से दूर नहीं है। जैन-दर्शन का मोक्ष अन्य कुछ नहीं, मात्र चैत-जीवन के ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं संकल्पात्मक पक्षों की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

वैदिक-परम्परा में भी आत्मपूर्णता, आत्मलाभ या आत्मसाक्षात्कार को नैतिक-जीवन का साध्य माना गया है। बृहदारण्यक-उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा के लिए ही सबकुछ प्रिय होता है। आचार्य शंकर उपदेशसहस्री में लिखते हैं कि आत्मलाभ से बड़ा अन्य कोई लाभ नहीं है।

वैदिक-परम्परा में बुद्धि के द्वारा वासनाओं के निराकरण के तथ्य को स्वीकार किया गया है। मनुस्मृति एवं गीता में वर्णधर्म या स्वधर्म के जो प्रत्यय हैं, वे भी पूर्णतावादी विचारक ब्रैडले के 'स्वस्थान और उसके कर्त्तव्य' के सिद्धान्तों के बहुत अधिक निकट हैं। गीता पूर्णतावाद के समान ही कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग के समन्वय को स्वीकार करती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पुरुषार्थों में काम और अर्थ को स्वीकार कर वैदिक-परम्परा यह स्पष्ट रूप से बता देती है कि जीवन में भावनात्मक पक्ष का भी अपना मूल्य है। भावना को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। नैतिक-साध्य भावनाओं का निराकरण नहीं, वरन् उनका परिष्कार है।

भारतीय-परम्परा में पूर्णतावाद का आरम्भ वेदों से होता है, जिनमें पूर्णता के प्राप्त करना मानव जीवन का आदर्श माना गया है। उपनिषदों में यही पूर्णतावाद आत्मसाक्षात्कार या आत्मलाभ के रूप में स्वीकृत रहा है। गीता में परमात्मा को पूर्णपुरुष के रूप में उपस्थित किया गया है और उसकी प्राप्ति को ही नैतिक-जीवन का साध्य माना गया है।

मूल्य का प्रतिमान और जैन-दर्शन

पाश्चात्य विचार-परम्परा में मूल्यवाद नैतिक-प्रतिमान का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त माना जाता है। मूल्यवाद के अनुसार मूल्य वह है, जो भावना या इच्छा की पूर्ति करता है। मूल्य की समुचित परिभाषा यह हो सकती है कि 'मूल्य वह है, जिसे पाने के लिए व्यक्ति और समाज चेष्टा करते हैं, जिसके लिए जीवित रहते हैं और जिसके लिए बड़ा से बड़ा उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहते हैं।'

मूल्यवाद के अनुसार शुभ और उचित, परिणामों या शुभ संकल्पों पर निर्भर नहीं है। शुभ एवं उचित, जीवन के उन आदर्शों से निर्गमित होते हैं, जो हमारे जीवन का परमार्थ या श्रेय है। मूल्यवाद की परम्परा में मूल्य एक व्यापक शब्द है। यह यद्यपि श्रेय, साध्य का आदर्श या सूचक है, तथापि कोई अकेला साध्य मूल्य नहीं है। मूल्य सदैव व्यवस्था में निर्धारित होता है। सुख, जीवन, वैराग्य आदि में प्रत्येक एक मूल्य है, किन्तु मूल्य उससे अधिक व्यापक है। 'मूल्य' एक तत्त्व नहीं है, एक व्यवस्था है और उसी व्यवस्था में किसी मूल्य का बोध होता है।

मूल्यवाद मूल्य की अपेक्षा मूल्यों पर बल देता है, फिर भी 'परम मूल्य' या सर्वोच्च मूल्य क्या है, यह विषय मूल्यवादी-विचारणा में विवादपूर्ण ही रहा है। सुकरात 'ज्ञान' को प्लेटो 'न्याय' को, अरस्तू 'उच्चविचारशीलता' को, स्पेनोजा 'ईश्वर' को और हेगल 'व्यक्तित्वलाभ' को सर्वोच्च मूल्य मानते हैं। अरबन ने आध्यात्मिक-मूल्यों में क्रमशः कलात्मक, बौद्धिक और धार्मिक (चारित्रिक) मूल्यों के रूप में सौन्दर्य, सत्य और शिव (कल्याण) को परम मूल्य माना है, जिनमें भी प्रथम की अपेक्षा दूसरा और दूसरे की अपेक्षा तीसरा अधिक उच्च माना गया है। मूल्यवाद की इस परम्परा में भी 'परम मूल्य' की अपेक्षा तीसरा अधिक उच्च माना गया है। मूल्यवाद की

इस परम्परा में भी 'परम मूल्य' की धारणा के आधार पर अनेक वर्ग बनते हैं, उनमें कुछ दृष्टिकोण निम्नानुसार हैं—

1. मानवता-केन्द्रित मूल्यवाद (मानवतावाद)
2. अस्तित्ववादियों का आत्म-केन्द्रित मूल्यवाद
4. अरबन का आध्यात्मिक-मूल्यवाद
8. मानवतावादी सिद्धान्त और जैन-आचारदर्शन

मानवतावाद में नैतिकता का प्रत्यय सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि मानवतावाद को आचारशास्त्रीय-धर्म कहा जाता है। मानवतावादी-सिद्धान्त नैतिकता को मानव की सांस्कृतिक-चेतना के विकास में देखता है। सांस्कृतिक-विकास ही नैतिकता की कसौटी है। सांस्कृतिक-विकास एवं नैतिक-जीवन मानवीय-गुणों के विकास में निहित हैं। मानवतावादी-चिन्तन में मनुष्य ही नैतिक-मूल्यों का मानदण्ड और मानवीय-गुणों का विकास ही नैतिकता है। मानवतावादी-विचारकों की एक लम्बी परम्परा है। प्लेटो और अरस्तू से लेकर लेमाण्ट, जाकमरिता तथा समकालीन विचारकों में वारनर फिट्टे, सी.बी. गर्नेट और इस्राइल लेविन प्रभृति विचारक इस परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये सभी विचारक मानवीय-गुणों के विकास में नैतिकता के प्रत्यय को देखते हैं, फिर भी प्राथमिक मानवीय-गुण क्या हैं, इस विषय में उनमें मतभेद हैं। समकालीन मानवतावादी विचारकों में भी इस प्रश्न को लेकर प्रमुख रूप से तीन वर्ग हैं, जिन्हें आत्मचेतनावादी, विवेकवादी और आत्मसंयमवादी कह सकते हैं। इन तीनों मान्यताओं का जैन-दर्शन के साथ निकट सम्बन्ध देखा जा सकता है। इनके साथ जैन-दर्शन की तुलना करने के पूर्व मानवतावाद की कुछ सामान्य प्रवृत्तियों का जैन विचार-परम्परा सहानुभूति के प्रत्यय को ही नैतिकता का आधार बनाती है। मानवतावाद के अनुसार, मनुष्य का परम प्राप्तव्य इसी जगत् में केन्द्रित है और इसलिए वह अपने नैतिक-दर्शन को किसी पारलौकिक सुख-कामना पर आधृत नहीं करता। उसके अनुसार, नैतिक होने के लिए किसी पारलौकिक-आदर्श या साध्य की आवश्यकता नहीं है, वरन् मनुष्य में निहित सहानुभूति का तत्त्व ही उसे नैतिकता के प्रति आस्थावान् बनाए रखने के लिए पर्याप्त है।

वह नैतिकता को प्रलोभन और भय के आधार पर खड़ा न करके मानव में निहित सहानुभूति के तत्त्व पर खड़ा करता है। उसके अनुसार, नैतिक होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम किसी पारलौकिक-सत्ता या ईश्वर अथवा कर्म के नियम जैसे किसी सिद्धान्त पर आस्था रखें, वरन् मानवीय-प्रकृति में निहित सहानुभूति का तत्त्व ही नैतिक होने के लिए पर्याप्त है।

इस विषय में जैन-दर्शन का दृष्टिकोण क्या है? जैन-दर्शन भी प्राणी में निहित सहानुभूति के तत्त्व को स्वीकार करता है, तथापि वह कर्म-सिद्धान्त को भी मानकर चलता है। इस प्रकार, जहाँ मानवतावाद सहानुभूति के तत्त्व को ही नैतिकता का आधार बनाता है, वहाँ जैन-दर्शन सहानुभूति के तत्त्व के साथ-साथ कर्म-सिद्धान्त को भी नैतिकता का आधार बनाता है।

मानवतावाद सांसारिक हित-साधन पर जोर देता है और पारलौकिक-सुखकामना को व्यर्थ मानता है। वह मनुष्य को स्थूल ऐन्द्रिक-सुखों तक ही सीमित नहीं रखता है, वरन् कला, साहित्य, मैत्री और सामाजिक-सम्पर्क के सूक्ष्म सुखों को भी स्थान देता है। लेमाण्ट परम्परावादी और मानवतावादी-आचारदर्शनों में निषेधात्मक और विधेयात्मक-दृष्टि से भेद स्पष्ट करता है। उसके अनुसार, परम्परावादी नैतिक-दर्शन में वर्तमान के प्रति उदासीनता और परलोक में सुख प्राप्त करने की इच्छा होती है, यह निषेधात्मक है। इसके विपरीत, मानवतावाद वर्तमान जीवन के प्रति आस्था रखता है और उसे सुखी बनाना चाहता है, यह विधेयक है।

जैन, बौद्ध और वैदिक-दर्शन पारलौकिकता के प्रत्यय को स्वीकार करते हैं और भावी जीवन के अस्तित्व में भी आस्था रखते हैं, लेकिन इस आधार पर उन्हें निषेधात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे वर्तमान जीवन के प्रति उदासीनता नहीं रखते। जैन-दार्शनिक स्पष्टरूप से कहते हैं कि नैतिक-साधन का पारलौकिक-सुख की कामना से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि पारलौकिक सुख-कामना की दृष्टि से किया गया नैतिक-कर्म दूषित होता है। जैन दार्शनिक नैतिक-साधना को न ऐहिक-सुखों के लिए और न पारलौकिक-सुखों के लिए मानते हैं, वरन् उनके अनुसार तो

नैतिक-साधना का एकमात्र साध्य आत्म-विकास एवं आत्मपूर्णता है। बुद्ध ने कहा है कि नैतिक-जीवन का साध्य पारलौकिक-सुख की कामना नहीं है। गीता में भी फलाकांक्षा के रूप में पारलौकिक-सुख की कामना को अनुचित ही कहा गया है।

जैन-विचारधारा नैतिक-जीवन के लिए अपनी दृष्टि वर्तमान पर ही केन्द्रित करती है। कहा गया है कि जो भूत के सम्बन्ध में कोई शोक नहीं करता और भविष्य के सम्बन्ध में जिसकी कोई अपेक्षाएँ नहीं हैं, जो मात्र वर्तमान में ही जीता है, वही सच्चा ज्ञानी है। विशुद्ध वर्तमान में जीना जैन-परम्परा का नैतिक-आदर्श रहा है, अतः वह वर्तमान के प्रति उदासीन नहीं है और इस अर्थ में वह मानवतावादी-विचारकों के साथ भी है, यद्यपि वह परलोक के प्रत्यय से इनकार नहीं करती है। बुद्ध ने भी अज्ञातशत्रु से यही कहा था कि मेरे नैतिक-दर्शन की साधना का केन्द्र पारलौकिक-जीवन नहीं, वरन् यही जीवन है।

मानवतावाद सामान्य रूप से स्वाभाविक इच्छाओं का सर्वथा दमन उचित नहीं मानता, वरन् उनका संयमन आवश्यक मानता है। वह संयम का समर्थक है, दमन का नहीं। उसके अनुसार, सच्चा नैतिक-जीवन इच्छाओं के दमन में नहीं, उनके संयमन में है।

जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन भी दमन के प्रत्यय को स्वीकार नहीं करते। उनमें भी इच्छाओं का दमन अनुचित माना गया है। इस सन्दर्भ में सप्रमाण विस्तृत विवेचन अलग से किया गया है। जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन समान रूप से दमन के स्थान पर संयम को ही स्वीकार करते हैं और इस अर्थ में वे मानवतावादी-विचारधारा के साथ हैं।

मानवतावाद कर्म के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण समाज पर उसके परिणाम के आधार पर करता है। लेमाण्ट के अनुसार कर्म-प्रेरक और कर्म में विशेष अन्तर नहीं है। कोई भी क्रिया बिना प्रेरणा के नहीं होती और जहाँ प्रेरणा होती है, वहाँ कर्म भी होता है। बौद्ध-दर्शन और गीता स्पष्ट रूप से कर्म के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण कर्म-प्रेरक के आधार पर करते हैं, कर्म-परिणाम के आधार पर नहीं। इस आधार पर वे मानवतावाद से कोई साम्य नहीं रखते। जैन-दर्शन व्यवहारदृष्टि से

कर्मपरिणाम को और निश्चयदृष्टि से कर्मप्रेरक को औचित्य और अनौचित्य के निर्णय का आधार मानता है। इस प्रकार, जैन-दर्शन की मानवतावाद से इस सम्बन्ध में आंशिक समानता है।

मानवतावाद मनुष्य को ही समग्र मूल्यों का मानदण्ड स्वीकार करता है। इस प्रकार उसमें मानवीय जीवन का सर्वाधिक महत्व है। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से इस प्रश्न को देखें, तो हमें यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करना होगा कि भारतीय-परम्परा भी मानवीय जीवन के महत्त्व को स्वीकार करती है। जैन-आगम उत्तराध्ययन में मानव-जीवन को दुर्लभ बताया गया है। आचार्य अमितगति ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि जीवन में मनुष्य का जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है। धम्मपद में भगवान् बुद्ध ने भी मनुष्य-जन्म को दुर्लभ बताया है। महाभारत में भी कहा गया है कि रहस्य की बात तो यह है कि मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास भी इस तथ्य को प्रकट करते हैं— 'बड़े भाग मानुस तन पावा, सुर दुरलभ सब ग्रन्थहि गावा।' इस प्रकार, भारतीय-चिन्तन में मनुष्य-जीवन के सर्वोच्च मूल्य को स्वीकार किया गया है।

समकालीन मानवतावादी-विचार में प्राथमिक मानवीय-गुण के प्रश्न को लेकर प्रमुख रूप से तीन विचारधाराएँ प्रचलित हैं। जैन-आचारदर्शन के साथ इनका तुलनात्मक अध्ययन करने की दृष्टि से इन तीनों विचारधाराओं पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

आत्मचेतनतावादी-दृष्टिकोण और जैन-दर्शन

आत्मचेतनता या आत्मजाग्रति को ही नैतिकता का आधार और प्राथमिक मानवीय-गुण मानने वाले मानवतावादी-विचारकों में वारनर फिट्ते प्रमुख हैं। ये नैतिकता को आत्मचेतना का सहगामी मानते हैं। उनकी दृष्टि में नैतिकता का परिभाषक उस समग्र सामाजिक-प्रक्रिया में नहीं है, जिसमें मनुष्य जीता है, वरन् आत्मचेतनामय जीवन जीने में है, जो व्यक्ति के जीवन में रही हुई है। वस्तुतः, नैतिकता आत्मचेतनामय जीवन जीने में है। उनका कथन है कि जीवन के या अन्य किन्हीं भी मूल्यों को अवधारण कर सकता है। चेतना के नियन्त्रण में जो जीवन है, वही सच्चा जीवन है। नैतिक होने का अर्थ यह जानना है कि हम क्या कर रहे हैं।

जाग्रत, चेतना नैतिकता है और प्रसुप्त चेतना अनैतिकता है। शुभ एवं उचित कार्य वह नहीं है, जिसमें आत्मविस्मृति होती है, वरन् वह है, जिसमें आत्मचेतनता होती है।

मानवतावादी-आचारदर्शन का यह आत्मचेतनतावादी-दृष्टिकोण जैन-आचारदर्शन के अति निकट है। वारनर फिटे के नैतिक-दर्शन की यह मान्यता अति स्पष्ट रूप में जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों में उपलब्ध है। ये आचारदर्शन आत्मचेतनता को अप्रमत्तता या आत्मजाग्रति कहते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार प्रमाद आत्मविस्मृति की अवस्था है और उसे अनैतिकता का प्रमुख आधार कहा गया है। जो भी क्रियाएँ प्रमाद का कारण हैं, या प्रमादपूर्वक की जाती हैं, वे सभी अनैतिक हैं। आचारांग में कहा गया है कि जो प्रसुप्त चेतनावाला है, वह अमुनि (अनैतिक) है और जो जाग्रत चेतनावाला है, वह मुनि (नैतिक) है। सूत्रकृतांग में प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहकर यही कहा गया है कि जो क्रियाएँ आत्मविस्मृति को लाती हैं, वे बन्धनकारक हैं, इसलिए अनैतिक भी है। इसके विपरीत, जो क्रियाएँ अप्रमत्त-चेतना की अवस्था में सम्पन्न होती हैं, वे बन्धनकारक नहीं होतीं और वे पूर्णतया विशुद्ध और नैतिक हैं। इस प्रकार, वारनर फिटे का आत्मचेतनतावादी दृष्टिकोण जैन-विचारणा के अति निकट है।

बौद्ध-दर्शन में भी आत्मचेतनता को नैतिकता का प्रमुख आधार माना गया है। बुद्ध स्पष्ट कहते हैं कि अप्रमाद अमरता का मार्ग है और प्रमाद मृत्यु का। बौद्ध-दर्शन में अष्टांग-साधनामार्ग में सम्यक्समृति भी इस बात को स्पष्ट करती है कि आत्मस्मृति या जाग्रत चेतना नैतिकता का आधार है, जबकि आत्मविस्मृति अनैतिकता का आधार है। नन्द को उपदेश देते हुए बुद्ध कहते हैं कि जिसके पास स्मृति नहीं है, उसे आर्य सत्य कहाँ से प्राप्त होगा, इसलिए चलते हुए चल रहा हूँ, खड़े होते हुए खड़ा हो रहा हूँ एवं इसी प्रकार दूसरे कार्य करते समय अपनी स्मृति बनाए रखो। इस प्रकार, बुद्ध भी आत्मचेतनता को नैतिक-जीवन का केन्द्र स्वीकार करते हैं।

गीता में भी सम्मोह से स्मृतिविनाश और स्मृतिविनाश से बुद्धिनाश-ऐसा कहकर यही बताया गया है कि आत्मचेतना नैतिक-जीवन के लिए

आवश्यक है।

विवेकवाद और जैन-दर्शन

मानवतावाद के समकालीन विचारकों में दूसरा वर्ग विवेक को प्राथमिक मानवीय-गुण मानता है। सी.बी. गर्नेट और इसराइल लेविन के अनुसार नैतिकता विवेकपूर्ण जीवन जीने में है। गर्नेट के अनुसार विवेक तार्किक-संगति नहीं, वरन् जीवन में कौशल या चतुराई है। बौद्धिकता या तर्क उसका एक अंग हो सकता है, समग्रता नहीं। गर्नेट अपनी पुस्तक 'विज़डम ऑफ कण्डक्ट' में प्रज्ञा को ही सर्वोच्च सद्गुण मानते हैं और प्रज्ञा या विवेक से निर्देशित जीवन जीने में नैतिकता के सारतत्व की अभिव्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार, नैतिकता की सम्यक् एवं सार्थक व्याख्या शुभ, उचित, कर्तव्य आदि नैतिक प्रत्ययों की व्याख्या में नहीं, वरन् आचरण में विवेक के सामान्य-प्रत्यय में है। आचरण में विवेक एक ऐसा तत्व है, जो नैतिक-परिस्थिति के अस्तित्ववान-पक्ष, अर्थात् चरित्र प्रेरणाएँ, आदत, रागात्मकता, विभेदीकरण, मूल्यनिर्धारण और साध्य को दृष्टि में रखता है। इन सभी पक्षों को पूर्णतया दृष्टि में रखे बिना जीवन में विवेकपूर्ण आचरण की आशा नहीं की जा सकती। आचरण में विवेक एक ऐसी लोचपूर्ण दृष्टि है, जो समग्र परिस्थितियों के सभी पक्षों की सम्यक् विचारणा के साथ खोज करती हुई सुयोग्य चुनाव करती है। लेविन के आचरण में विवेक का तात्पर्य एक समयोजनात्मक क्षमता से माना है। उसके अनुसार, नैतिक होने का अर्थ मानव की मूलभूत क्षमताओं की अभिव्यक्ति हैं

गर्नेट और लेविन के आचरण में विवेक का प्रत्यय जैन-विचारणा तथा अन्य सभी भारतीय-विचारणाओं में भी मान्य रहा है। जैन-विचारकों ने सम्यक्ज्ञान के रूप में जो साधनामार्ग बताया है, वह केवल तार्किक-ज्ञान नहीं है, वरन् एक विवेकपूर्ण दृष्टि है। जैन-परम्परा में विवेकपूर्ण आचरण के लिए 'यतना' शब्द का प्रयोग विभिन्न क्रियाओं को विवेक या सावधानीपूर्वक सम्पादित करता है, वह अनैतिक-आचरण नहीं करता है। बौद्ध परम्परा में भी यही दृष्टिकोण स्वीकृत है। बुद्ध ने भी अंगुत्तरनिकाय में महावीर के समान ही इस तथ्य का प्रतिपादन किया है। गीता में कर्मकौशल को ही

योग कहा गया है। इस प्रकार, भारतीय आचारदर्शनों में भी आचरण में विवेक का प्रत्यय स्वीकृत रहा है।

गर्नेट ने आचरण में विवेक के लिए समग्र परिस्थितियों एवं सभी पक्षों का विचार आवश्यक माना है, जिसे हम जैन-दर्शन के अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट कर लेना चाहिए एवं एक सर्वांगीण-दृष्टिकोण रखना चाहिए। गर्नेट का कर्म के सभी पक्षों के विचार का प्रत्यय अनेकान्तवादी सर्वांगीण-दृष्टिकोण से अधिक दूर नहीं है।

आत्मसंयम का सिद्धान्त और जैन-दर्शन

मानवतावादी नैतिक-दर्शन के तीसरे वर्ग का प्रतिनिधित्व इरविंग बबिट करते हैं। बबिट के अनुसार मानवता एवं नैतिक-जीवन का सार न तो आत्मचेतनामय जीवन जीने में है और न विवेकपूर्ण जीवन में, वरन् वह संयमपूर्ण जीवन या अनुशासन में है। बबिट आधुनिक युग के संकट का कारण यह बताते हैं कि एक ओर हमने परम्परागत (कठोर वैराग्यवादी) धारणाओं को तोड़ दिया और उनके स्थान पर छद्मरूप में आदिमभोगवाद की ऐसी गलत दिशा का घयन किया है, जिसमें मानवीय-हितों को चोट पहुँची है। उनका कथन है कि मनुष्य में निहित वासनारूपी पाप को अस्वीकृत करने का अर्थ उस बुराई को ही दृष्टि से ओझल कर देना है, जिसके कारण मानवीय-सम्यता का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। मनुष्य की वासनाएँ हैं, पाप हैं, अनैतिकता है, इस बात को भूलकर हम मानवीय-सम्यता का विनाश करेंगे और उसके प्रति जाग्रत रहकर मानवीय-सम्यता का विकास कर सकेंगे। बबिट बहुत ही ओजपूर्ण शब्दों में कहते हैं कि हममें जैविक-प्रवेग तो बहुत है, आवश्यकता है जैविक-नियन्त्रण की। हमें अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण करना चाहिए। केवल सहानुभूति के नाम पर सामाजिक-एकता नहीं आ सकती। मनुष्यों को सहानुभूति के सामान्य तत्त्व के आधार पर नहीं, वरन् अनुशासन सामान्य तत्त्व के आधार पर ही एक-दूसरे के निकट लाया जा सकता है। सहानुभूति के विस्तार का नैतिक-दर्शन केवल भावनात्मक-मानवतावाद की स्थापना करता है, जबकि आवश्यकता ऐसे ठोस मानवतावाद की है, जो अनुशासन पर बनता है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि भारतीय-आचारदर्शन आत्मसंयम के प्रत्यय को स्वीकार करते हैं। जैन-दर्शन नैतिक-पूर्णता के लिए संयम को आवश्यक मानता है। उसके त्रिविधि साधनापथ में सम्यक् आचरण का भी वही मूल्य है, जो विवेक और भावना का है। दशवैकालिकसूत्र में धर्म को अहिंसा, संयम और तपमय बताया है। अहिंसा और तप भी संयम के ही पोषक हैं इस और इस अर्थ में संयम एक महत्वपूर्ण घटक है। भिक्षु-जीवन और गृहस्थ-जीवन के आचरण में संयम या अनुशासन का सर्वत्र महत्व दिया गया है। महावीर के सम्पूर्ण उपदेश का सार असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति है। इस प्रकार, बबिट का यह दृष्टिकोण जैन-दर्शन के अति निकट है। बबिट का यह कहना भी कि वर्तमान युग के संकट का कारण संयमात्मक मूल्यों का हास है, जैन-दर्शन को स्वीकार है। वस्तुतः, आत्मसंयम और अनुशासन आज के युग की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

न केवल जैन-दर्शन में, वरन् बौद्ध और वैदिक-दर्शनों में भी संयम और अनुशासन को आवश्यक माना गया है। भारतीय नैतिक-चिन्तन में संयम का प्रत्यय सभी आचारदर्शनों में और सभी कालों में बराबर स्वीकृत रहा है। संयममय जीवन भारतीय-संस्कृति की विशेषता रहा है, इसलिए बबिट का यह विचार भारतीय-चिन्तन के लिए कोई नई बात नहीं है।

समकालीन मानवतावादी-विचारकों के उपर्युक्त तीनों सिद्धान्त यद्यपि भारतीय चिन्तन में स्वीकृत हैं, तथापि भारतीय-विचारकों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने इन तीनों को समवेत रूप से स्वीकार किया है। जैन-दर्शन में सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रूप में; बौद्ध-दर्शन में शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में तथा गीता में श्रद्धा, ज्ञान और कर्म के रूप में प्रकारान्तर से इन्हें स्वीकार किया गया है। यद्यपि गीता की श्रद्धा को आत्मचेतनता नहीं कहा जा सकता, तथापि गीता में अप्रमाद के रूप में आत्मचेतनता स्वीकृत है। बौद्ध-दर्शन के इस त्रिविध साधनापथ में समाधि आत्मचेतनता का, प्रज्ञा विवेक का और शील संयम का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार, जैन-दर्शन में सम्यक् दर्शन आत्मचेतनता का, सम्यक्ज्ञान विवेक का और सम्यक्चारित्र संयम का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सत्तावादी-नीतिशास्त्र और जैन-दर्शन

'सत्तावाद' समकालीन दार्शनिक-चिन्तन का एक प्रमुख दार्शनिक-सम्प्रदाय है। किर्कगार्ड, हेडेगर, सार्त्र और जेस्पर्स इस वाद के प्रमुख विचारक हैं। यद्यपि सत्तावादी-विचारकों में किसी सीमा तक मतभेद हैं, तथापि कुछ सामान्य प्रश्नों पर वे सभी एकमत हैं। सत्तावाद की प्रमुख विशेषता यह है कि वह बुद्धिवाद एवं विषयगत चिन्तन का विरोधी है तथा आत्मनिष्ठता और अन्तर्ज्ञान पर अधिक बल देता है। आचार दर्शन-विषयक अनेक प्रश्नों में सत्तावाद जैन-दर्शन के अधिक निकट है, अतः उसका संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

आचारदर्शन को प्रमुखता

जैन-दर्शन के समान सत्तावाद के प्रमुख विचारक किर्कगार्ड भी तत्वमीमांसा में उतनी रुचि नहीं रखते, जितनी आचारदर्शन में। उनकी दृष्टि में केवल सत्, शिव और सुन्दर से ऊँचा नहीं है। नैतिक आत्मसत्ता ही सत् है, क्योंकि वह गत्यात्मक और उदीयमान है तथा व्यक्ति को महीयता प्रदान करती है। नैतिक-आत्मसत्ता का ज्ञान कोरा ज्ञान नहीं है, वरन् उसमें हमारे जीवन को अधिक ऊँचा और महान् बनाने की प्रेरणा भी है। जैन-दर्शन भी निरन्तर तत्त्वज्ञान का विरोधी है। जो तत्त्वज्ञान आत्मविकास की दिशा में नहीं ले जाता, वह निरर्थक ही है। उत्तराध्ययनसूत्र में ऐसे निरर्थक ज्ञान का उपहास किया गया है। जो ज्ञान नैतिक-जीवन से सम्बन्धित नहीं है और नैतिक-जीवन को प्रेरणा नहीं देता, वह ज्ञान सत्तावाद और जैन-आचारदर्शन-दोनों के लिए ही अनावश्यक है। बुद्ध ने भी निरी तत्वमीमांसा की उपेक्षा ही की थी।

वैयक्तिक नीतिशास्त्र

आचारदर्शन की दृष्टि से सभी सत्तावादी-विचारक व्यक्तिवादी हैं। उनकी दृष्टि में आचारदर्शन आत्मसापेक्ष है, परसापेक्ष या समाजसापेक्ष नहीं। नैतिक-आचरण दूसरे लोगों के लिए नहीं, वरन् स्वयं व्यक्ति के लिए है। नैतिकता का अर्थ लोककल्याण नहीं, वरन् आत्मोत्थान है। कर्म की नैतिकता का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाना चाहिए कि उसमें कितनी तीव्र आत्मवेदना या स्व की सत्ता का बोध है, न कि इस आधार

पर कि वह कितना अधिक लोकहितकारी है। सत्तावाद के जनक किर्कगार्ड के अनुसार नैतिकता आत्मकेन्द्रित है। कहा जाता है कि उन्होंने नैतिक-चिन्तन में कोपरनिकसीय क्रान्ति ला दी है। उनके पूर्ववर्ती अधिकांश आचारशास्त्री नैतिकता को परसापेक्ष मानते थे। उनकी दृष्टि में हमारा नैतिक-आचरण दूसरे लोगों के लिए है, यदि हम ऐसे एकान्त स्थान में रहें, जहाँ दूसरा कोई व्यक्ति न हो, तो हमारे लिए नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, लेकिन किर्कगार्ड इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार, नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति को स्वयं की आत्मा से है, न कि अन्य लोगों या समाज से।

जहाँ तक जैन-आचारदर्शन की बात है, निश्चयनय की दृष्टि से वह व्यक्तिवाद का ही समर्थक है। उसकी मान्यता है कि आत्महित ही नैतिक-जीवन का प्रमुख तत्त्व है। आत्महित करते हुए लोकहित सम्भव हो, तो किया जा सकता है, लेकिन यदि, लोकहित और आत्महित में विरोध हो, तो आत्महित करना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार, व्यक्तिवाद के समर्थन में जैन-आचारदर्शन और सत्तावादी-नीतिशास्त्र साथ-साथ चलते हैं। दोनों की दृष्टि में आत्मोत्थान या वैयक्तिक साध्य 'स्व' ही है, जिसकी उपलब्धि ही नैतिक-जीवन का सार है।

अन्तर्मुखी चिन्तन और जैनदर्शन

सत्तावादी-चिन्तक, विशेषरूप से किर्कगार्ड, नैतिकता को अनिवार्यतया आत्म-केन्द्रित मानते हैं। उनकी दृष्टि में सच्चे नैतिक-जीवन का प्रारम्भ आत्मगत चिन्तन या अन्तर्मुखी प्रवृत्ति में होता है। अन्तर्मुखता या आत्माभिमुख होना नैतिकता का प्रवेशद्वार है। जब तक विषयगत चिन्तन है, विषयाभिमुखता है, तब तक विषयगत चिन्तन है, विषयाभिमुखता है, तब तक नैतिक-जीवन में प्रवेश सम्भव नहीं। चिन्तन विषयाभिमुख होने पर उसका स्वयं के जीवन पर कोई प्रभाव नहीं होता, उसमें विचारों की निष्क्रिय भाग-दौड़ होती है। सैद्धान्तिक कहना-सुनना मात्र होता है। आत्मगत-चिन्तन में हम सत्य में ही स्थित होते हैं। उसके अपने शब्दों में किसी बात को सोचना एक बात है और उस सोची हुई बात में रहना दूसरी बात है। किर्कगार्ड इस सम्बन्ध में मृत्यु का उदाहरण देते हैं। उनका

कहना है कि जब तक हम मृत्यु का विषयगत चिन्तन करते हैं, तब तक उसका हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। समाचारपत्रों में लोगों की मृत्यु के समाचार पढ़ते हैं, लोगों को मरते हुए देखते हैं; लेकिन दूसरों की मृत्यु हमें अधिक नहीं खलती है। यदि इसी मृत्यु के विचार से एकदम गम्भीर हो जाते हैं। हमारे आचरण में अन्तर आ जाता है, जीवन में क्रान्ति हो जाती है इस प्रकार, आत्मगत-चिन्तन को नैतिक-जीवन का अनिवार्य तत्व और नैतिक-पथ पर अग्रसर होने का प्रथम चरण मानते हैं।

जैन-आचारदर्शन इस विषय में सत्तावाद का सहगामी हैं। उसके अनुसार भी सच्ची नैतिकता का उद्भव आत्माभिमुख होने पर होता है। जैन-चिन्तन का स्पष्ट निर्देश है कि जितना आत्मरमण है, उतनी नैतिकता है और जितना पररमण है, उतनी अनैतिकता है। पररमण, पुद्गलपरिणति या विषयाभिमुखता अनैतिकता है और आत्मरमण या स्व में अवस्थिति नैतिकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि आत्मा जब स्व-स्वभाव में स्थित होता है, तब वह स्व-समय में (नैतिक) होता है और जब 'पर' पौद्गलिक-कर्मप्रदेशों में स्थित होता हुआ परस्वभावरूप राग-द्वेष-मोह का परिणमन करता है, तब वह पर-समय (अनैतिक) है। इसी जैन-दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए मुनि नथमलजी लिखते हैं कि नैतिकता जब मुझसे भिन्न वस्तु है, तो वह मुझसे परोक्ष होगी और परोक्ष के प्रति मेरा उत्तना लगाव नहीं होगा, जितने की उससे अपेक्षा होती है। वह (नैतिकता) मुझमें अभिन्न होकर ही मेरे स्व में धुल सकती है। सात्त्य्य हुए बिना कोई औषध भी परिणामजनक नहीं होती, तब नैतिकता की परिणति कैसे होगी? नैतिकता उपदेश्य नहीं है, वह स्वयंप्रसूत है। स्व-परोक्षता का नाम ही अन-आध्यात्मिकता है। इसकी परिधि में व्यक्ति पूर्ण नैतिक नहीं बन पाता, इसीलिए महावीर ने कहा था कि जो आत्मरमण है, वह अहिंसा है, जितना बाह्य-रमण है, वह हिंसा है। इसी सत्य की इन शब्दों में पुनरावृत्ति की जा सकती है कि जितनी आत्म-प्रत्यक्षता है, वह नैतिकता है और जितनी आत्म-परोक्षता है, वह अनैतिकता है।

जैन-दर्शन का सम्यक्दृष्टित्व सत्तावादी-दर्शन के आत्मगत-चिन्तन, आत्माभिमुखता, आत्म-अवस्थिति का ही पर्यायवाची है। जिस प्रकार

सत्तावादी- दर्शन में आत्मगत-चिन्तन से नैतिक-जीवन का द्वार उद्घाटित होता है, उसी प्रकार जैन-दर्शन में सम्यक्दृष्टि की उपलब्धि से ही नैतिक-जीवन का प्रवेशद्वार खुलता है। आत्माभिमुख होना ही सम्यक्दर्शन की उपलब्धि का सही स्वरूप है। दोनों में वास्तविक समानता है। विशेषावश्यक भाष्य में भी कहा गया है कि धर्म और अधर्म का आधार आत्मा की अपनी परिणति ही है, दूसरों की प्रसन्नता या नाराजगी नहीं। आत्माभिमुखता के लिए किर्कगार्ड के समान जैन आचार्यों ने भी स्वयं की मृत्यु के विचार का उदाहरण दिया है। जैन आचार्य भी यह मानते हैं कि स्वयं की मृत्यु का विचार समग्र जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला देता है।

दुःखमयता का बोध

किर्कगार्ड के अनुसार जब हम अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी करते हैं और अपनी आन्तरिक-सत्ता का विचार करते हैं, तो एक ओर हम अपनी अन्तः चेतना को अक्षुण्ण आनन्द, अनन्त शक्ति, शाश्वत जीवन और पूर्णता की सजीव कल्पना से अभिभूत पाते हैं; तो दूसरी ओर हमें अपने वर्तमान जीवन की क्षुद्रता दुःखमयता और अपूर्णता का बोध होता है। इसी अन्तर्विरोध में विषाद या वेदना का जन्म होता है। यही विषाद या दुःखबोध सत्तावादी-दर्शन में नैतिक प्रगति का प्रथम चरण है।

जैन-आचारदर्शन में भी वर्तमान जीवन की दुःखमयता एवं क्षुद्रता का बोध आध्यात्मिक-प्रगति के लिए आवश्यक माना गया है। जैन-दर्शन में प्रतिपादित अनुप्रेक्षाओं में अनित्यभावना, अशरणभावना और अशुचिभावना के प्रत्यय इसी विषाद की तीव्रतम अनुभूति पर बल देते हैं। बौद्ध-दर्शन में भी इसी दुःखबोध के प्रत्यय को प्रथम आर्यसत्य माना गया है। गीता के आचारदर्शन भी सत्तावाद के साथ इस विषय में भी एकमत हैं कि वर्तमान अपूर्णता एवं नश्वरता से प्रत्युपन्न विषाद या दुःख की तीव्रतम अनुभूति ही नैतिक-साधना का प्रथम चरण है। यह वह प्यास या अभीप्सा है, जो मनुष्य को सत्य या परमात्मा के निकट ले जाती है। तीव्रतम प्यास से पानी की खोज प्रारम्भ होती है, दुःख की वेदना में ही शाश्वत आनन्द की खोज का प्रयत्न प्रारम्भ होता है। शाश्वत आनन्द पदार्थों के भोग में

नहीं है।

किर्कगार्ड के अनुसार यदि विषाद या दुःखानुभूति क्षणिक है, तो व्यक्ति बाह्य-संसार में सापेक्ष वस्तुगत सुखों के भोग में अनुराग लेने लगता है, लेकिन बाह्य सांसारिकसुख और आन्तरिक अनन्त आनन्द-दोनों को एक साथ प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह अपनी प्रसिद्ध पुस्तक " " में कहता है कि या तो हम सांसारिक-सुखों के भोग में अनुरक्त रहें और आत्मगत निरपेक्ष आनन्द को प्राप्त न करें, सांसारिक वस्तुगत सापेक्ष-सुखों को छोड़कर परम आनन्द की उपलब्धि करने हेतु जैसे-जैसे व्यक्ति को भोगमय जीवन की अपूर्णता और हीनता का बोध होने लगता है, वैसे-वैसे वह अन्तर्मुखी होता जाता है और निरपेक्ष आनन्द-सत् और शुभ के प्रति उसकी अभिरुचि बढ़ती जाती है। इस प्रकार, सत्तावाद के अनुसार जीवन का सार बाह्य वस्तुगत सुख नहीं, वरन् शाश्वत, अनन्त, पूर्ण और निरपेक्ष आत्मिक-आनन्द है।

जैन-आचारदर्शन भी सत्तावाद के समान जीवन का परमसाध्य वस्तुगत नश्वर सुखों को नहीं, वरन् शाश्वत आत्मिक-आनन्द को ही स्वीकार करता है। जैन-विचारकों ने भी भौतिक सुखों को क्षणिक और दुःखपूर्ण मानकर उनके परित्याग का ही निर्देश दिया है। यद्यपि यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन-दर्शन और किर्कगार्ड-दोनों ही यह मानते हैं कि भौतिक-जीवन एवं शरीर की पूर्ण उपेक्षा सम्भव नहीं है। किर्कगार्ड के अनुसार मनुष्य को कम से कम ईश्वर का सान्निध्य और आनन्द प्राप्त करने के लिए तो शरीर को स्वस्थ रखना पड़ेगा और इसलिए थोड़ा-बहुत ईश्वर को भूलकर भी शरीर का रक्षण किया जाता है। यद्यपि शरीर-रक्षा एवं भौतिक-जीवन के जीने में कुछ समय के लिए परमात्मा के सान्निध्य से दूर हो जाते हैं, लेकिन ये वंचित क्षण व्यक्ति में तीव्र आत्मग्लानि पैदा करते हैं और व्यक्ति पुनः उस अवस्था में लौट जाना चाहता है। जैन-आचारदर्शन के गुणस्थान-सिद्धान्त में इसी तथ्य को अत्यन्त सूक्ष्मता से समझाया या है। उसमें बताया गया है कि सच्चा साधक (अप्रमत्त मुनि) सदैव ही आत्मरमण में लीन रहता है, लेकिन वह भी दैहिक-क्रियाओं के निमित्त उस आत्मरमण के अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान से नीचे

प्रमत्तसंयम-गुणस्थान में उतर जाता है और दैहिक-क्रियाओं से निवृत्त हो पुनः साधना की अग्रिम भूमिका पर प्रस्थित हो जाता है।

मार्क्सवाद और जैन-आचारदर्शन

यह कहा जाता है कि वर्तमान में साम्यवादी दर्शन नीति की मूल्यवत्ता को अस्वीकार करता है, किन्तु इस सम्बन्ध में मार्क्स के अनुयायी लेनिन का वक्तव्य द्रष्टव्य है। वे कहते हैं कि 'प्रायः यह कहा जाता है कि हमारा अपना कोई नीतिशास्त्र नहीं है; बहुधा मध्यवित्तीय वर्ग कहता है कि हम सब प्रकार के नीतिशास्त्र का खण्डन करते हैं, (किन्तु) उनका यह तरीका विचारकों को भ्रष्ट करना है, श्रमिकों और कृषकों की आँख में धूल झाँकना है। हम उनका खण्डन करते हैं, जो ईश्वरीय-आदेशों से नीतिशास्त्र को आविर्भूत करते हैं। हम कहते हैं कि यह धोखाधड़ी है और श्रमिकों और कृषकों के मस्तिष्कों को पूँजीपतियों और भूपतियों के स्वार्थ के लिए सन्देह में डालना है। हम कहते हैं कि हमारा नीतिशास्त्र सर्वहारा वर्ग के वर्गसंघर्ष के हितों के अधीन है; जो शोषक समाज को नष्ट करे, जो श्रमिकों को संगठित करे और साम्यवादी समाज की स्थापना करे, वही नीति है (शेष सब अनीति है)।' इस प्रकार, साम्यवादी दर्शन नैतिक मूल्यों का मूल्यान्तरण तो करता है, किन्तु स्वयं नीति की मूल्यवत्ता का निषेध नहीं करता; वह उस नीति का समर्थक है, जो अन्याय एवं शोषण की विरोधी है और सामाजिक-समता की संस्थापक है, जो पीड़ित और शोषित को अपना अधिकार दिलाती है और सामाजिक-न्याय की स्थापना करती है।

यह ठीक है कि मार्क्स भौतिकवादी है, किन्तु वह भौतिकवादी-दर्शन, जो सामाजिक एवं साहचर्य के मूल्यों का समर्थक है, नीति की मूल्यवत्ता का निषेधक नहीं हो सकता है। यदि हम मनुष्य को एक विवेकवान् सामाजिक-प्राणी मानते हैं, तो हमें नैतिक-मूल्यों को अवश्य स्वीकार करना होगा। वस्तुतः, नीति का अर्थ है किन्हीं विवेकपूर्ण साध्यों की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक और सामाजिक-जीवन में आचार और व्यवहार के किन्हीं ऐसे आदर्शों एवं मर्यादाओं की स्वीकृति, जिनके अभाव में मानव की मानवता और मानवीय समाज का अस्तित्व ही खतरे में होगा। यदि नीति की मूल्यवत्ता का निषेध कोई दृष्टि कर सकती है, तो वह मात्र पाशविक

भोगवादी-दृष्टि है; यह दृष्टि मनुष्य को एक पशु से अधिक नहीं मानती है। यह सत्य है कि यदि मनुष्य मात्र पशु है, तो नीति का कोई अर्थ नहीं है, किन्तु क्या आज मनुष्य का अवमूल्यन पशु के स्तर पर किया जा सकता है? क्या मनुष्य निरा पशु है? यदि मनुष्य निरा पशु होता, तो निश्चय ही उसके लिए नीति की कोई आवश्यकता नहीं होती, किन्तु आज का मनुष्य पशु नहीं है। उसकी सामाजिकता उसके स्वभाव से निस्सृत है, अतः उसके लिए नीति की स्वीकृति आवश्यक है। मार्क्सवाद और जैन-दर्शन सामाजिक न्याय और समता पर बल देते हैं, फिर भी दोनों में कुछ आधारभूत भिन्नताएँ हैं, जिन पर विचार कर लेना आवश्यक है।

भौतिक एवं आध्यात्मिक आधारों में अन्तर- मार्क्स नैतिकता की व्याख्या द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद के आधार पर करते हैं, अतः उनके नैतिक-आदर्श के निर्धारण में आध्यात्मिकता का कोई स्थान नहीं है। मार्क्सवाद का आधार भौतिक है, जबकि जैन-दर्शन में नैतिकता का आधार आध्यात्मिकता है। नैतिकता के लिए आध्यात्मिक आधार इसलिए आवश्यक है कि उसके अभाव में नैतिकता के लिए कोई आन्तरिक आधार नहीं मिल पाता है। संकोच, भय, लज्जा और कानून-ये सब अनैतिकता के प्रतिषेध हैं, लेकिन ये बाह्य हैं। उसका वास्तविक प्रतिषेध केवल अध्यात्म ही हो सकता है। अध्यात्म सब प्रतिषेधों का प्रतिषेध है, वह नैतिक-जीवन का सर्वोच्च प्रहरी है। आध्यात्मिकता ही एक ऐसा आधार है, जिसमें नैतिकता बाहर से थोपी नहीं जाती, अपितु अन्दर से विकसित होती है। भौतिकवाद में स्वार्थ के निवारण का कोई वास्तविक आधार नहीं है। आध्यात्मिकता ही एक ऐसा आधार है, जो व्यक्ति को स्वार्थ से पूर्णतया ऊपर उठा सकता है। जहाँ व्यक्ति को भौतिक स्पर्धाओं में से गुजरने की छूट है और भौतिक विकास ही परम लक्ष्य है, वहाँ व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को समाज में विलीन नहीं कर सकता। जब तक व्यक्ति अपने को समाज में विलीन नहीं कर सकता, वह स्वार्थ से ऊपर भी नहीं उठ सकता, अतः नैतिक-जीवन के लिए आध्यात्मिक आधार अपेक्षित हैं।

आर्थिक एवं धार्मिक-दृष्टिकोण में अन्तर- मार्क्सवादी नैतिक-दर्शन के अनुसार आर्थिक-क्रियाएँ ही समग्र मानवीय-चिन्तन और प्रगति की

केन्द्र हैं। धर्म, दर्शन, कला एवं सामाजिक-संस्थाएँ, सभी विकासमान आर्थिक-प्रक्रिया पर आश्रित हैं और इसी विकासमान आर्थिक-प्रक्रिया में ही नैतिक-प्रत्ययों की सार्थकता निहित है। इस प्रकार, साम्यवादी-दृष्टिकोण अर्थप्रधान है, लेकिन इसके विपरीत, जैन-दर्शन के अनुसार नैतिक-प्रगति का केन्द्र आत्मा है। मार्क्सवाद अपने नैतिक-दर्शन में अध्यात्म एवं धर्म को इसलिए कोई स्थान नहीं देना चाहता कि अध्यात्म तथा धर्म की ओट में बुराईयाँ पनपती हैं, लेकिन यदि धार्मिक एवं आध्यात्मिक-जीवन बुराइयों के पनपने की सम्भावना के कारण त्याज्य है, तो फिर आर्थिक-जीवन में भी तो बुराईयाँ पनपती हैं, उसे क्यों नहीं छोड़ा जाता? मार्क्सवादी-दर्शन जिस भय से धार्मिक एवं आध्यात्मिक-जीवन का परित्याग करता है, जैन-दर्शन उसी भय से अर्थप्रधान-जीवन को हेय मानता है। वास्तविक दृष्टि यह होनी चाहिए कि जिन कारणों से बुराइयों का निराकरण करना साम्यवाद या मार्क्सवाद का ध्येय है, उसी प्रकार ही जैन-दर्शन धर्म एवं अध्यात्म के क्षेत्र की बुराइयों के निराकरण का प्रयास करता है। दोनों ही बुराइयों के निराकरण के लिए प्रयत्नशील हैं, परन्तु दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। फिर भी, जैन-दर्शन आर्थिक-क्षेत्र में उत्पन्न बुराइयों के निराकरण को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करता। वह आर्थिक-क्षेत्र की बुराइयों का मूल कारण व्यक्ति के आध्यात्मिक-पतन में ही देखता है और उसके निराकरण का प्रयत्न करता है। वस्तुतः, सामाजिक-विषमता का मूल आर्थिक-जीवन में नहीं, वरन् आध्यात्मिक-जीवन में ही है। यदि आर्थिक-विकास ही सामाजिक-व्यवस्था के परिवर्तन का आधार है, तो आज के सम्पन्न राष्ट्र अर्थलोलुपता से मुक्त क्यों नहीं हैं? आज के सम्पन्न व्यक्ति एवं राष्ट्र उतने ही अर्थलोलुप हैं, जितने आदिम युग के कबीले थे। अतः सामाजिक-विषमता का निराकरण अर्थप्रधान-दृष्टि में नहीं, वरन् हमारी आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवन-दृष्टि में ही सम्भव है।

भोगमय एवं त्यागमय जीवनदृष्टि में अन्तर- मार्क्सवादी नैतिक-दर्शन और जैन-आचारदर्शन में एक मौलिक अन्तर यह है कि जहाँ जैन-दर्शन संयम पर जोर देता है, वहाँ साम्यवाद में संयम या वासनाओं के नियन्त्रण का कोई स्थान नहीं है। भोगमय-दृष्टि में

साम्यवादी-दृष्टिकोण और पूंजीवादी-दृष्टिकोण समान हैं। दोनों ही उद्दाम वासनाओं की पूर्ति में अविराम गति से लगे हुए हैं। दोनों ही जीवन की आवश्यकताओं और लालसाओं में अन्तर स्पष्ट नहीं कर पा रहे हैं, लेकिन विलासिता की दृष्टि से आज तक कोई भी व्यक्ति एवं समाज अपने को शोषण, उत्पीड़न और क्रूरता से नहीं बचा सका है। आज की कठिनाई सम्भवतः यह है कि हम जीवन की आवश्यकताओं एवं विलासिता में अन्तर नहीं कर पा रहे हैं। सात्यवादी अथवा भौतिकवादी-दृष्टि में जीवन की आवश्यकता की परिभाषा यह है कि आवश्यकता समाज के द्वारा अनुमोदित होनी चाहिए। समाज को समानता के स्तर पर विलासी बनने का मौका मिले, तो मार्क्सवादी एवं भौतिकवादी-विचारक उसे दुकराने के पक्ष में नहीं हैं। इसके विपरीत, जैन-दर्शन की दृष्टि में आवश्यकता का तात्पर्य इतना ही है कि जो जीवन को बनाए रखे और व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास को कुण्ठित न करे। जैन-दर्शन न केवल आवश्यकता के परिसीमन पर जोर देता है, वरन् वह यह भी कहता है कि हमें जीवन की अनिवार्यताओं तथा तृष्णा (लालसा) के अन्तर को स्पष्ट रूप से जानना चाहिए। वस्तुतः, सामाजिक-विषमता का निराकरण वासनाओं की पूर्ति के प्रयत्नों से नहीं, अपितु वासनाओं के संयम से ही सम्भव है; क्योंकि तृष्णा की पूर्ति कभी भी सम्भव नहीं। सामाजिक-समत्व का विकास संयम से ही हो सकता है।

इन भिन्नताओं के होते हुए भी दोनों में बहुत-कुछ समानताएँ हैं।

मानव-मात्र की समानता में आस्था- जैन-दर्शन और साम्यवाद-दोनों ही मानव-मात्र की समानता में निष्ठा रखते हैं। दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को जीने का समान अधिकार है। अपनी सुख-सुविधाओं के लिए दूसरे का शोषण अनैतिक है।

संग्रह की प्रवृत्ति का विरोध- साम्यवाद और जैनदर्शन-दोनों ही संग्रह की वृत्ति को अनुचित मानते हैं। दोनों के अनुसार संग्रह एवं वैयक्तिक-परिग्रह सामाजिक-जीवन के अभिशाप हैं। जैन-दर्शन का परिग्रहपरिमाणव्रत अहिंसक-साम्यवाद की स्थापना का प्रथम सोपान है। जैन-दर्शन न केवल परिग्रह की मर्यादा पर जोर देता है, बल्कि यह भी

कहता है कि सामाजिक-जीवन में समान वितरण भी आवश्यक है। बुद्ध और महावीर के द्वारा अपने भिक्षुसंघ में प्रतिपादित यह नियम कि 'उपलब्धियों का संविभाग करके भोग करना चाहिए', समवितरण के सिद्धान्त का प्रयोग ही था। इस प्रकार, वैयक्तिक-परिग्रह की मर्यादा और समवितरण, साम्यवाद और जैन-दर्शन दोनों को स्वीकृत है।

समत्व का संस्थापन- जैन-आचारदर्शन और साम्यवादी-चिन्तन-दोनों समत्व की संस्थापना को आवश्यक मानते हैं। यद्यपि साम्यवाद आर्थिक-समानता को ही महत्वपूर्ण मानता है। उसके लिए समानता का अर्थ है- शोषणरहित समाज-व्यवस्था। जैन-दर्शन मानसिक-समत्व की स्थापना पर बल देता है। 'साम्य' दोनों को अभिप्रेत है, फिर भी साम्यवाद में साम्य का अर्थ भौतिक या आर्थिक-साम्य है, जबकि जैन-दर्शन में साम्य का अर्थ चैतसिक-साम्य है। जैन-दर्शन में साम्य के संस्थापनका सूत्र प्रत्येक व्यक्ति की मनोभूमि से प्रारम्भ होकर सामाजिक जीवन में अभिव्यक्त होता है। साम्यवाद में समत्व का संस्थापन सामूहिक प्रयत्न से होता है, वह सामाजिक-साधना है।

समत्व नैतिकता का प्रमापक- साम्यवाद में वे कर्म नैतिक माने जाते हैं, जो आर्थिक-क्षेत्र में समत्व की स्थापना करते हैं, जो सामाजिक एवं आर्थिक समानता को बनाए रखते हैं तथा जो शोषण को समाप्त करते हैं। जैन-दर्शन में भी वे कर्म नैतिक माने जाते हैं, जो समत्व को नैतिकता का प्रमापक मानते हैं, यद्यपि दोनों का साम्य का अर्थ थोड़ा भिन्न है। साम्यवाद का परमशुभ शोषणरहित वर्गविहीन साम्यवादी-समाज की रचना है, जबकि जैन-दर्शन का परमशुभ समभाव या वीतरागदशा की प्राप्ति है। फिर भी, दोनों के लिए समत्व, समानता या समता के प्रत्यय समान रूप से नैतिकता के प्रमापक हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन-दर्शन और साम्यवादी-विचारधारा कुछ अर्थों में एक-दूसरे के निकट हैं। महावीर और बुद्ध की भिक्षुसंघ-व्यवस्था साम्यमूलक समाज-व्यवस्था का ही एक रूप थी, जिसमें योग्यता के अनुरूप कार्य या साधना और आवश्यकता के अनुरूप उपलब्धि का सिद्धान्त भी किसी रूप में स्वीकृत था। फिर भी बाह्य-रूप

में दोनों में जिस समानता पर बल दिया गया है, उसके आधार भिन्न-भिन्न हैं। साम्यवाद प्रमुख रूप से भौतिक एवं सामाजिक-दृष्टिकोण पर जोर देता है, जबकि जैन-दर्शन आध्यात्मिक ओर व्यक्तिवादी-दृष्टिकोण पर जोर देता है। जैन-दर्शन का प्रमुख प्रत्यय 'साम्यवाद' नहीं, वरन् साम्ययोग है।

डब्ल्यू.एम. अरबन का आध्यात्मिक-मूल्यवाद और जैन-दर्शन

अरबन के अनुसार मूल्यांकन एक निर्णयात्मक-प्रक्रिया है, जिसमें सत् के प्रति प्राथमिक विश्वासों के ज्ञान का तत्त्व भी होता है। इसके साथ ही उसमें भावात्मक तथा संकल्पात्मक-अनुक्रिया भी है। मूल्यांकन संकल्पात्मक-प्रक्रिया का भावपक्ष है। अरबन मूल्यांकन की प्रक्रिया में ज्ञानपक्ष के साथ-साथ भावना एवं संकल्प की उपस्थिति भी आवश्यक मानते हैं। मूल्यांकन में निरन्तरता का तत्त्व उनकी प्रामाणिकता का आधार है। जितनी अधिक निरन्तरता होगी, उतना ही अधिक वह प्रामाणिक होगा। मूल्यांकन और मूल्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए अरबन कहते हैं कि मूल्यांकन मूल्य को निर्धारित नहीं करता, वरन् मूल्य ही अपनी पूर्ववर्ती वस्तुनिष्ठता के द्वारा मूल्यांकन को निर्धारित करते हैं।

अरबन के अनुसार मूल्य न कोई गुण है, न वस्तु या सम्बन्ध। वस्तुतः, मूल्य अपरिभाष्य है, तथापि उसकी प्रकृति को उसके सत्ता से सम्बन्ध के आधार पर जाना जा सकता है। वह सत्ता और असत्ता के मध्य स्थित है। अरबन मिनांग के समान उसे वस्तुनिष्ठ कहता है। उसका अर्थ 'होना चाहिए' में है। मूल्य सदैव अस्तित्व का दावा करते हैं, लेकिन उनका सत् होना इसी पर निर्भर है कि सत् को ही मूल्य के उस रूप में विवेचित किया जाए, जिसमें सत्ता और अस्तित्व भी हों।

मूल्य की वस्तुनिष्ठता के दो आधार हैं— प्रथम यह कि प्रत्येक वस्तुविषय मूल्य की विधा में आता है और दूसरे, प्रत्येक मूल्य उच्च और निम्न के क्रम से स्थित है। अरबन के अनुसार मूल्यों की अनुभूति उनकी किसी क्रम में अनुभूति है, यह बिना मूल्यों में पूर्वापरता माने, केवल मनोवैज्ञानिक अवस्था पर निर्भर नहीं हो सकती।

नैतिक मूल्य— मूल्य की सामान्य चर्चा के बाद अरबन नैतिक-मूल्य

पर आते हैं। अरबन के अनुसार नैतिक-दृष्टि से मूल्यवान् होने का अर्थ है— मनुष्य के लिए मूल्यवान् होना। नैतिक-शुभत्व मानवीय-मूल्यांकन के सिद्धान्त पर निर्भर है। मानवीय-मूल्यांकन के सिद्धान्त को कुछ लोगों ने आकारित-नियमों की अवस्था के रूप में और कुछ लोगों ने सुख की गणना के रूप में देखा था, लेकिन अरबन के अनुसार मानवीय मूल्यांकन के सिद्धान्त का तीसरा एकमात्र सम्भावित विकल्प है— 'आत्मसाक्षात्कार'। आत्मसाक्षात्कार के सिद्धान्त के समर्थन में अरबन अरस्तू की तरह की तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि वस्तुओं का शुभत्व उनकी कार्यकुशलता में है, अंगों का शुभत्व जीवन में उनके योगदान में है और जीवन का शुभत्व आत्मपूर्णता में है। मनुष्य एक चेतन 'आत्म' है और यदि यह सत्य है, तो फिर मानव का वास्तविक शुभ उसकी आत्मपरिपूर्णता में ही निहित है। अरबन की यह दृष्टि जैन-परम्परा के अति निकट है, जो यह स्वीकार करती है कि आत्मपूर्णता ही नैतिक-जीवन का लक्ष्य है।

अरबन के अनुसार 'आत्म' सामाजिक-जीवन से अलग कोई व्यक्ति नहीं है, वरन् वह तो सामाजिक-मर्यादाओं में बँधा हुआ है और समाज को अपने मूल्यांकन से और अपने को सामाजिक-मूल्यांकन से प्रभावित पाता है। इस सम्बन्ध में जैन-दृष्टिकोण थोड़ा भिन्न है, क्योंकि जैन-परम्परा व्यक्तिवाद के अधिक निकट है।

अरबन के अनुसार स्वहित और परहित की समस्या का सही समाधान न तो परिष्कारित स्वहितवाद में है और न बौद्धिक-परहितवाद में है, वरन् सामान्य शुभ की उपलब्धि के रूप में स्वहित और परहित से ऊपर उठ जाने में है। यह दृष्टिकोण जैन-परम्परा में भी ठीक इसी रूप में स्वीकृत रहा है। जैन-परम्परा भी स्वहित और लोकहित की सीमाओं से ऊपर उठ जाना ही नैतिक-जीवन का लक्ष्य मानती है।

अरबन इस समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करते हैं कि मूल्यांकन करने वाली मानवीय-चेतना के द्वारा यह कैसे जाना जाए कि कौन-से मूल्य उच्च कोटि के हैं और कौन से मूल्य निम्न कोटि के? अरबन इसके तीन सिद्धान्त बताते हैं—

पहला सिद्धान्त यह है कि साध्यात्मक या आन्तरिक-मूल्य साधनात्मक

या बाह्य मूल्यों की अपेक्षा उच्च हैं। दूसरा सिद्धान्त यह है कि अस्थायी मूल्यों की अपेक्षा स्थायीमूल्य उच्च हैं और तीसरा सिद्धान्त यह है कि उत्पादक-मूल्य अनुत्पादक-मूल्यों की अपेक्षा उच्च हैं।

अरबन इन्हें व्यावहारिक-विवेक के सिद्धान्त या मूल्य के नियम कहते हैं। ये हमें बताते हैं कि आंगिक-मूल्यों, जिनमें आर्थिक, शारीरिक और मनोरंजनात्मक मूल्य समाहित हैं, की अपेक्षा सामाजिक-मूल्य, जिसमें साहचर्य और चारित्र के मूल्य भी समाहित हैं, उच्च प्रकार के हैं। उसी प्रकार, सामाजिक-मूल्यों की अपेक्षा आयात्मिक-मूल्य, जिनमें बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक और धार्मिक-मूल्य भी समाहित हैं, उच्च प्रकार के हैं।

अरबन की दृष्टि में मूल्यों की इसी क्रम-अवस्था के आधार पर आत्मसाक्षात्कार के स्तर हैं। आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रस्थित आत्मा की पूर्णता उस स्तर पर है, जिसे मूल्यांकन करने वाली चेतना सर्वोच्च मूल्य समझती है और सर्वोच्च मूल्य वह है, जो अनुभूति की पूर्णता में तथा जीवन के सम्यक् संचालन में सबसे अधिक योगदान करता है। जैन-दृष्टि में इसे हम वीतरागता और सर्वज्ञता की अवस्था कह सकते हैं।

एक अन्य आध्यात्मिक मूल्यवादी-विचारक डब्ल्यू.आर. साली जैन-परम्परा के निकट आकर यह कहते हैं कि नैतिक-पूर्णता ईश्वर के समान बनने में है, किन्तु जैन-परम्परा इससे भी आगे बढ़कर यह कहती है कि नैतिक-पूर्णता परमात्मा बनने में ही है। आत्मा से परमात्मा, जीव से जिन, साधक से सिद्ध, अपूर्ण से पूर्ण की उपलब्धि में ही नैतिक-जीवन की सार्थकता है।

अरबन की मूल्यों की क्रम-व्यवस्था भी जैन-परम्परा के दृष्टिकोण के निकट ही है। जैन एवं अन्य भारतीय-दर्शनों में भी अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष-पुरुषार्थों में यही क्रम स्वीकार किया गया है। अरबन के आर्थिक-मूल्य अर्थपुरुषार्थ के, शारीरिक एवं मनोरंजनात्मक-मूल्य कामपुरुषार्थ के, साहचर्यात्मक और चारित्रिक-मूल्य धर्मपुरुषार्थ के तथा सौन्दर्यात्मक, ज्ञानात्मक और धार्मिक-मूल्य मोक्षपुरुषार्थ के तुल्य हैं।

भारतीय-दर्शनों में जीवन के चार मूल्य

जिस प्रकार पाश्चात्य-आचारदर्शन में मूल्यवाद का सिद्धान्त लोकमान्य

है, उसी प्रकार भारतीय नैतिक-चिन्तन में पुरुषार्थ का सिद्धान्त, जो कि जीवन-मूल्यों का ही सिद्धान्त है, पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। भारतीय-विचारकों ने जीवन के चार पुरुषार्थ या मूल्य माने हैं-

1. अर्थ (आर्थिक-मूल्य)- जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आवश्यकता होती है; अतः दैहिक-आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले इन साधनों को उपलब्ध करना ही अर्थपुरुषार्थ है।

2. काम (मनोदैहिक-मूल्य)- जैविक-आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाना अर्थपुरुषार्थ और उन साधनों का उपयोग करना काम-पुरुषार्थ है। दूसरे शब्दों में, विविध इन्द्रियों के विषयों का भोग कामपुरुषार्थ है।

3. धर्म (नैतिक-मूल्य)- जिन नियमों के द्वारा सामाजिक-जीवन या लोकव्यवहार सुचारु रूप से चले, स्व-पर कल्याण हो और जो व्यक्ति को आध्यात्मिक-पूर्णता की दिशा में ले जाए, वह धर्मपुरुषार्थ है।

4. मोक्ष (आध्यात्मिक-मूल्य)- आध्यात्मिक-शक्तियों का पूर्ण प्रकटीकरण मोक्ष है।

1. जैन-दृष्टि में पुरुषार्थचतुष्टय

सामान्यतया, यह समझा जाता है निवृत्तिप्रधान जैन-दर्शन में मोक्ष ही एकमात्र पुरुषार्थ है। धर्म-पुरुषार्थ की स्वीकृति उसके मोक्षानुकूल होने में ही है। अर्थ और काम-इन दो पुरुषार्थों का उसमें कोई स्थान नहीं है। जैनविचारकों के अनुसार अर्थ अनर्थ का मूल है, सभी काम दुःख उत्पन्न करने वाले हैं, लेकिन यह विचार एकांगी ही माना जाएगा। कोई भी जिनवचन एकान्त या निरपेक्ष नहीं है। जैन-विचारकों ने सदैव ही यह माना है कि व्यक्ति को स्वपुरुषार्थ से उपार्जित सम्पत्ति के भोग करने का अधिकार है। दूसरों के द्वारा उपार्जित सम्पत्ति के भोग करने का उसे कोई अधिकार नहीं। गौतमकुलक में कहा गया है कि पिता के द्वारा उपार्जित लक्ष्मी निश्चय ही पुत्र के लिए बहन होती है और दूसरों की लक्ष्मी परस्त्री के समान होती है, दोनों का ही भोग वर्जित है, अतः स्वयं अपने पुरुषार्थ से धन का उपार्जन करके ही उसका भोग करना न्यायसंगत है। जैनाचार्यों ने विभिन्न वर्ण के लोगों को किन-किन साधनों से धनार्जन करना चाहिए, इसका भी निर्देश किया है। ब्राह्मणों को मुख (विद्या) से,

क्षत्रियों को असि (रक्षण) से, वणिकों को वाणिज्य से और कर्मशील व्यक्तियों को शिल्पादि कर्म से धनार्जन करना चाहिए, क्योंकि इन्हीं की साधना में उनकी लक्ष्मी का निवास है। यद्यपि यह सही है कि मोक्ष या निर्वाण की उपलब्धि में जो अर्थ और काम बाधक हैं, वे जैनदृष्टि के अनुसार अनाचरणीय एवं हेय हैं, लेकिन जैन-दर्शन यह कभी नहीं कहता कि अर्थ और काम पुरुषार्थ एकान्त रूप से हेय हैं। यदि वे एकांत रूप से हेय होते, तो आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव स्त्रियों की 64 और पुरुषों की 72 कलाओं का उपदेश क्यों देते। ये कलाएँ पुरुषार्थ से सम्बन्धित हैं। न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और वैवाहिक मर्यादानुकूल काम का जैन-विचारणा में समुचित स्थान है। जैन विचारकों ने जिसके त्याग पर बल दिया है, वह इन्द्रिय-विषयों का भोग नहीं, भोगों के प्रति आसक्ति, या राग-द्वेष की वृत्ति है। जैन-मान्यता के अनुसार कर्म-विपाक से उपलब्ध भोगों से बचा नहीं जा सकता। इन्द्रियों के सम्मुख उनके विषय उपस्थित होने पर उनके आस्वाद से भी बचना सम्भव नहीं है, जो सम्भव है, वह यह कि उनमें राग-द्वेष की वृत्ति न रखी जाए। इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने जीवन के वासनात्मक एवं सौन्दर्यात्मक-पक्ष को धर्मोन्मुखी बनाने तथा उनके पारस्परिक-विरोध को समाप्त करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार, मोक्षाभिमुख परस्पर अविरोध में रहे हुए सभी पुरुषार्थ आचरणीय हैं। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि गृहस्थ-उपासक धर्मपुरुषार्थ, अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ का इस प्रकार आचरण करे कि कोई किसी का बाधक न हो।

आचार्य भद्र (2री शताब्दी) ने भी हेमचन्द्र के पूर्व ही इस बात की उद्घोषणा कर दी थी कि जैन-परम्परा में तो पुरुषार्थ-चतुष्टय अविरोध-भाव से रहते हैं। आचार्य बड़े ही स्पष्ट एवं मार्मिक-शब्दों में लिखते हैं कि धर्म, अर्थ और काम को भले ही अन्य कोई विचारक परस्पर विरोधी मानते हों, किन्तु जिनवाणी के अनुसार तो वे कुशल अनुष्ठान में अवतरित होने के कारण परस्पर असप्तन (अविरोधी) हैं। अपनी-अपनी भूमिका के योग्य विहित अनुष्ठानरूप धर्म, स्वच्छाशय प्रयुक्त अर्थ और विस्मयुक्त अर्थात् मर्यादानुकूल वैवाहिक-नियन्त्रण से स्वीकृत काम, जिनवाणी के अनुसार

परस्पर अविरोधी हैं। ये पुरुषार्थ परस्पर अविरोधी तभी होते हैं, जब वे मोक्षाभिमुख होते हैं। और जब वे मोक्षाभिमुख होकर परस्पर अविरोध की स्थिति में हों, असपत्न हों, तो वे सम्यक् होते हैं, इसलिए आचरणीय होते हैं, किन्तु जब मोक्ष-मार्ग से विमुख होकर पुरुषार्थ-चतुष्टय परस्पर विरोध में होते हैं, तब वे असम्यक् या अनुचित एवं अनाचरणीय होते हैं।

2. बौद्ध-दर्शन में पुरुषार्थचतुष्टय

भगवान् बुद्ध यद्यपि निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा के अनुगामी हैं, तथापि उनके विचारों में अर्थ एवं काम-पुरुषार्थ के सम्बन्ध में भी दिशाबोध उपलब्ध है। दीघनिकाय में अर्थ की उपलब्धि के लिए श्रम करते रहने का सन्देश उपलब्ध होता है। बुद्ध कहते हैं, आज बहुत सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, अब तो सन्ध्या (देर) हो गई, इस प्रकार श्रम से दूर भागता हुआ मनुष्य धनहीन हो जाता है, किन्तु जो सर्दी-गर्मी आदि को सहकर कठोर परिश्रम करता है, वह कभी सुख से वंचित नहीं होता। जैसे प्रयत्नवान् रहने से मधुमक्खी का छत्ता बढ़ता है, चींटी का वाल्मीक बढ़ता है, वैसे ही प्रयत्नशील मनुष्य का ऐश्वर्य बढ़ता है। इतना ही नहीं, प्राप्त सम्पदा का उपयोग किस प्रकार हो, इस सम्बन्ध में भी बुद्ध का निर्देश है कि सदगृहस्थ प्राप्त धन के एक भाग का उपभोग करे, दो भागों को व्यापार आदि कार्यक्षेत्र में लगाए और चौथे भाग को आपत्तिकाल में काम आने के लिए सुरक्षित रख छोड़े। आज के प्रगतिशील अर्थशास्त्री के रूप में ही नहीं, वरन् एक सामाजिक-अर्थशास्त्री के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे इस बारे में भी पूर्ण सतर्क हैं कि यदि समाज में धन का समुचित वितरण नहीं होगा, तो अराजकता और असुरक्षा उत्पन्न होगी। वे कहते हैं, निधनों को धन नहीं दिए जाने से दरिद्रता बहुत बढ़ गई और दरिद्रता के बहुत बढ़ जाने से चोरी बहुत बढ़ गई। चोरी के बहुत बढ़ने का अर्थ धन की असुरक्षा है। इसके पीछे बुद्ध का निर्देश यही है कि समाज में धन का समवितरण होना चाहिए, ताकि समाज का कोई भी वर्ग अभाव से पीड़ित न हो। बुद्ध की दृष्टि में अर्थ को कभी भी धर्म से विमुख नहीं होना चाहिए, वे धर्मयुक्त व्यवसाय में नियोजित होने का ही निर्देश देते हैं। जो जीवन में धन का दान एवं भोग रूप में समुचित उपयोग नहीं करता, उसका धन

निरर्थक है, क्योंकि मरने वाले के पीछे उसका धन आदि नहीं जाता है और न धन से जरामरण से ही छुटकारा मिल सकता है। कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण मध्यममार्ग का प्रतिपादन करता है। उदान में बुद्ध कहते हैं, 'ब्रह्मचर्य युक्त जीवन के साथ व्रतों का पालन करना ही सार है, यह एक अन्त है। कामभोगों के सेवन में कोई दोष नहीं, यह दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है, मिथ्याधारणा बढ़ती है, व्यक्ति मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। इस आधार पर कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण यही प्रतीत होता है कि जो काम धर्म-अविरुद्ध है, जिससे आध्यात्मिक-प्रगति या चित्त की विकलता समाप्त है; वह काम आचरणीय है। इसके विपरीत, धर्मविरुद्ध मानसिक-अशान्तिकारक काम या विषयभोग अनाचरणीय है।

बुद्धि की दृष्टि में भी जैन-विचार के समान धर्मपुरुषार्थ निर्वाण या मोक्षपुरुषार्थ का साधन है। मज्झिमनिकाय में बुद्ध कहते हैं, "भिक्षुओं! मैंने बेड़े की भाँति पार जाने के लिए (निर्वाणलाभ के लिए) तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, पकड़ रखने के लिए नहीं," अर्थात् निर्वाण की दिशा में ले जाने वाला धर्म ही आचरणीय है। बुद्ध की दृष्टि में जो धर्म निर्वाण की दिशा में नहीं ले जाता, जिससे निर्वाणलाभ में बाधा आती हो, वह त्याग देने योग्य है। इतना ही नहीं, बुद्ध धर्म को एक साधन के रूप में स्वीकार करते हैं और साध्य की उपलब्धि के लिए उसे भी छोड़ देने का सन्देश देते हैं। उनकी दृष्टि में परममूल्य तो निर्वाण ही है।

3. गीता में पुरुषार्थचतुष्टय

पुरुषार्थचतुष्टय के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण जैन-परम्परा से भिन्न नहीं है। गीता की दृष्टि में भी मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। वही परम मूल्य है। धर्म, अर्थ और काम-पुरुषार्थ सम्बन्धी वृत्ति को गीताकार ने राजसी कहा है, लेकिन यह मानना भी भ्रान्तिपूर्ण होगा कि गीता में इन पुरुषार्थों का कोई स्थान नहीं है। गीताकार जब काम की निन्दा करता है। धर्म को छोड़ने की बात करता है, तो मोक्षपुरुषार्थ या परमात्मा की प्राप्ति की अपेक्षा से ही। मोक्ष ही परमसाध्य है, धर्म, अर्थ और काम का मोक्ष के निमित्त परित्याग किया जा सकता है। गीताकार की दृष्टि में भी यदि धर्म,

अर्थ और काम मोक्ष के अविरोधी हैं, तो वे ग्राह्य हैं। गीताकार की मान्यता भी यही प्रतीत होती है कि अर्थ और काम को धर्माधीन होना चाहिए और धर्म को मोक्षाभिमुख होना चाहिए। धर्मयुक्त, यज्ञपूर्वक एवं वर्णानुसार किया गया आजीविकोपार्जन गीता के अनुसार विहित ही है। यद्यपि धन की चिन्ता में डूबे रहने वाले और धन का तथा धन के द्वारा किए गए दान-पुण्यादि का अभिमान करने वाले को गीता में अज्ञानी कहा गया है, तथापि इसका तात्पर्य यही है कि धन को एकमात्र साध्य नहीं बना लेना चाहिए और न उसका तथा उसके द्वारा किए गए सत्कार्यों का अभिमान ही करना चाहिए। इसी प्रकार, कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण यही है कि उसे धर्म-अविरुद्ध होना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्राणियों में धर्म-अविरुद्ध काम मैं हूँ। सभी भोगों से विमुख होने की अपेक्षा गीताकार की दृष्टि में यही उचित है कि उनमें आसक्ति का त्याग किए जाए। वस्तुतः, यह दृष्टिकोण भोगों को मोक्ष के अविरोध में रखने का प्रयास है। इसी प्रकार, गीता जब यह कहती है कि बिना यज्ञ के जो भोग करता है, वह चोर है, तो उसका प्रमुख दृष्टिकोण कामपुरुषार्थ को धर्माभिमुख बनाने का ही है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और गीता की विचारधाराओं में चारो पुरुषार्थ स्वीकृत हैं, यद्यपि सभी ने इस बात पर बल दिया है कि अर्थ और काम पुरुषार्थ को धर्म से अविरुद्ध होना चाहिए और धर्म को सदैव ही मोक्षाभिमुख होना चाहिए। वस्तुतः, यह दृष्टिकोण न केवल जैन, बौद्ध और गीता की परम्पराओं का है, वरन् समग्र भारतीय-चिन्तन की इस सन्दर्भ में यही दृष्टि है। मनु कहते हैं कि धर्म-विहीन अर्थ और काम को छोड़ देना चाहिए। महाभारत में भी कहा है कि जो अर्थ और काम धर्म-विरोधी हों, उन्हें छोड़ देना चाहिए। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में और वात्स्यायन अपने कामसूत्र में लिखते हैं कि धर्म और अर्थ से अविरोध में रहे हुए काम का ही सेवन करना चाहिए।

इस प्रकार, भारतीय-चिन्तकों का प्रयास यही रहा है कि चारों पुरुषार्थों को इस प्रकार संयोजित किया जाए कि वे परस्पर अविरोध की अवस्था में रहें। इस हेतु उन्होंने उनका पारस्परिक-सम्बन्ध निश्चित करने

का प्रयास भी किया। कौनसा पुरुषार्थ सर्वोच्च मूल्यवाला है, इस सम्बन्ध में महाभारत में गहराई से विचार किया गया है और इसके फलस्वरूप विभिन्न दृष्टिकोण सामने भी आए-

1. अर्थ ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि धर्म और काम-दोनों अर्थ के होने पर उपलब्ध होते हैं। धन के अभाव में न तो काम-भोग ही प्राप्त होते हैं और दान-पुण्यादि धर्म ही किया जा सकता है। कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में इसी दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया है।

2. काम ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि विषयों की इच्छा या काम के अभाव में न तो कोई धन प्राप्त करना चाहता है और न कोई धर्म करना चाहता है। काम ही अर्थ और धर्म से श्रेष्ठ हैं। जैसे दही का सार मक्खन है, वैसे ही अर्थ और धर्म का सार काम है।

3. अर्थ, काम और धर्म-तीनों ही स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं, तीनों का समान रूप से सेवन करना चाहिए। जो एक का सेवन करता है, वह अधम है, जो दो के सेवन में निपुण है, वह मध्यम है और जो इन तीनों में समान रूप से अनुरक्त है, वही मनुष्य उत्तम है।

4. धर्म ही श्रेष्ठ गुण (पुरुषार्थ) है, अर्थ मध्यम है और काम सबकी अपेक्षा निम्न है, क्योंकि धर्म से ही मोक्ष की उपलब्धि होती है, धर्म पर ही लोक-व्यवस्था आधारित है और धर्म में ही अर्थ समाहित है।

5. मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। मोक्ष के उपाय के रूप में ज्ञान और अनासक्ति-यही परम कल्याणकारक है।

चारों पुरुषार्थों की तुलना एवं क्रमनिर्धारण

पुरुषार्थचतुष्टय के सम्बन्ध में उपर्युक्त विभिन्न दृष्टिकोण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, लेकिन सापेक्षिक दृष्टि से इनमें विरोध नहीं रह जाता है। साधन की दृष्टि से विचार करने पर अर्थ ही प्रधान प्रतीत होता है, क्योंकि अर्थाभाव में दैहिक-माँगों (काम) की पूर्ति नहीं होती। दूसरी ओर, लोक के अर्थाभाव से पीड़ित होने पर धर्मव्यवस्था या नीति भी समाप्त हो जाती है। कहा भी गया है- भूखा कौन-सा पाप नहीं करता?

यदि साधक (व्यक्ति) की दृष्टि से विचार करें, तो दैहिक-मूल्य (काम) ही प्रधान प्रतीत होता है। मनोदैहिक-मूल्यों (इच्छा एवं काम) के अभाव

में न तो नीति-अनीति का प्रश्न खड़ा होता है और न आर्थिक-साधनों की ही कोई आवश्यकता। दूसरे, धर्मसाधन और आध्यात्मिक-प्रगति भी शरीर से सम्बन्धित हैं। कहा गया है- धर्मसाधन के लिए शरीर ही प्राथमिक है। दैहिक-मौगों की पूर्ति के अभाव में चित्त-शान्ति भी कैसे होगी और जिसका चित्त अशान्त है, वह क्या आध्यात्मिक-विकास करेगा?

इस प्रकार, जब हम साधनामार्ग पर सामाजिक-सन्दर्भ में विचार करते हैं, तो धर्म ही प्रधान प्रतीत होता है। धर्म ही सामाजिक-व्यवस्था का आधार है। धर्म के अभाव में सामाजिक-जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है और अस्तव्यस्त सामाजिक जीवन में अर्थोत्पादन एवं आध्यात्मिक-साधना-दोनों ही सम्भव नहीं होते। भोगों की समरसता समाप्त हो जाती है।

साध्य आ आदर्श की दृष्टि से विचार करने पर मोक्ष ही प्रधान प्रतीत होता है, क्योंकि सारे प्रयास जिसके लिए हैं, वह तो आध्यात्मिक-पूर्णता की प्राप्ति ही है। संक्षेप में, साधनात्मक-दृष्टि से, आर्थिक-मूल्य (अर्थ), जैविक-दृष्टि से मनोदैहिक-मूल्य (काम), सामाजिक-दृष्टि से नैतिक-मूल्य (धर्म) और साध्यात्मक-दृष्टि से आध्यात्मिक-मूल्य (मोक्ष) प्रमुख हैं।

लेकिन, ये सभी मूल्य या पुरुषार्थ एक-दूसरे से स्वतन्त्र या निरपेक्ष होकर नहीं रह सकते। मोक्ष या आध्यात्मिक-मूल्यों की प्राप्ति के लिए धर्म आवश्यक है और धर्म-साधन के लिए शरीर आवश्यक है, शरीर के निर्वाह के लिए शारीरिक-आवश्यकताओं की पूर्ति (काम) आवश्यक है और उनकी पूर्ति के लिए राधन (अर्थ) जुटाना आवश्यक है। इस प्रकार, सभी परस्पर सापेक्ष हैं और सभी आवश्यक हैं। जैन-ग्रन्थ निशीथभाष्य में कहा गया है कि ज्ञानादि मोक्ष के साधन हैं और ज्ञानादि का साधन देह है और देह का साधन आहार है। इस प्रकार, चारों पुरुषार्थों का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया है, तथापि सभी का मूल्य समान नहीं माना गया है। जैन-विचारकों के अनुसार चारों पुरुषार्थों में एक साध्य-साधन-भाव है, जिसमें अर्थ मात्र साधन है औ मोक्ष मात्र साध्य है। काम अर्थ की अपेक्षा से साध्य और धर्म की अपेक्षा से साधन है। धर्म को अर्थ और काम का साध्य और मोक्ष का साधन माना गया है। जब साधन ही साध्य बन जाता

है, तो वह दूसरे के विरोध में खड़ा हो जाता है और जीवन के विकास को अवरुद्ध करता है। जैनागम-साहित्य में मम्मन सेठ की कथा अर्थ को साध्य मान लेने का सबसे अच्छा उदाहरण है, जिससे प्रकट है कि जब 'धन' साध्य बन जाता है, तो वह ऐहिक और पारलौकिक—दोनों जीवन में कष्ट ही लाता है। इसी आशय को सामने रखते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि 'धन' में प्रमत्त पुरुष का धन, अर्थात् उस व्यक्ति का धन, जिसके लिए धन ही साध्य है, न तो इस लोक में और न परलोक में ही ऐसे आदमी की रक्षा कर सकता है। धन के असीम मोह से मूढ़ बना हुआ वह व्यक्ति, दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग को जानते हुए भी मार्ग नहीं देखता, वैसे ही वह भी न्यायमार्ग या धर्ममार्ग को जानते हुए भी उसे नहीं देख पाता। जैसे एक ही नगर को जाने वाले भिन्न-भिन्न मार्ग परस्पर भिन्न दिशाओं में स्थित होते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं कहे जाते, उसी प्रकार परस्पर विरोधी पुरुषार्थ मोक्षाभिमुख होने पर असपत्न (अविरोधी) बन जाते हैं। यही उनमें एक मूल्यात्मक तारतम्य स्पष्ट हो जाता है, जिसमें सर्वोच्च स्थान मोक्ष का है, उसके बाद धर्म का स्थान है। धर्म के बाद काम और सबसे अन्त में अर्थ का स्थान आता है, किन्तु अर्थपुरुषार्थ जब लोकोपकार के लिए होता है, तब उसका स्थान कामपुरुषार्थ से ऊपर होता है। पाश्चात्य-विचारक अरबन ने मूल्य-निर्धारण के तीन नियम प्रस्तुत किए हैं— (1) साधनात्मक या परतः— मूल्यों की अपेक्षा साध्यात्मक या स्वतः मूल्य उच्चतर हैं; (2) अस्थायी या अल्पकालिक—मूल्यों की अपेक्षा स्थायी एवं दीर्घकालिक—मूल्य उच्चतर हैं; (3) असृजक—मूल्यों की अपेक्षा सृजक—मूल्य उच्चतर हैं।

यदि प्रथम नियम के आधार पर विचार करें, तो धन, सम्पत्ति, श्रम आदि आर्थिक मूल्य जैविक, सामाजिक और धार्मिक (काम और धर्म) मूल्यों की पूर्ति के साधनमात्र हैं, वे स्वतःसाध्य नहीं हैं। भारतीय-चिन्तन में धन की तीन गतियाँ मानी गई हैं— (1) दान, (2) भोग और (3) नाश। वह दान के रूप में धर्मपुरुषार्थ का भोग के रूप में कामपुरुषार्थ का साधन ही सिद्ध होता है। कामपुरुषार्थ सामान्य रूप में स्वतःसाध्य प्रतीत होता है, लेकिन विचारपूर्वक देखने पर वह भी स्वतः साध्य नहीं कहा जा सकता। प्रथमतः,

जैविक-आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में जो भोग किए जाते हैं, वे स्वयंसाध्य नहीं, वरन् जीवन या शरीर-रक्षण के साधनमात्र हैं। इन सबका साध्य स्वास्थ्य एवं जीवन है। हम जीने के लिए खाते हैं, खाने के लिए जीते हैं। यदि हम कामपुरुषार्थ को कला, दाम्पत्य, रति या स्नेह के रूप में मानें, तो वह भी आनन्द का एक साधन ही ठहरता है। इस प्रकार, कामपुरुषार्थ का भी स्वतः मूल्य सिद्ध नहीं होता। उसका जो भी स्थान हो सकता है, वह मात्र उसके द्वारा व्यक्ति के आनन्द में की गई अभिवृद्धि पर निर्भर करता है, यदि अल्पकालिक ही है। भारतीय विचारकों ने कामपुरुषार्थ को निम्न स्थान उसकी क्षणिकता के आधार पर दिया है। तीसरे, अपने फल या परिणाम के आधार पर भी काम-पुरुषार्थ निम्न स्थान पर ठहरता है, क्योंकि वह अपने पीछे दुष्पूर-तृष्णा को छोड़ जाता है। उसे उपलब्ध होने वाले आनन्द की तुलना खुजली खुजाने से की गई है, जिसकी फल-निष्पत्ति क्षणिक सुख के बाद तीव्र वेदना में होती है। धर्मपुरुषार्थ सामाजिक एवं धार्मिक-मूल्य के रूप में स्वतः साध्य है, लेकिन वह भी मोक्ष का साधन माना गया है, जो सर्वोच्च मूल्य है। इस प्रकार, अरबन के उपर्युक्त मूल्यनिर्धारण के नियमों के आधार पर भी अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष-पुरुषार्थों का यही क्रम सिद्ध होता है, जो कि जैन और दूसरे भारतीय-आचारदर्शनों में स्वीकृत है, जिसमें अर्थ सबसे निम्न मूल्य है और मोक्ष सर्वोच्च मूल्य है।

मोक्ष सर्वोच्च मूल्य क्यों?

इस सम्बन्ध में ये तर्क दिए जा सकते हैं-

1. मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से जीवमात्र की प्रवृत्ति दुःख-निवृत्ति की ओर होती है, क्योंकि मोक्ष दुःख की आत्यन्तिक-निवृत्ति है; अतः वह सर्वोच्च मूल्य है। इसी प्रकार, आनन्द की उपलब्धि भी प्राणीमात्र का लक्ष्य है, चूँकि मोक्ष परम आनन्द की अवस्था है, अतः वह सर्वोच्च मूल्य है।

2. मूल्यों की व्यवस्था में साध्य-साधक की दृष्टि से एक क्रम होना चाहिए और उस क्रम में कोई सर्वोच्च एवं निरपेक्ष-मूल्य होना चाहिए। मोक्ष पूर्ण एवं निरपेक्ष-स्थिति है, अतः वह सर्वोच्च मूल्य है। मूल्य वह है, जो किसी इच्छा की पूर्ति करे, अतः जिसके प्राप्त हो जाने पर कोई इच्छा

ही नहीं रहती है, वही परम मूल्य है। मोक्ष में कोई अपूर्ण इच्छा नहीं रहती है, अतः वह परम मूल्य है।

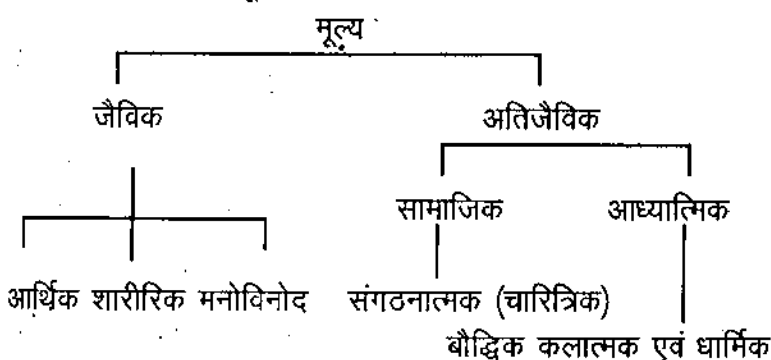
3. सभी साधन किसी साध्य के लिए होते हैं और साध्य की उपस्थिति अपूर्णता की सूचक है। मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् कोई साध्य नहीं रहता, इसलिए वह परम मूल्य है। यदि हम किसी अन्य मूल्य को स्वीकार करेंगे, तो वह साधन-मूल्य ही होगा और साधन-मूल्य को परम मूल्य मानने पर नैतिकता में सर्वालौकिकता एवं वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जाएगी।

4. मोक्ष अक्षर एवं अमृतप है, अतः स्थायी मूल्यों में वह सर्वोच्च मूल्य है।

5. मोक्ष आन्तरिक-प्रकृति या स्वस्वभाव है। वही एकमात्र परम मूल्य हो सकता है, क्योंकि उसमें हमारी प्रकृति के सभी पक्ष अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति एवं पूर्ण समन्वय की अवस्था में होते हैं।

भारतीय और पाश्चात्य मूल्य-सिद्धान्तों की तुलना

अरबन और एबरेट ने जीवन के विभिन्न मूल्यों की उच्चता एवं निम्नता का जो क्रम निर्धारित किया है, वह भी भारतीय -चिन्तन से काफी साम्य रखता है। अरबन ने मूल्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है-



अरबन ने सबसे पहले मूल्यों को दो भागों में बाँटा है- (1) जैविक और (2) अति जैविक। अतिजैविक-मूल्य भी सामाजिक और आध्यात्मिक-ऐसे दो प्रकार के हैं। इस प्रकार मूल्यों के तीन वर्ग बन जाते हैं-

1. **जैविक-मूल्य**- शारीरिक, आर्थिक और मनोरंजन के मूल्य जैविकमूल्य हैं। आर्थिक-मूल्य मौलिक-रूप से साधन-मूल्य हैं, साध्य नहीं। आर्थिक शुभ स्वतः मूल्यवान् नहीं हैं, उनका मूल्य केवल शारीरिक,

सामाजिक और आध्यात्मिक—मूल्यों को अर्जित करने के साधन होने में है। सम्पत्ति स्वतः वांछनीय नहीं है, बल्कि अन्य शुभों को अर्जित करने के साधन होने में है। सम्पत्ति एक साधनमूल्य है साध्य—मूल्य नहीं। शारीरिक—मूल्य भी वैयक्तिक जीवन मूल्यों के साधक हैं। स्वास्थ्य और शक्ति से युक्त परिपुष्ट शरीर को व्यक्ति अच्छे जीवन के अन्य मूल्यों के अनुसरण में प्रयुक्त कर सकता है। क्रीड़ा और मनोरंजन उच्चतर मूल्यों के अनुसरण के लिए हमें शारीरिक एवं मानसिक—दृष्टि से स्वस्थ रखते हैं।

2. सामाजिक—मूल्य— सामाजिक—मूल्यों के अन्तर्गत साहचर्य तथा चरित्र के मूल्य आते हैं। आज के मानवतावादी युग में तो इन मूल्यों का महत्त्व अत्यन्त व्यापक हो गया है। यद्यपि ये दोनों मूल्य किसी अन्य साध्य के साधन—स्वरूप प्रयुक्त होते हैं, परन्तु कुछ महान् पुरुषों ने सच्चरित्रता एवं समाजसेवा को जीवन के परम लक्ष्य के रूप में ग्रहण किया है। मनुष्य समाज का अंग है। एक असीम आत्मा का साक्षात्कार समाज के साथ अपनी वैयक्तिकता का एकाकार करके ही किया जा सकता है।

3. आध्यात्मिक—मूल्य— मूल्यों के इस वर्ग के अन्तर्गत बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक एवं धार्मिक—तीन प्रकार के मूल्य आते हैं। ये तीनों मूल्य मूलतः साध्यमूल्य हैं। ये आत्मा की सर्वश्रेष्ठ या परम आदर्श प्रकृति, अर्थात् सत्यं, शिवं और सुन्दरं की अभिरुचियों को तृप्ति प्रदान करते हैं तथा जैविक एवं सामाजिक—मूल्यों से श्रेष्ठ कोटि के हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय—दर्शनों के पुरुषार्थचतुष्टय में अर्थ और काम जैविक मूल्य हैं और धर्म और मोक्ष अतिजैविक—मूल्य हैं। अरबन ने जैविक—मूल्यों में आर्थिक, शारीरिक और मनोरंजनात्मक—मूल्य कामपुरुषार्थ के समान हैं। अरबन के द्वारा अतिजैविक—मूल्यों में सामाजिक और आध्यात्मिक—मूल्य माने गए हैं। उनमें सामाजिक—मूल्य धर्मपुरुषार्थ से और आध्यात्मिक—मूल्य मोक्षपुरुषार्थ से सम्बन्धित हैं। जिस प्रकार अरबन ने मूल्यों में सबसे नीचे आर्थिक—मूल्य माने हैं, उसी प्रकार भारतीय—दर्शन में भी अर्थपुरुषार्थ को तारतम्य की दृष्टि से सबसे नीचे माना है। जिस प्रकार अरबन के दर्शन में शारीरिक और मनोरंजन सम्बन्धी मूल्यों का स्थान आर्थिक—मूल्यों से ऊपर, लेकिन सामाजिक—मूल्यों से नीचे है, उसी

प्रकार भारतीय-दर्शन में भी मोक्ष को सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है। अरबन के दृष्टिकोण की भारतीय-चिन्तन से कितनी अधिक निकटता है, इसे निम्न तालिका से समझा जा सकता है-

पाश्चात्य-दृष्टिकोण	भारतीय दृष्टिकोण	जैन-दृष्टिकोण
मूल्य	पुरुषार्थ	
जैविक-मूल्य		
1. आर्थिक-मूल्य	अर्थपुरुषार्थ	अर्थ
2. शारीरिक-मूल्य	कामपुरुषार्थ	काम
3. मनोरंजनात्मक-मूल्य	कामपुरुषार्थ	काम
सामाजिक-मूल्य		
4. संगठनात्मक-मूल्य	धर्मपुरुषार्थ	व्यवहारधर्म
5. चारित्रिक-मूल्य	धर्मपुरुषार्थ	निश्चयधर्म
आध्यात्मिक-मूल्य	मोक्षपुरुषार्थ	
6. कलात्मक	आनन्द (संकल्प)	अनन्त सुख एवं शक्ति
7. बौद्धिक	चित् (संकल्प)	अनन्तज्ञान
8. धार्मिक	सत् (भाव)	अनन्त दर्शन

इस प्रकार, अपनी मूल्य-विवेचना में प्राच्य और पाश्चात्य-विचारक अन्त में एक ही निष्कर्ष पर आ जाते हैं और वह निष्कर्ष यह है कि आध्यात्मिक-मूल्य या आत्मपूर्णता ही सर्वोच्च मूल्य है एवं वही नैतिक-जीवन का साध्य है। यद्यपि भारतीय-दर्शन में स्वीकृत सभी जीवन-मूल्य और पाश्चात्य-आचारदर्शन में स्वीकृत विभिन्न नैतिक-प्रतिमान जैन-आचारदर्शन में स्वीकृत रहे हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि जैन-दर्शन के पास नैतिक-प्रतिमान के किसी निश्चित सिद्धान्त का अभाव है। वस्तुतः जैन-दर्शन की अनेकान्तवादी-दृष्टि ही इसके मूल में है। जिस प्रकार जैन-दर्शन तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में विभिन्न परस्पर विरोधी दार्शनिक-विचारों को सापेक्ष रूप से स्वीकार करके उनमें समन्वय करता है, उसी प्रकार जैन-आचारदर्शन भी विभिन्न नैतिक-प्रतिमानों को सापेक्षिक रूप से स्वीकार करके उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

यद्यपि जैन-आचारदर्शन में सापेक्ष दृष्टि से नैतिक-मानक सम्बन्धी

सभी विचार स्वीकार कर लिए गए हैं, फिर भी उनकी दृष्टि में कर्म की शुद्धता इस पर आधारित है कि वह कर्म राग-द्वेष की वृत्तियों से कितना मुक्त है। उसके अनुसार, जो कर्म अनासक्त-भाव से सम्पादित होते हैं, वे ही आत्मपूर्णता की ओर ले जाते हैं। वीतरागवस्था या समभाव की उपलब्धि ही उसका एकमात्र नैतिक साध्य या परम मूल्य है।

नैतिक प्रतिमानों का अनेकान्तवाद

वस्तुतः, मनुष्यों की नीति-सम्बन्धी अवधारणाओं, मापदण्डों या प्रतिमानों की विविधता ही नैतिक-निर्णयों की भिन्नता का कारण मानी जा सकती है। जब भी हम किसी आचरण का नैतिक-मूल्यांकन करते हैं, तो हमारे सामने नीति सम्बन्धी कोई मापदण्ड, प्रतिमान या मानक अवश्य होता है, जिसके आधार पर हम व्यक्ति के चरित्र, आचरण अथवा कर्म का नैतिक-मूल्यांकन करते हैं। विभिन्न देश, काल, समाज और संस्कृतियों में ये नैतिक-मापदण्ड या प्रतिमान अलग-अलग रहे हैं और समय-समय पर इनमें परिवर्तन होते रहे हैं। प्राचीन ग्रीक संस्कृति में जहाँ साहस और न्याय को नैतिकता का प्रतिमान माना जाता था, वहीं परवर्ती ईसाई-संस्कृति में सहनशीलता और त्याग को नैतिकता का प्रतिमान माना जाने लगा। यह एक वास्तविकता है कि नैतिक-प्रतिमान या नैतिकता के मापदण्ड अनेक रहे हैं तथा विभिन्न व्यक्ति और विभिन्न समाज अलग-अलग नैतिक-प्रतिमानों का उपयोग करते रहे हैं। मात्र यही नहीं, एक ही व्यक्ति अपने जीवन में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न नैतिक-प्रतिमानों का उपयोग करता है। नैतिक-प्रतिमान के इस प्रश्न पर न केवल जनसाधारण में, अपितु नीतिवेत्ताओं में भी गहन मतभेद हैं।

नैतिक-प्रतिमानों की इस विविधता और परिवर्तनशीलता को लेकर अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। क्या कोई ऐसा सार्वभौम नैतिक-प्रतिमान सम्भव है, जिसे सार्वलौकिक और सार्वकालिक एवं सार्वजनीन सिद्ध करने का दावा अवश्य किया है; किन्तु जब वे ही आपस में एकमत नहीं हैं, तो फिर उनके इस दावे को कैसे मान्य किया जा सकता है? नीतिशास्त्र के इतिहास की नियमवादी-परम्परा में कबीले के बाह्य-नियमों की अवधारणा से लेकर अन्तरात्मा के आदेश तक तथा साध्यवादी-परम्परा में स्थूल

स्वार्थमूलक-सुखवाद से प्रारम्भ करके बुद्धिवाद, पूर्णतावाद और मूल्यवाद एक अनेक नैतिक-प्रतिमान प्रस्तुत किए गए हैं।

यदि हम नैतिक-मूल्यांकन का आधार नैतिक-आवेगों को स्वीकार करते हैं, तो नैतिक-मूल्यांकन में एकरूपता सम्भव नहीं होगी, क्योंकि व्यक्तिनिष्ठ नैतिक-आवेगों में विविधता स्वाभाविक है। नैतिक-आवेगों की इस विविधता को समकालीन विचारक एडवर्ड वैस्टरमार्क ने स्वयं स्वीकार किया है। उनके अनुसार, इस विविधता का कारण व्यक्तियों के परिवेश, धर्म और विश्वासों में पाई जाने वाली भिन्नता है। जो विचारक कर्म के नैतिक-औचित्य एवं अनौचित्य के निर्धारण के लिए विधानवादी-प्रतिमान अपनाते हैं और जाति, समाज, राज्य धर्म द्वारा प्रस्तुत विधि-निषेध (यह करो और यह मत करो) की नियमावलियों को नैतिक-प्रतिमान स्वीकार करते हैं, उनमें भी प्रथम तो इस प्रश्न को लेकर ही मतभेद है कि जाति (समाज), राज्य-शासन और धर्मग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत अनेक नियमावलियों में से किसे स्वीकार किया जाए? पुनः, प्रत्येक जाति, राज्य और धर्मग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत ये नियमावलियाँ भी अलग-अलग हैं। इस प्रकार, बाह्य-विधानवाद नैतिक-प्रतिमान का कोई एक सिद्धान्त प्रस्तुत कर पाने में असमर्थ हैं। समकालीन अनुमोदनात्मक-सिद्धान्त जो नैतिक-प्रतिमान को वैयक्तिक, रुचि-सापेक्ष अथवा सामाजिक एवं धार्मिक-अनुमोदन पर निर्भर मानते हैं, किसी एक सार्वभौम नैतिक-प्रतिमान का दावा करने में असमर्थ हैं। व्यक्तियों का रुचिवैविध्य और सामाजिक-आदर्शों में पाई जाने वाली भिन्नताएँ सुस्पष्ट ही हैं। धार्मिक-अनुशंसा भी अलग-अलग होती है, एक धर्म जिन कर्मों का अनुमोदन करता है और उन्हें नैतिक ठहराता है, दूसरा धर्म उन्हीं कर्मों को निषिद्ध और अनैतिक ठहराता है। वैदिक-धर्म और इस्लाम जहाँ पशुबलि को वैध मानते हैं, वहीं जैन, वैष्णव और बौद्ध-धर्म उसे अनैतिक और अवैध मानते हैं। निष्कर्ष यही है कि वे सभी सिद्धान्त किसी एक सार्वभौम नैतिक-प्रतिमान का दावा करने में असमर्थ हैं, जो नैतिकता की कसौटी, वैयक्तिक-रुचि, सामाजिक-अनुमोदन अथवा धर्मशास्त्र की अनुशंसा को मानते हैं। निष्कर्ष यही है कि वे सभी सिद्धान्त किसी एक सार्वभौम नैतिक-प्रतिमान का दावा करने में असमर्थ हैं, जो नैतिकता की

कसौटी, वैयक्तिक-रुचि, सामाजिक-अनुमोदन अथवा धर्मशास्त्र की अनुशंसा को मानते हैं।

अन्तः प्रज्ञावाद, अथवा सरल शब्दों में कहें, तो अन्तरात्मा के अनुमोदन का सिद्धान्त भी किसी एक नैतिक-प्रतिमान को दे पाने में असमर्थ हैं। यद्यपि यह कहा जाता है कि अन्तरात्मा के निर्णय सरल, सहज और अपरोक्ष होते हैं, फिर भी अनुभव यही बताता है कि अन्तरात्मा के निर्णयों में एकरूपता नहीं होती। प्रथम तो, स्वयं अन्तःप्रज्ञावादी ही इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं कि इस अन्तःप्रज्ञा की प्रकृति क्या है, यह बौद्धिक है या भावनापरक। पुनः, यह मानना कि सभी की अन्तरात्मा एक-सी है, ठीक नहीं है; क्योंकि अन्तरात्मा की संरचना और उसके निर्णय भी व्यक्ति के संस्कारों पर आधारित होते हैं। पशुबलि के सम्बन्ध में मुस्लिम एवं जैन-परिवारों में संस्कारित-ज्योक्तियों के अन्तरात्मा के निर्णय एक समान नहीं होंगे। अन्तरात्मा कोई सरल तथ्य नहीं है, जैसा कि अन्तःप्रज्ञावाद मानता है, अपितु वह विवेकात्मक-चेतना के विकास, पारिवारिक एवं सामाजिक-संस्कारों तथा परिवेशजन्य तथ्यों द्वारा निर्मित एक जटिल रचना है और ये तीनों बातें हमारी अन्तरात्मा को ओर उसके निर्णयों को प्रभावित करती हैं।

इसी प्रकार, साध्यवादी-सिद्धान्त भी किसी सार्वभौम नैतिक-मानदण्ड का दावा नहीं कर सके हैं। सर्वप्रथम तो, उनमें इस प्रश्न को लेकर ही मतभेद हैं कि मानव-जीवन का साध्य क्या हो सकता है? मानवतावादी-विचारक, जो मानवीय-गुण के विकास को ही नैतिकता की कसौटी मानते हैं, इस बात पर सरस्पर सहमत नहीं हैं कि आत्मचेतना, विवेकशीलता और संयम में किसे सर्वोच्च मानवीय-गुण माना जाए। समकालीन मानवतावादियों में जहाँ वारनर फिटे आत्मचेतनता को प्रमुख मानते हैं, वहाँ सी.बी. गर्नेट और इस्राइल लेविन विवेकशीलता को तथा इरविंग बबिट आत्मसंयम को प्रमुख नैतिक-गुण मानते हैं। साध्यवादी-परम्परा के सामने यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण रहा है कि मानवीय-चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक-पक्ष में से किसकी सन्तुष्टि को सर्वाधिक महत्व दिया जाए। इस संदर्भ में सुखवाद और बुद्धिवाद का विवाद तो

सुप्रसिद्ध ही है। सुखवाद जहाँ मनुष्य के अनुभूत्यात्मक (वासनात्मक) पक्ष की सन्तुष्टि को मानव-जीवन का साध्य घोषित करता है, वहाँ बुद्धिवाद भावना-निरपेक्ष बुद्धि के आदेशों के परिपालन में ही नैतिक-कर्त्तव्य की पूर्णता देखता है। इस प्रकार, सुखवाद और बुद्धिवाद के नैतिक-प्रतिमान एक-दूसरे से भिन्न हैं। इसका मूल कारण दोनों की मूल्यदृष्टि की भिन्नता है; एक भोगवाद का समर्थक है, तो दूसरा वैराग्यवाद का। मात्र यही नहीं, सुखवादी-विचारक भी 'कौन-सा सुख साध्य है?' इस प्रश्न पर एकमत नहीं हैं। कोई वैयक्तिक-सुख को साध्य बताता है, तो कोई समष्टि-सुख को अथवा अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख को। पुनः यह सुख, ऐन्द्रिक-सुख हो या मानसिक सुख हो, अथवा आध्यात्मिक-आनन्द हो, इस प्रश्न पर भी मतभेद है। वैराग्यवादी परम्पराएँ भी सुख को साध्य मानती हैं, किन्तु वे जिस सुख की बात करती हैं, वह सुख वस्तुगत नहीं है, वह इच्छा, आसक्ति या तृष्णा के समाप्त होने पर चेतना की निर्द्वन्द्व, तनावरहित, समाधिपूर्ण अवस्था है। इस प्रकार, सुख को साध्य मानने के प्रश्न पर उनमें आम सहमति होते हुए भी उनके नैतिक-प्रतिमान भिन्न-भिन्न ही होंगे, क्योंकि सुख की प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

यद्यपि पूर्णतावाद आत्मोपलब्धि को साध्य मानकर सुखवाद और बुद्धिवाद के बीच समन्वय साधने का प्रयत्न अवश्य करता है; किन्तु वह इस प्रयास में सफल हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। पुनः, वह भी किसी एक सार्वभौम नैतिक-प्रतिमान को प्रस्तुत कर सकता है, यह मानना भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि व्यक्तियों के हित न केवल भिन्न-भिन्न हैं, अपितु परस्पर विरोधी भी हैं। रोगी का कल्याण और डॉक्टर का कल्याण एक नहीं है, श्रमिक का कल्याण उसके स्वामी के कल्याण से पृथक् ही है; किसी सार्वभौम शुभ की बात कितनी ही आकर्षक क्यों न हो, वह भ्रान्ति ही है। वैयक्तिक-हितों के योग के अतिरिक्त सामान्य हित मात्र अमूर्त कल्पना है। न केवल व्यक्तियों के हित या शुभ अलग-अलग होंगे, अपितु दो भिन्न परिस्थितियों में एक व्यक्ति के हित भी पृथक्-प्रथक् होंगे। एक ही व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न स्थितियों में दाता और याचक-दोनों हो सकता है; किन्तु क्या दोनों स्थितियों में उसका हित समान होगा? समाज में एक

का हित दूसरे के हित का बाधक हो सकता है। मात्र यही नहीं, हमारा एक हित हमारे ही दूसरे हित में बाधक हो सकता है। रसनेन्द्रिय या यौनवासना--संतुष्टि के शुभ और स्वास्थ्य-सम्बन्धी शुभ सहगामी हों, यह आवश्यक नहीं है। वस्तुतः, यह धारणा कि 'मनुष्य का या मनुष्यों का कोई सामान्य शुभ है', अपने-आप में यथार्थ है। जिसे हम सामान्य शुभ कहना चाहते हैं, वह विभिन्न शुभों का एक ऐसा स्कन्ध है, जिसमें न केवल भिन्न-भिन्न शुभों की पृथक्-पृथक् सत्ता है, अपितु वे एक-दूसरे के विरोध में भी खड़े हुए हैं। शुभ एक नहीं, अनेक हैं और उनमें पारस्परिक-विरोध भी है। क्या आत्मलाभ और आत्मत्याग के बीच कोई विरोध नहीं है? यदि पूर्णतावादी निम्न आत्मा के त्याग द्वारा उच्चात्मा के लाभ की बात कहते हैं, तो वे जीवन के इन दो पक्षों में विरोध स्वीकार करते हैं। पुनः निम्नात्मा भी हमारी आत्मा है और यदि हम उसके निषेध की बात स्वीकार करते हैं, तो हमें पूर्णतावाद के सिद्धान्त को छोड़कर प्रकाशान्तर से बुद्धिवाद या वैराग्यवाद को ही स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार, वैयक्तिक-आत्मा और सामाजिक-आत्मा का, अथवा स्वार्थ और परार्थ का अन्तर्विरोध भी समाप्त नहीं किया जा सकता है; इसीलिए मूल्यवाद किसी एक मूल्य की बात न कहकर 'मूल्यों' या 'मूल्य-विश्व' की बात करता है। मूल्यों की विपुलता के इस सिद्धान्त में नैतिक-प्रतिमान की विविधता स्वभावतया ही होगी, क्योंकि प्रत्येक मूल्य का मूल्यांकन किसी दृष्टि-विशेष के आधार पर ही होगा। चूँकि मनुष्यों की जीवनदृष्टियाँ या मूल्यवृष्टियाँ विविध हैं, अतः उन पर आधारित नैतिक-प्रतिमान भी विविध ही होंगे। पुनः, मूल्यवाद में मूल्यों के तारतम्य को लेकर सदैव ही विवाद रहा है। एक दृष्टि से जो सर्वोच्च मूल्य लगता है, वही दूसरी दृष्टि से निम्न मूल्य हो सकता है। मनुष्य की जीवनदृष्टि या मूल्यदृष्टि का निर्माण भी स्वयं के संस्कारों एवं परिवेशजन्य तथ्यों से प्रभावित होता है; अतः मूल्यवाद नैतिक-प्रतिमान के सन्दर्भ में विविधता की धारणा को ही पुष्ट करता है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि नैतिक-प्रतिमान के प्रश्न पर न केवल विविध दृष्टिकोणों से विचार हुआ है, अपितु उसका प्रत्येक सिद्धान्त स्वयं भी इतने अन्तर्विरोधों से युक्त है कि वह एक सार्वभौम नैतिक-मापदण्ड

होने का दावा करने में असमर्थ है। आज भी इस सम्बन्ध में किसी सर्वमान्य सिद्धान्त का अभाव है।

वस्तुतः नैतिक-मानदण्डों की यह विविधता स्वाभाविक ही है और जो लोग किसी एक सर्वमान्य नैतिक-प्रतिमान की बात करते हैं, वे कल्पनालोक में ही विचरण करते हैं। नैतिक-प्रतिमानों की इस विविधता के कई कारण हैं। सर्वप्रथम तो नैतिकता और अनैतिकता का यह प्रश्न उस मनुष्य के सन्दर्भ में है, जिसकी प्रकृति बहुआयामी और अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण है। मनुष्य केवल चेतनसत्ता नहीं है, अपितु चेतनायुक्त शरीर है; वह केवल व्यक्ति नहीं है, अपितु समाज में जीने वाला व्यक्ति है। उसके अस्तित्व में वासना और विवेक तथा वैयक्तिकता और सामाजिकता के तत्त्व समाहित हैं। यहाँ हमें यह भी समझ लेना है कि वासना और विवेक में तथा व्यक्ति और समाज में स्वभावतः संगति नहीं है। वे स्वभावतः एक-दूसरे के विरोध में हैं। मनोवैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि 'इड' (वासना-तत्त्व) मानवीय-चेतना के समक्ष प्रतिपक्षी के रूप में ही उपस्थित होते हैं। उसमें समर्पण और शासन की दो विरोधी मूल प्रवृत्तियाँ एक साथ काम करती हैं। एक ओर, वह अपनी अस्मिता को बचाए रखना चाहता है, तो दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व को व्यापक बनाना चाहता है, समाज के साथ जुड़ना चाहता है। ऐसी बहुआयामी एवं अन्तर्विरोधों से युक्त सत्ता के शुभ या हित नहीं एक नहीं, अनेक होंगे और जब मनुष्य के शुभ या हित ही विविध हैं, तो फिर नैतिक-प्रतिमान भी विविध ही होंगे। किसी परम शुभ की कल्पना परम सत्ता के प्रसंग में चाहे सही भी हो; किन्तु मानवीय-अस्तित्व के प्रसंग में सही नहीं हैं मनुष्य मानकर चलना होगा-ईश्वर मानकर नहीं और एक मनुष्य के रूप में उसके हित या साध्य विविध ही होंगे। साथ ही, हितों या साध्यों की यह विविधता नैतिक-प्रतिमानों की अनेकता को ही सूचित करेगी।

नैतिक-प्रतिमान का आधार व्यक्ति की जीवन-दृष्टि या मूल्य-दृष्टि होगी, किन्तु व्यक्ति की मूल्य-दृष्टि व्यक्तियों के बौद्धिक-विकास, संस्कार एवं पर्यावरण के आधार पर ही निर्मित होती है। व्यक्तियों के बौद्धिक-विकास, पर्यावरण और संस्कारों में भिन्नताएँ स्वाभाविक हैं, अतः उनकी मूल्यदृष्टियाँ

अलग-अलग होंगी और यदि मूल्यदृष्टियाँ भिन्न-भिन्न होंगी, तो नैतिक-प्रतिमान भी विविध होंगे। यह एक आनुभाविक-तथ्य है कि विविध दृष्टिकोणों के आधार पर एक ही घटना का नैतिक-मूल्यांकन अलग-अलग होता है। उदाहरण के रूप में, परिवार-नियोजन की धारणा, जनसंख्या के बाहुल्य वाले देशों की दृष्टि से चाहे उचित हो, किन्तु अल्प जनसंख्या वाले देशों एवं जातियों की दृष्टि से अनुचित होगी। राष्ट्रवाद अपनी प्रजाति की अस्मिता की दृष्टि से चाहे अच्छा हो; किन्तु सम्पूर्ण मानवता की दृष्टि से अनुचित है। हम भारतीय ही एक ओर जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद को कोसते हैं, तो दूसरी ओर भारतीयता के नाम पर अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। क्या हम यहाँ दोहरे मापदण्ड का उपयोग नहीं कर रहे हैं? स्वतन्त्रता की बात को ही लें। क्या स्वतन्त्रता और सामाजिक-अनुशासन सहगामी होकर चल सकते हैं? आपातकाल को ही लीजिए, वैयक्तिक स्वतन्त्रता के हनन की दृष्टि से, या नौकरशाही के हावी होने की दृष्टि से हम उसकी आलोचना कर सकते हैं, किन्तु अनुशासन बनाए रखने और अराजकता को हम उसकी आलोचना कर सकते हैं, किन्तु अनुशासन बनाए रखने और अराजकता को समाप्त करने की दृष्टि से उसे उचित ठहराया जा सकता है। वस्तुतः, उचितता और अनुचितता का मूल्यांकन किसी एक दृष्टिकोण के आधार पर न होकर विविध दृष्टिकोणों के आधार पर होता है। जो एक दृष्टिकोण या अपेक्षा से नैतिक हो सकता है, वही दूसरे दृष्टिकोण या अपेक्षा से अनुचित हो सकता है; जो एक परिस्थिति के लिए उचित हो सकता है, वही दूसरी परिस्थिति में अनुचित हो सकता है जो एक व्यक्ति के लिए उचित है, वही दूसरे के लिए अनुचित हो सकता है। एक स्थूल शरीर वाले व्यक्ति के लिए स्निग्ध पदार्थों का सेवन अनुचित है, किन्तु कृशकाय व्यक्ति के लिए उचित है; अतः हम कह सकते हैं कि नैतिक-मूल्यांकन के विविध दृष्टिकोण हैं और इन विविध दृष्टिकोणों के आधार पर विविध नैतिक-प्रतिमान बनते हैं, जो एक ही घटना का अलग-अलग नैतिक-मूल्यांकन करते हैं।

नैतिक-मूल्यांकन परिस्थिति-सापेक्ष एवं दृष्टि-सापेक्ष मूल्यांकन हैं; अतः उनकी सार्वभौम सत्यता का दावा करना भी व्यर्थ है। किसी

दृष्टि-विशेष-या अपेक्षा-विशेष के आधार पर ही वे सत्य होते हैं। संक्षेप में, सभी नैतिक-प्रतिमान मूल्यदृष्टि-सापेक्ष हैं और मूल्यदृष्टि स्वयं व्यक्तियों के बौद्धिक-विकास, संस्कार तथा सांस्कृतिक, सामाजिक एवं भौतिक-पर्यावरण पर निर्भर करती है और चूँकि व्यक्तियों के बौद्धिक-विकास, संस्कार तथा सांस्कृतिक, सामाजिक एवं भौतिक-पर्यावरण में विविधता और परिवर्तनशीलता है, अतः नैतिक-प्रतिमानों में विविधता या अनेकता स्वाभाविक ही है।

वैयक्तिक शुभ की दृष्टि से प्रस्तुत नैतिक-प्रतिमान सामाजिक-शुभ की दृष्टि से प्रस्तुत नैतिक-प्रतिमान से भिन्न होगा। इसी प्रकार, वासना पर आधारित नैतिक-प्रतिमान विवेक पर आधारित नैतिक-प्रतिमान से अलग होगा। राष्ट्रवाद से प्रभावित व्यक्ति की नैतिक-कसौटी अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थक व्यक्ति की नैतिक-कसौटी से पृथक् होगी। पूँजीवाद और साम्यवाद के नैतिक-मानदण्ड भिन्न-भिन्न ही रहेंगे; अतः हमें नैतिक-मानदण्डों की अनेकता को स्वीकार करते हुए यह मानना होगा कि प्रत्येक नैतिक-मानदण्ड अपने उस दृष्टिकोण के आधार पर ही सत्य है।

कुछ लोग यहाँ किसी परम शुभ की अवधारणा के आधार पर किसी एक नैतिक-प्रतिमान का दावा कर सकते हैं; किन्तु वह परम शुभ या तो इन विभिन्न शुभों या हितों को अपने में अन्तर्निहित करेगा, या इनसे पृथक् होगा; यदि वह इन भिन्न-भिन्न मानवीय-शुभों को अपने में अन्तर्निहित करेगा, तो वह भी नैतिक-प्रतिमानों की अनेकता को स्वीकार करेगा और यदि वह इन मानवीय शुभों से पृथक् होगा, तो नीतिशास्त्र के लिए व्यर्थ ही होगा, क्योंकि नीतिशास्त्र का पूरा सन्दर्भ मानव-सन्दर्भ है। नैतिक-प्रतिमान का प्रश्न तभी तक महत्वपूर्ण है, जब तक मनुष्य मनुष्य है, यदि मनुष्य मनुष्य के स्तर से ऊपर उठकर देवत्व को प्राप्त कर लेता है, या मनुष्य के स्तर से नीचे उतरकर पशु बन जाता है, तो उसके लिए नैतिकता या अनैतिकता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है और ऐसे यथार्थ मनुष्य के लिए नैतिकता के प्रतिमान अनेक ही होंगे। नैतिक-प्रतिमानों के सन्दर्भ में यही अनेकान्तदृष्टि सम्यग्दृष्टि होगी। इसे हम नैतिक-प्रतिमानों का अनेकान्तवाद कह सकते हैं।

पाश्चात्य-आचारदर्शन की नैतिकता की पूर्व मान्यताएँ

नैतिक पूर्व मान्यता वे होती हैं, जो व्यक्ति पर नैतिक उत्तरदायित्व को डालने के लिए आवश्यक होती हैं। पाश्चात्य आचारदर्शन में सर्वप्रथम कांट ने तीन नैतिक पूर्व मान्यताओं की स्थापना की— (1) संकल्प की स्वतन्त्रता, (2) आत्मा की अमरता और (3) ईश्वर की अस्तित्व। केल्डरउड ने संकल्प की स्वतन्त्रता एवं अमरता के अतिरिक्त व्यक्तित्व, बौद्धिकता (मनीषा) तथा शक्ति को भी नैतिक-जीवन के लिए आवश्यक माना है। कांट नैतिक-प्रगति की अनिवार्यता के आधार पर आत्मा की अमरता को सिद्ध करते हैं, जबकि अरबन ने उसे भी स्वतन्त्र रूप से नैतिकता की पूर्व मान्यता कहा। रशडाल विश्व के बौद्धिक-प्रयोजन, काल तथा अमंगल की वास्तविकता को भी नैतिकता की मान्यता के अन्तर्गत ले जाते हैं। बोसांके भी अमंगल की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हैं। संक्षेप में, पाश्चात्य-आचारदर्शन में स्वीकृत मुख्य नैतिक-मान्यताएँ हैं—(1) मनीषा (विवेकबुद्धि) और कर्मशक्ति से युक्त आत्मा (व्यक्तित्व), (2) आत्मा की अमरता, (3) आत्मा की स्वतन्त्रता, (4) ईश्वर का अस्तित्व (नैतिक-मूल्यों का स्रोत एवं नैतिक-जीवन का आदर्श), (5) नैतिक-प्रगति (नैतिक-पूर्णता की सम्भावना) तथा (6) अमंगल (अशुभ) की वास्तविकता।

जैन आचारदर्शन की नैतिकता की पूर्व मान्यताएँ

भारतीय आचारदर्शन में कर्मसिद्धान्त का नैतिकता की मूलभूत मान्यता कहा जा सकता है। कर्मसिद्धान्त कर्म और उनके प्रतिफल के अनिवार्य सम्बन्ध को सूचित करता है। कर्मसिद्धान्त की सहयोगी नैतिक-मान्यताएँ हैं— 1. आत्मा (कर्ता) का अस्तित्व, 2. पुनर्जन्म की अवधारणा (आत्मा की अमरता) एवं 3. कर्म के चयन की स्वतन्त्रता। यद्यपि इसी प्रकार कर्मफल के प्रदाता अथवा नैतिक-जीवन के आदर्श के रूप में ईश्वर के अस्तित्व की मान्यता भी प्रायः सभी भारतीय आचारदर्शनों में प्रमुख रही है, तथापि जैनदर्शन कर्मफलप्रदाता के रूप में ईश्वर को नहीं मानता है। उसके दर्शन में ईश्वर नैतिक पूर्णता का प्रतीक मात्र हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय-दर्शन में बन्धन (दुःख) और उसके कारण तथा दुःख से मुक्ति (दुःख-विमुक्ति) और दुःख विमुक्ति के उपाय (साधनापथ) भी नैतिक पूर्व मान्यता के

अन्तर्गत आते हैं।

जैन-दर्शन की तत्त्वयोजना में स्वीकृत नवतत्त्वों का बहुत कुछ सम्बन्ध भी नैतिक-मान्यताओं से है। फिर भी, पाश्चात्य-परम्परा के साथ सुविधापूर्ण तुलना के लिए जैन-तत्त्वयोजना के आधार पर नैतिक-मान्यताओं को निम्न रूप में रखा जा सकता है।

(अ) कर्त्ता से सम्बन्धित नैतिक-मान्यताएँ - (1) आत्मा का बौद्धिक एवं आनन्दमय स्वरूप, (2) आत्मा की अमरता या पुनर्जन्म का प्रत्यय और (3) आत्मा की स्वतन्त्रता।

(ब) कर्म से सम्बन्धित नैतिक-मान्यताएँ - (4) कर्मसिद्धान्त, (5) बन्धन (दुःख) तथा उसके कारण (6) कर्म का शुभत्व, अशुभत्व एवं शुद्धत्व, (7) बन्धन से मुक्ति के उपाय (संवर एवं निर्जरा)

(स) नैतिक-साध्य से सम्बन्धित नैतिक-मान्यताएँ - (8) नैतिक-जीवन का ऐहिक-आदर्श (अर्हत्त्व), (9) नैतिक-जीवन का चरम साध्य (मोक्ष)

जैन-चिन्तन में आत्मा के अस्तित्व की अवधारणा, कर्मसिद्धान्त की अवधारणा और ईश्वर (मुक्त आत्मा) के अस्तित्व की अवधारणा के पीछे मूल रूप से नीतिशास्त्र को एक ठोस तात्त्विक-आधार प्रदान करने की दृष्टि रही है, इसलिए जैन दर्शन में चाहे आत्मा के अस्तित्व को, या मुक्तात्मा या मोक्ष के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न हो, उसे नैतिक आधार पर ही पुष्ट करने का प्रयास हुआ है।

जैन दर्शन में नैतिकता की पूर्व मान्यता के रूप में सात या नवतत्त्वों की अवधारणा है। इनके मूल में जीव और अजीव तत्त्व ही है। अजीव तत्त्व के रूप जैन दार्शनिकों ने कर्म पुद्गल को ही बन्धन का तात्त्विक आधार माना है। आस्रव-कर्म पुद्गलों का आत्मा की ओर आना है। संवर कर्म पुद्गलों का आत्मा की ओर आगमन का रुक जाना है, यह मनवाक् और काया (इन्द्रिय) के संयम से होता है। आत्मा और कर्म पुद्गलों का संश्लिष्ट (एकमेक) होना बन्ध है और इनको एक दूसरे से अलग-अलग करने की प्रक्रिया निर्जरा है और अन्त में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप होना मोक्ष है। अतः नव या सात तत्त्वों में से आस्रव और बन्ध, ये दो अशुभ हैं या अनैतिक हैं। जबकि संवर और निर्जरा की प्रक्रिया नैतिक

है। मोक्ष आत्मा का शुद्ध स्वरूप है अतः नैतिकता से परे या अति नैतिक है। पुण्य और पाप क्रमशः शुभ कर्म परोपकार के प्रतीक हैं और अशुभ कर्म पर-पीड़नरूप पापकार्य के प्रतीक हैं। आत्मा का लक्ष्य पुण्य और पाप दोनों का अतिक्रमण कर शुद्धावस्था (मोक्ष) को प्राप्त करना है। मोक्ष आत्मपूर्णता या आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता की अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए संवर (संयम) और निर्जरा (तप) की साधना आवश्यक है।

कान्ट ने जिन तीन नैतिक मान्यताओं की चर्चा की है, उनमें आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जैन दार्शनिकों ने निम्न तर्क दिये हैं-

आत्मा के प्रत्यय की आवश्यकता-

आत्मा का प्रत्यय नैतिक-विचारणा के लिए क्यों आवश्यक है? इस प्रश्न का समुचित उत्तर निम्न तर्कों के आधार पर दिया जा सकता है-

1. नैतिकता एक विचार है, जिसे किसी विचारक की अपेक्षा है।
2. नैतिकता और अनैतिकता कार्यों के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है। सामान्यजन विचारपूर्वक सम्पादित कार्यों के आधार पर उसके कर्त्ता को नैतिक अथवा अनैतिक मान्यता है, अतः विचारपूर्वक कार्यों के सम्पादित करने वाला स्वचेतन कर्त्ता नैतिक-दर्शन के लिए आवश्यक है।

3. शुभाशुभ का ज्ञान एवं विवेक नैतिक-उत्तरदायित्व की अनिवार्य शर्त है। नैतिक-उत्तरदायित्व किसी विवेकवान् चेतना के अभाव में सम्भव नहीं है।

4. नैतिक या अनैतिक कर्मों के लिए कर्त्ता उसी स्थिति में उत्तरदायी है, जब कर्म स्वयं कर्त्ता का हो। यह स्व का विचार आत्मा का विचार है एवं आत्माश्रित है।

5. नैतिक-उत्तरदायित्व के लिए कर्म कर्त्ता के संकल्प का परिणाम होना चाहिए। संकल्प चेतना (आत्मा) के द्वारा ही हो सकता है।

6. नैतिक एवं अनैतिक-कर्म के सम्पन्न होने के पूर्व विभिन्न इच्छाओं एवं वासनाओं के मध्य संघर्ष होता है और उसमें से किसी एक का चयन होता है, अतः इस संघर्ष का द्रष्टा एवं चयन का कर्त्ता कोई स्वचेतन आत्म-तत्त्व ही हो सकता है।

7. नैतिक-उत्तरदायित्व में संकल्प की स्वतन्त्रता अनिवार्य शर्त है और

संकल्प की स्वतन्त्रता स्वचेतन (आत्मचेतन) आत्मतत्त्व में ही हो सकती है।

8. यदि नैतिकता एक आदर्श है, तो आदर्श की अभिस्वीकृति और उसकी उपलब्धि का प्रयास आत्मा के द्वारा ही सम्भव है।

जैन-दर्शन में आत्मा का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न पर समुचित रूप से विचार करने के लिए हमें यह जान लेना होगा कि किसी तर्कसिद्ध नैतिक-दर्शन के लिए किस प्रकार के आत्मसिद्धान्त की आवश्यकता है और जैन-दर्शन की तत्सम्बन्धी मान्यताएँ कहाँ तक नैतिक-विचारणा के अनुकूल हैं। यहाँ तात्त्विक-समालोचनाओं में जाकर मात्र नैतिकता की दृष्टि से ही आत्म-सम्बन्धी मान्यताओं पर विचार किया गया है।

आत्म का अस्तित्व

जहाँ तक नैतिक-जीवन का प्रश्न है, आत्मा के अस्तित्व पर शंका करके आगे बढ़ना असम्भव है। जैन-दर्शन में नैतिक-विकास की पहली शर्त आत्मविश्वास है। जैन-विचारकों ने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं—

1. जीव का अस्तित्व जीव शब्द से ही सिद्ध है, क्योंकि असद् की कोई सार्थ संज्ञा ही नहीं बनती।

2. जीव है या नहीं, यह सोचना मात्र ही जीव की सत्ता को सिद्ध करता है। देवदत्त जैसा सचेतन प्राणी ही यह सोच सकता है कि वह स्तम्भ है या पुरुष।

3. शरीर स्थित जो यह सोचता है कि मैं नहीं हूँ, वही तो जीव है। जीव के अतिरिक्त संशयकर्ता अन्य कोई नहीं है। यदि आत्मा ही न हो, तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव ही कैसे हो कि मैं हूँ? जो निषेध कर रहा है, वह स्वयं ही आत्मा है। संशय के लिए किसी ऐसे तत्त्व की अनिवार्यता है, जो उसका आधार हो। बिना अधिष्ठान के किसी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। संशयी ही नहीं है, तो 'मैं हूँ' या 'नहीं हूँ', यह संशय कहाँ से उत्पन्न होता है? यदि तुम स्वयं ही अपने खुद के विषय में सन्देह कर सकते हो, तो फिर किसमें संशय न होगा, क्योंकि संशय आदि जितनी भी मानसिक और बौद्धिक-क्रियाएँ हैं, सब आत्मा के कारण ही हैं। जहाँ संशय होता है, वहाँ आत्मा का अस्तित्व अवश्य स्वीकारना पड़ता है। जो

प्रत्येक्ष अनुभव से सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। ये सब आत्मपूर्वक ही हो सकते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जिसके द्वारा जाना जाता है, वही आत्मा है।

आचार्य शंकर भी ब्रह्मसूत्रभाष्य में ऐसे ही तर्क देते हुए कहते हैं कि जो निरसन कर रहा है, वही तो उसका स्वरूप है। आत्मा के अस्तित्व के लिए स्वतः बोध को शंकर भी एक प्रबल तर्क के रूप में स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि सभी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, कोई भी ऐसा नहीं कहता है कि मैं नहीं हूँ। अन्यत्र शंकर स्पष्ट रूप से यह भी कहते हैं कि बोध से सत्ता को और सत्ता से बोध को पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि हमें आत्मा का स्वतः बोध होता है, तो उसकी सत्ता निर्विवाद है।

पाश्चात्य-विचारक देकार्त ने भी इसी तर्क के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। वह कहता है कि सभी के अस्तित्व सन्देह से परे है। सन्देह करना विचार करना है और विचारक के अभाव में विचार नहीं हो सकता। मैं विचार करता हूँ, अतः मैं हूँ। इस प्रकार, देकार्त के अनुसार भी आत्मा का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है।

आत्मा की अमरता के लिए जैनदार्शनिकों ने निम्न तर्क दिये हैं-

आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म

आत्मा की अमरता के साथ पुनर्जन्म का प्रत्यय जुड़ा हुआ है। भारतीय-दर्शनों में चार्वाक को छोड़कर शेष सभी दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। अब आत्मा को अमर मान लिया जाता है, तो पुनर्जन्म भी स्वीकार करना ही होगा। गीता कहती है, जिस प्रकार मनुष्य वस्त्रों की जीर्ण हो जाने पर नए वस्त्र ग्रहण करता रहता है, वैसे ही यह आत्मा भी जीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर ग्रहण करता रहता है। न केवल गीता में, वरन् बौद्ध-दर्शन में भी इसे माना गया है। डॉ. रामानन्द तिवारी पुनर्जन्म के पक्ष में लिखते हैं कि एक जन्म के सिद्धान्त के अनुसार चिरन्तन आत्मा और नश्वर शरीर का सम्बन्ध एक काल-विशेष में आरम्भ होकर एक काल-विशेष में ही अन्त हो जाता है, किन्तु चिरन्तन का कालिक-सम्बन्ध अन्याय (तर्कविरुद्ध) है और इस (एक जन्म के) सिद्धान्त से उसका कोई समाधान नहीं है- पुनर्जन्म का सिद्धान्त के

अनुसार जन्मकाल में भागदियों के भेद को अकारण एवं संयोगजन्य मानना होगा।

कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म

डॉ. मोहनलाल मेहता कर्मसिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनके शब्दों में, कर्मसिद्धान्त अनिवार्य रूप से पुनर्जन्म के प्रत्यय से संलग्न है, पूर्ण विकसित पुनर्जन्म-सिद्धान्त के अभाव में कर्मसिद्धान्त अर्थशून्य है। आचारदर्शन के क्षेत्र में यद्यपि पुनर्जन्म-सिद्धान्त और कर्मसिद्धान्त एक-दूसरे के अति निकट हैं, फिर भी धार्मिक-क्षेत्र में विकसित कुछ आचारदर्शनों ने कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं किया है। कट्टर पाश्चात्य निरीश्वरवादी-दार्शनिक नित्से ने कर्मशक्ति और पुनर्जन्म पर जो विचार व्यक्त किए हैं, वे महत्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं, कर्म-शक्ति के जो हमेशा रूपान्तर हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं तथा काल-अनन्त हैं, इसलिए कहना पड़ता है कि जो नामरूप एक बार हो चुके हैं, वही फिर आगे यथापूर्व कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होते ही हैं।

आत्मा की स्वतन्त्रता या संकल्प की स्वतन्त्रता के लिए जैन दार्शनिकों का कथन है कि आत्मा के पास सीमित स्वतन्त्रता है। सभी संसारी जीवात्माएँ अंशतः कार्यों के कारण परतन्त्र हैं, किन्तु वे अपनी सीमित स्वतन्त्रता का सदुपयोग करके पूर्ण स्वतन्त्र का मुक्त हो सकते हैं।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के दो दृष्टिकोण

यदि स्वतन्त्रता आवश्यक है, तो प्रश्न यह उठता है कि क्या व्यक्ति स्वतन्त्र है? इस विषय में प्राचीन काल से ही दो दृष्टिकोण रहे हैं। जिन लोगों ने इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक रूप से दिश और यह माना कि व्यक्ति कृत्यों के चयन और उनके सम्पादन में स्वच्छन्द है, उन्हें प्राचीन भारतीय-दर्शन में यदृच्छावादी कहा जाता है और पाश्चात्य-विचारकों ने इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक-रूप में दिया और यह माना कि व्यक्ति में ऐसी स्वच्छन्दता का अभाव है, उन्हें भारतीय-चिन्तन में नियतिवादी, भाग्यवादी, दैववादी आदि रूप में जाना जाता है। पश्चिम में इन्हें नियतिवादी, परतन्त्रतावादी या निर्धारणवादी कहते हैं। यदृच्छावादी और

नियतिवादी-धारणाएँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचार प्रस्तुत करती हैं, अतः सामान्य व्यक्ति के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह किसे सत्य और किसे असत्य कहे। दार्शनिकों ने प्राचीन काल से इन सिद्धान्तों की गहन समीक्षा की है और इनके औचित्य का ठीक-ठीक मूल्यांकन करने का भी प्रयास किया है। अगले पृष्ठों में उनकी समीक्षाएँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

नैतिक आचरण की पूर्व मान्यता के रूप में जैन दर्शन निम्न छह बातों को आवश्यक माना है—

1. आत्मा है
2. आत्मनित्य है (आत्मा अमर है)
3. आत्मा कर्मों का कर्ता है (कर्म करने में स्वतंत्र है)
4. आत्मा कर्म-फल का भोक्ता है (अर्थात् कर्मफल के भोग में परतन्त्र है)
5. कर्म बन्धन से मुक्ति सम्भव है।
6. कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की साधना आवश्यक है। आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को समझाने के लिए हम यहाँ सर्वप्रथम जैन कर्मसिद्धान्त की ओर फिर त्रिविध मोक्ष मार्ग की चर्चा करेंगे।

जैन कर्मसिद्धान्त : एक विश्लेषण

कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

कर्मसिद्धान्त का उद्भव सृष्टि-वैचित्र्य, वैयक्तिक-भिन्नताओं, व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों एवं शुभाशुभ मनोवृत्तियों के कारण की व्याख्या के प्रयासों में ही हुआ है। सृष्टि-वैचित्र्य एवं वैयक्तिक भिन्नताओं के कारण की खोज के इन प्रयासों से विभिन्न विचारधाराएँ अस्तित्व में आयीं। श्वेताश्वतरोपनिषद्, अंगुत्तरनिकाय और सूत्रकृतांग में हमें इन विभिन्न विचारधाराओं की उपस्थिति के संकेत मिलते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में इन विचारधाराओं की उपस्थिति के संकेत मिलते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में इन विचारधाराओं की समीक्षा भी की गई है।

इस सम्बन्ध में प्रमुख मान्यताएँ निम्न हैं—

1. **कालवाद**— यह सिद्धान्त सृष्टि-वैविध्य और वैयक्तिक-विभिन्नताओं का कारण काल को स्वीकार करता है। जिसका जो समय या काल होता है, तभी वह घटित होता है, जैसे— अपनी ऋतु (समय) आने पर ही वृक्ष में फल लगते हैं।
2. **स्वभाववाद**— संसार में जो भी घटित होगा, या होता है, उसका आधार वस्तुओं का अपना-अपना स्वभाव है। संसार में कोई भी स्वभाव का उत्लंघन नहीं कर सकता है।
3. **नियतिवाद**— संसार का समग्र घटना-क्रम पूर्व नियत है, जो जिस रूप में होना होता है, वैसा ही होता है, उसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता।
4. **यदृच्छावाद**— किसी भी घटना का कोई नियत हेतु या कारण नहीं होता है। समस्त घटनाएँ मात्र संयोग का परिणाम हैं। यदृच्छावाद हेतु के स्थान पर संयोग (Chance) को प्रमुख बना देता है।
5. **महाभूतवाद**— समग्र अस्तित्व के मूल में पंचमहाभूतों की सत्ता रही है। संसार उनके वैविध्यमय विभिन्न संग्रहों का ही परिणाम है।
6. **प्रकृतिवाद**— विश्व-वैविध्य 'त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही खेल है। मानवीय सुख-दुःख भी प्रकृति के ही अधीन हैं।
7. **ईश्वरवाद**— ईश्वर ही इस जगत् का रचयिता एवं नियामक है, जो कुछ भी होता है, वह सब उसकी इच्छा या क्रियाशक्ति का परिणाम है।
8. **पुरुषवाद**— वैयक्तिक विभिन्नता और सांसारिक घटना-क्रम के मूल में पुरुष का पुरुषार्थ ही प्रमुख है।

वस्तुतः, जगत्-वैविध्य और वैयक्तिक भिन्नताओं की तार्किक व्याख्या के इन्हीं प्रयत्नों में कर्मसिद्धान्त का विकास हुआ है, जिसमें पुरुषवाद की प्रमुख भूमिका रही है। कर्मसिद्धान्त उपर्युक्त सिद्धान्तों का पुरुषवाद के साथ समन्वय का प्रयत्न है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रारम्भ में ही प्रश्न उठाया गया है कि हम किसके द्वारा प्रेरित होकर संसार-यात्रा का अनुवर्तन कर रहे हैं। आगे, ऋषि यह जिज्ञासा प्रकट करता है कि क्या काल, स्वभाव, नियति,

यदृच्छा, भूत-योनि अथवा पुरुष या इन सबका संयोग ही इसका कारण है। वस्तुतः, इन सभी विचारधाराओं में पुरुषवाद को छोड़कर शेष सभी विश्व-वैचित्र्य और वैयक्तिक-वैविध्य की व्याख्या के लिए किसी न किसी बाह्य-तथ्य पर ही बल दे रही थीं। हम इनमें से किसी भी सिद्धान्त को मानें, वैविध्य का कारण व्यक्ति से भिन्न ही मानना होगा, किन्तु ऐसी स्थिति में व्यक्ति पर नैतिक दायित्व का आरोपण सम्भव नहीं हो पाता है। यदि हम जो कुछ भी करते हैं और जो कुछ भी पाते हैं, उसका कारण बाह्य तथ्य ही हैं, तो फिर हम किसी भी कार्य के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी ठहराये नहीं जा सकते। यदि व्यक्ति काल, स्वभाव, नियति अथवा ईश्वर की इच्छाओं का एक साधन मात्र है, तो वह उस कठपुतली के समान है, जो दूसरे के इशारों पर ही कार्य करती है, किन्तु ऐसी स्थिति में पुरुष में इच्छा-स्वातन्त्र्य का अभाव मानने पर नैतिक उत्तरदायित्व की समस्या उठती है। सामान्य मनुष्य को नैतिकता के प्रति आस्थावान् बनाने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति को उसके शुभाशुभ कर्मों के प्रति उत्तरदायी बनाया जा सके और यह तभी सम्भव है, जब उसके मन में विश्वास हो कि उसे उसकी स्वतन्त्र इच्छा से किये गये अपने ही कर्मों का परिणाम प्राप्त होता है। यही कर्मसिद्धान्त है। ज्ञातव्य है कि कर्मसिद्धान्त ईश्वरीय कृपा या अनुग्रह के विरोध में जाता है, वह यह मानता है कि ईश्वर भी कर्मफल-व्यवस्था को अन्यथा नहीं कर सकता है। कर्म का नियम ही सर्वोपरि है।

कर्मसिद्धान्त और कार्यकारण का नियम

आचार के क्षेत्र में इस कर्मसिद्धान्त की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी विज्ञान के क्षेत्र में कार्य-कारण-सिद्धान्त की। जिस प्रकार कार्यकारण-सिद्धान्त के अभाव में वैज्ञानिक व्याख्याएं असम्भव होती हैं, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त के अभाव में नीतिशास्त्र भी अर्थ-शून्य हो जाता है।

प्रो. वेंकटरमण के शब्दों में, कर्मसिद्धान्त कार्यकारण-सिद्धान्त के नियमों एवं मान्यताओं का मानवीय आचार के क्षेत्र में प्रयोग है, जिसकी उपकल्पना यह है कि जगत् में सभी कुछ किसी नियम के अधीन है।

मैक्समूलर लिखते हैं कि यह विश्वास कि कोई भी अच्छा-बुरा कर्म बिना फल दिए समाप्त नहीं होता, नैतिक जगत् का वैसा ही विश्वास है, जैसा भौतिक जगत् में ऊर्जा की अविनाशिता का नियम है। यद्यपि कर्मसिद्धान्त एवं वैज्ञानिक कार्यकारण-सिद्धान्त में सामान्य रूप से समानता प्रतीत होती है, किन्तु उनमें एक मौलिक अन्तर भी है। यह कि जहाँ कार्य-कारण सिद्धान्त का विवेच्य जड़ तत्त्व के क्रिया-कलाप हैं, वहीं कर्म-सिद्धान्त का विवेच्य चेतना सत्ता के क्रिया-कलाप हैं, अतः कर्मसिद्धान्त में वैसी पूर्ण नियन्त्रिता नहीं होती, जैसी कार्यकारण सिद्धान्त में होती है। यह नियन्त्रिता एवं स्वतंत्रता का समुचित संयोग है। कर्मसिद्धान्त की मौलिक स्वीकृति यही है कि प्रत्येक शुभाशुभ क्रिया का कोई प्रभाव या परिणाम अवश्य होता है, साथ ही उस कर्म-विपाक या परिणाम का भोक्ता वही होता है, जो क्रिया का कर्ता होता है और कर्म एवं विपाक की यह परम्परा अनादि काल से चल रही है।

कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता

कर्मसिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता यह है कि वह न केवल हमें नैतिकता के प्रति आस्थावान् बनाता है, अपितु वह हमारे सुख-दुःख आदि का स्रोत हमारे व्यक्तित्व में ही खोजकर ईश्वर एवं प्रतिवेशी अर्थात् अन्य व्यक्तियों के प्रति कटुता का निवारण करता है। कर्मसिद्धान्त की स्थापना का प्रयोजन यही है कि नैतिक कृत्यों के अनिवार्य फल के आधार पर उनके प्रेरक कारणों एवं अनुवर्ती परिणामों की व्याख्या की जा सके तथा व्यक्तियों को अशुभ या दुष्कर्मों से विमुख किया जा सके।

जैन कर्मसिद्धान्त और अन्य दर्शन

ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों में उपस्थित ऋत का सिद्धान्त कर्म-नियम का आदि स्रोत है। यद्यपि उपनिषदों के पूर्व के वैदिक-साहित्य में कर्म-सिद्धान्त का कोई सुस्पष्ट विवेचन नहीं मिलता, फिर भी उसमें उपस्थित ऋत के नियम की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है। पं. दलसुख मालवणिया के शब्दों में, कर्म (जगत् वैचित्र्य का) कारण है, ऐसा वाद उपनिषदों का सर्व-सम्मतवाद हो, नहीं कहा जा सकता। भारतीय चिन्तन में कर्म-सिद्धान्त का विकास जैन, बौद्ध और वैदिक- तीनों

परम्पराओं में हुआ है, यद्यपि यह एक भिन्न बात है कि जैनों ने कर्मसिद्धान्त का जो गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया, वह अन्य परम्पराओं में उपलब्ध नहीं है। वैदिकों के लिए जो महत्त्व ऋत का, मीमांसकों के लिए अपूर्व का, नैयायिकों के लिए अदृष्ट का, वैदान्तियों के लिए माया का और सांख्यों के लिए प्रकृति का है, वही जैनों के लिए कर्म का है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से देखने पर वेदों का ऋत, मीमांसकों का अपूर्व, नैयायिकों का अदृष्ट, अद्वैतियों की माया, सांख्यों की प्रकृति एवं बौद्धों की अविद्या या संस्कार पर्यायवाची से लगते हैं, क्योंकि व्यक्ति के बन्धन एवं उसके सुख-दुःख की स्थितियों में इनकी मुख्य भूमिका है, फिर भी इनके स्वरूप में दार्शनिक दृष्टि से अन्तर भी है— यह बात हमें दृष्टिगत रखनी होगी। ईसाईधर्म और इस्लामधर्म में भी कर्म-नियम को स्थान मिला है, फिर भी ईश्वरीय अनुग्रह पर अधिक बल देने के कारण उनमें कर्म-नियम के प्रति आस्था के स्थान पर ईश्वर के प्रति विश्वास ही प्रमुख रहा है। ईश्वर की अवधारणा के अभाव के कारण भारत की श्रमण परम्परा कर्मसिद्धान्त के प्रति अधिक आस्थावान् रही, बौद्ध-दर्शन में भी जैनों के समान ही कर्म-नियम को सर्वोपरि माना गया। हिन्दूधर्म में भी ईश्वरीय-व्यवस्था को कर्म-नियम के अधीन लाया गया, उसमें ईश्वर कर्म-नियम का व्यवस्थापक होकर भी उसके अधीन ही कार्य करता है।

जैन कर्मसिद्धान्त का विकास क्रम

जैन-कर्मसिद्धान्त का विकास किस क्रम में हुआ, इस प्रश्न का समाधान उतना सरल नहीं है, जितना कि हम समझते हैं। सामान्य विश्वास तो यह है कि जैन धर्म की तरह यह भी अनादि है, किन्तु विद्वत्-वर्ग इसे स्वीकार नहीं करता है। यदि जैन-कर्मसिद्धान्त के विकास का कोई समाधान देना हो, तो वह जैन आगम एवं कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों के कालक्रम के आधार पर ही दिया जा सकता है, इसके अतिरिक्त अन्य विकल्प नहीं हैं। जैन आगमसाहित्य में आचारांग प्राचीनतम है। इस ग्रन्थ में जैन-कर्मसिद्धान्त का चाहे विकसित स्वरूप उपलब्ध न हो, किन्तु उसकी मूलभूत अवधारणाएँ अवश्य उपस्थित हैं। कर्म से उपाधि । या बन्धन होता है, कर्म रज है, कर्म का आस्त्रव होता है, साधक को

कर्मशरीर को धुन डालना चाहिए आदि विचार उसमें परिलक्षित होते हैं। इससे यह फलित होता है कि आचारांग के काल में कर्म को स्पष्ट रूप से बन्धन का कारण माना जाता था और कर्म के भौतिक पक्ष की स्वीकृति के साथ आचारांग में शुभाशुभ कर्मों का शुभाशुभ विपाक होता है, यह अवधारणा भी उपस्थित है। उसके अनुसार बन्धन का मूल कारण ममत्व है। बन्धन से मुक्ति का उपाय ममत्व का विसर्जन और समत्व का सर्जन है।

सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भी आचारांग से किंचित ही परवर्ती माना जाता है। सूत्रकृतांग के काल में यह प्रश्न बहुचर्चित था कि कर्म का फल संविभाग सम्भव है या नहीं? इसमें स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि व्यक्ति अपने स्वकृत कर्मों का ही विपाक अनुभव करता है। बन्धन के सम्बन्ध में सूत्रकृतांग (1/8/2) स्पष्ट रूप से कहता है कि कुछ व्यक्ति कर्म कों और कुछ अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कर्म के सन्दर्भ में यह विचार लोगों के मन में उत्पन्न हो गया था कि यदि कर्म ही बन्धन है, तो फिर अकर्म अर्थात् निष्क्रियता ही बन्धन से बचने का उपाय होगा, किन्तु सूत्रकृतांग के अनुसार अकर्म का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। इसमें प्रतिपादित है कि प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म है (1/8/3)। वस्तुतः, किसी क्रिया की बन्धकता उसके क्रिया-रूप होने पर नहीं, अपितु उसके पीछे रही प्रमत्तता या अप्रमत्तता पर निर्भर है। यहाँ प्रमाद का अर्थ है- आत्मचेतना (Selfawareness) का अभाव। जिस आत्मा का विवेक जाग्रत नहीं है और जो कषाययुक्त है, वही परिसुप्त या प्रमत्त है और जिसका विवेक जाग्रत है और जो वासना-मुक्त है, वही अप्रमत्त है। सूत्रकृतांग (2/2/1) में ही हमें क्रियाओं के दो रूपों की चर्चा भी मिलती है- 1. साम्प्रदायिक और 2. ईर्यापथिक। राग, द्वेष, क्रोध आदि कषायों से युक्त क्रियाएं ईर्यापथिक बन्धनकारक नहीं होतीं। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूत्रकृतांग में कौन सा कर्म बन्धन का कारण होगा आत्मा को कैसे प्रभावित कर सकता है? सांख्यदर्शन पुरुष और प्रकृति के द्वैत को स्वीकार करके भी इनके पारस्परिक सम्बन्ध को नहीं समझा पाया, क्योंकि उसने पुरुष को कूटस्थ नित्य मान लिया था, किन्तु जैन-दर्शन ने अपने वस्तुवादी और

परिणामवादी विचारों के आधार पर इनकी सफल व्याख्या की है। वह बताता है कि जिस प्रकार जड़ मादक पदार्थ चेतना को प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार जड़ कर्मवर्गणाओं का प्रभाव चेतन आत्मा पर पड़ता है, इसे स्वीकार किया जा सकता है। संसार का अर्थ है— जड़ और चेतन का वास्तविक सम्बन्ध। इस सम्बन्ध की वास्तविकता को स्वीकार किये बिना जगत् की व्याख्या सम्भव नहीं है।

मूर्त्तकर्म का अमूर्त्त आत्मा पर प्रभाव

यह भी सत्य है कि कर्म मूर्त्त हैं और वे हमारी चेतना को प्रभावित करते हैं। जैसे मूर्त्त भौतिक विषयों की चेतना व्यक्ति से सम्बद्ध होने पर सुख-दुःख आदि का अनुभव या वेदना होती है, वैसे ही कर्म के परिणामस्वरूप भी वेदना होती है, अतः वे मूर्त्त हैं, किन्तु दार्शनिक-दृष्टि से यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि कर्म मूर्त्त हैं, तो वह अमूर्त्त आत्मा पर प्रभाव कैसे डालेगा? जिस प्रकार वायु और अग्नि अमूर्त्त आकाश पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकती हैं, उसी प्रकार कर्म का अमूर्त्त आत्मा पर भी कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए। जैनदार्शनिक यह मानते हैं कि जैसे अमूर्त्त ज्ञानादि गुणों पर मूर्त्त मदिरादि का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही अमूर्त्त जीव पर भी मूर्त्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। उक्त प्रश्न का दूसरा तर्क-संगत एवं निर्दोष समाधान यह भी है कि कर्म के सम्बन्ध से आत्मा कथंचित् मूर्त्त भी है, क्योंकि संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मद्रव्य से सम्बद्ध होने के कारण स्वरूपतः अमूर्त्त होते हुए भी वस्तुतः कथंचित् मूर्त्त है। इस दृष्टि से भी आत्मा पर मूर्त्तकर्म का उपधात, अनुग्रह और प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः, जिस पर कर्मसिद्धान्त का नियम लागू होता है, वह व्यक्तित्व अमूर्त्त नहीं है। हमारा वर्तमान व्यक्तित्व शरीर (भौतिक) और आत्मा (अभौतिक) का एक विशिष्ट संयोग है। शरीरी आत्मा भौतिक बाह्य तथ्यों से अप्रभावित नहीं रह सकता। जब तक आत्मा-शरीर (कर्म-शरीर) के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाती, तब तक वह अपने को भौतिक प्रभावों से पूर्णतया अप्रभावित नहीं रख सकती। मूर्त्त शरीर के माध्यम से ही उस पर मूर्त्तकर्म का प्रभाव पड़ता है।

आत्मा और कर्मवर्गणाओं में वास्तविक सम्बन्ध स्वीकार करने पर यह प्रश्न उठता है कि मुक्त अवस्था में भी जड़ कर्मवर्गणाएँ आत्मा को प्रभावित किए बिना नहीं रहेंगी, क्योंकि भुक्ति-क्षेत्र में भी कर्मवर्गणाओं का अस्तित्व तो है ही। इस सन्दर्भ में जैन आचार्यों का उत्तर यह है कि जिस प्रकार कीचड़ में रहा लोहा जंग खाता है, परन्तु स्वर्ण नहीं, उसी प्रकार जड़कर्म पुद्गल उसी आत्मा को विकारी बना सकते हैं, जो राग-द्वेष से अशुद्ध है। वस्तुतः, जब तक आत्मा भौतिक शरीर से युक्त होता है, तभी तक कर्मवर्गणा के पुद्गल उसे प्रभावित कर सकते हैं। आत्मा में पूर्व से उपस्थित कर्मवर्गणा के पुद्गल ही बाह्य-जगत् के कर्मवर्गणाओं को आकर्षित कर सकते हैं। मुक्त अवस्था में आत्मा अशरीरी होता है, अतः उसे कर्मवर्गणा के पुद्गल प्रभावित करने में समर्थ नहीं होते हैं।

कर्म एवं उनके विपाक की परम्परा

कर्म एवं उनके विपाक की परम्परा से ही यह संसार-चक्र प्रवर्तित होता है। दार्शनिक-दृष्टि से यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध कब से हुआ। यदि हम यह सम्बन्ध सादि अर्थात् काल-विशेष में हुआ- ऐसा मानते हैं, तो यह मानना होगा कि उसके पहले आत्मा मुक्त था और यदि मुक्त आत्मा को बन्धन में आने की सम्भावना हो, तो फिर मुक्ति का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता है। यदि यह माना जाय कि आत्मा अनादिकाल से बन्धन में है, तो फिर यह मानना होगा कि यदि बन्धन अनादि है, तो वह अनन्त भी होगा, ऐसी स्थिति में मुक्ति की सम्भावना ही समाप्त हो जायेगी।

जैनदार्शनिकों ने इस समस्या का समाधान इस रूप में किया कि कर्म और विपाक की यह परम्परा कर्म-विशेष की अपेक्षा से तो सादि और सान्त है, किन्तु प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और अनन्त है। पुनः, कर्म और विपाक की परम्परा का यह प्रवाह भी व्यक्ति-विशेष की दृष्टि से अनादि तो है, अनन्त नहीं, क्योंकि प्रत्येक कर्म अपने बन्धन की दृष्टि से सादि है। यदि व्यक्ति नवीन कर्मों का आगमन रोक सके, तो यह परम्परा स्वतः ही समाप्त हो जायेगी, क्योंकि कर्म-विशेष तो सादि है, ही और जो सादि है, वह कभी समाप्त होगा ही।

जैनदार्शनिकों के अनुसार राग-द्वेषरूपी कर्मबीज के भुन जाने पर कर्म-प्रवाह की परम्परा समाप्त हो जाती है। कर्म और विपाक की परम्परा के सम्बन्ध में यही एक ऐसा दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर बन्धन का अनादित्व व मुक्ति से अनावृत्ति की समुचित व्याख्या सम्भव है।

कर्मफलसंविभाग का प्रश्न

क्या एक व्यक्ति अपने शुभाशुभ कर्मों का फल दूसरे को दे सकता है या नहीं, अथवा दूसरे के कर्मों का फल उसे प्राप्त होता है या नहीं, यह दार्शनिक-दृष्टि से एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। भारतीय चिन्तन में हिन्दू-परम्परा का मानना है कि व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मों का फल उसके पूर्वजों व सन्तानों को मिल सकता है। इस प्रकार, वह इस सिद्धान्त को मानती है कि कर्मफल का संविभाग सम्भव है। इसके विपरीत, बौद्ध-परम्परा कहती कि व्यक्ति के पुण्यकर्म का ही संविभाग हो सकता है, पापकर्म का नहीं, क्योंकि पापकर्म में उसकी अनुमति नहीं होती है। पुनः उनके अनुसार पाप सीमित होता है, अतः, इसका संविभाग नहीं हो सकता, किन्तु पुण्य के अपरिमित होने से उसका ही संविभाग सम्भव है, किन्तु इस सम्बन्ध में जैनों का दृष्टिकोण भिन्न है, उनके अनुसार व्यक्ति अपने कर्मों का फल-विपाक न तो दूसरों को दे सकता है और न दूसरे के शुभाशुभ कर्मों का फल उसे मिल सकता है। जैन दार्शनिक स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि कर्म और उसका विपाक व्यक्ति का अपना स्वकृत होता है।

जैन-कर्मसिद्धान्त में कर्मफलसंविभाग का अर्थ समझने के लिए हमें निमित्त-कारण और उपादान-कारण के भेद को समझना होगा। दूसरा व्यक्ति हमारे सुख-दुःख में और हम दूसरे के सुख-दुःख में निमित्त हो सकते हैं, किन्तु भोक्ता और कर्ता तो वही होता है, अतः उपादान की दृष्टि से तो कर्म और उसका विपाक, अर्थात् सुख-दुःख का अनुभव स्वकृत है। निमित्त की दृष्टि से उन्हें परकृत कहा जा सकता है, किन्तु निमित्त अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि कर्म-संकल्प तो हमारा अपना ही होता है एवं कर्म के विपाक की अनुभूति भी हमारी ही होती है। अतः, उपादान-कारण की दृष्टि से तो कर्म एवं उसके विपाक में संविभाग सम्भव नहीं है। न तो दूसरा व्यक्ति हमें सुखी या दुःखी कर सकता है और न

हम दूसरे को सुखी या दुःखी कर सकता है और न हम दूसरे को सुखी या दुःखी कर सकते हैं। हम अधिक से अधिक दूसरे के सुख-दुःख के निर्मित हो सकते हैं। सत्य तो यह है कि कर्म और उसका विपाक— दोनों ही व्यक्ति के अपने होते हैं।

कर्मविपाक की नियत्ता व अनियत्ता

कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि क्या जिन कर्मों का बन्ध किया गया है, उनका विपाक व्यक्ति को भोगना ही होता है। जैन कर्मसिद्धान्त में कर्मों को दो भागों में बांटा गया है—1. नियतविपाकी और 2. अनियतविपाकी। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका जिस फलविपाक को लेकर बन्ध किया गया है, उसी रूप में उनके फल के विपाक का वेदन करना होता है, किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जिनका विपाक का वेदन उसी रूप में नहीं करना होता, जिस रूप में उनका बन्ध होता है। पारम्परिक शब्दावली में उन्हें निकाचित कहते हैं। इसके विपरीत, जिन कर्मों के सम्पादन के पीछे कषायभाव अल्प होता है, उनका बन्धन शिथिल होता है और उनके विपाक का संवेदन आवश्यक नहीं होता है। वे तप एवं पश्चाताप के द्वारा अपना फल विपाक दिये बिना ही समाप्त हो जाते हैं।

वैयक्तिक—दृष्टि से सभी आत्माओं में कर्मविपाक परिवर्तन करने की क्षमता नहीं होती है। केवल वे ही व्यक्ति, जो आध्यात्मिक ऊंचाई पर स्थित हैं, कर्मविपाक में परिवर्तन कर सकते हैं। पुनः, वे भी उन कर्मों के विपाक को अन्यथा कर सकते हैं, जिनका बन्ध अनियतविपाकी कर्म के रूप में हुआ है। नियतविपाकी कर्मों का भोग तो अनिवार्य है। इस प्रकार, जैन-कर्मसिद्धान्त अपने को नियतिवाद और यदृच्छावाद— दोनों की एकांगिकता से बचाता है।

वस्तुतः, कर्मसिद्धान्त में कर्मविपाक की नियत्ता और अनियत्ता की विरोधी धारणाओं के समन्वय के अभाव में नैतिक जीवन की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं होती है। यदि एकान्त रूप से कर्मविपाक की नियत्ता को स्वीकार किया जाता है, तो नैतिक आचरण का चाहे निषेधात्मक रूप में कुछ सामाजिक मूल्य बना रहे, लेकिन उसका विधायक मूल्य तो

पूर्णतया समाप्त हो जाता है, क्योंकि नियत भविष्य के बदलने की सामर्थ्य नैतिक जीवन में नहीं रह पाती है। दूसरे, यदि कर्मों को पूर्णतः अनियतविपाकी माना जाये, तो नैतिक व्यवस्था का ही कोई अर्थ नहीं रह जाता है। विपाक की पूर्णनियत्ता को मानने पर निर्धारणवाद और विपाक की पूर्ण अनियत्ता मानने पर अनिर्धारणवाद की सम्भावना होगी, लेकिन दोनों ही धारणाएँ ऐकान्तिक रूप में नैतिक जीवन की समुचित व्याख्या कर पाने में असमर्थ हैं, अतः कर्मविपाक की आशिक नियत्ता ही एक तर्कसंगत दृष्टिकोण है, जो नैतिक दर्शन की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करता है।

कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ

जैन-दर्शन में कर्मों की विभिन्न अवस्थाओं पर चिन्तन हुआ है और बताया गया है कि कर्म के बन्ध और विपाक (उदय) के बीच कौन-कौन सी अवस्थाएँ घटित हो सकती हैं, पुनः, वे किस सीमा तक आत्मस्वातन्त्र्य को अभिव्यक्त करती हैं— इसकी चर्चा भी की गयी है। ये अवस्थाएँ निम्न हैं—

1. **बन्ध**— कषाय एवं योग के फलस्वरूप कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मप्रदेशों से जो सम्बन्ध स्थापित होता है, उसे बन्ध कहते हैं।
2. **संक्रमण**— एक कर्म के अनेक अवान्तर भेद होते हैं। जैन कर्मसिद्धान्त के अनुसार, कर्म का एक भेद अपने सजातीय दूसरे भेद में बदल सकता है। अवान्तर कर्म—प्रकृतियों का यह अदल-बदल संक्रमण कहलाता है। संक्रमण में आत्मा पूर्वबद्ध कर्म प्रकृति का नवीन कर्मप्रकृति का बन्ध करते समय रूपान्तरण करता है। उदाहरण के रूप में, पूर्व बद्ध दुःखद संवेदन रूप असातावेदनीय कर्म का नवीन सातावेदनीय कर्म का बन्ध करते समय सातावेदनीय कर्म के रूप में संक्रमण किया जा सकता है। संक्रमण की यह क्षमता आत्मा की पवित्रता के साथ ही बढ़ती जाती है। जो आत्मा जितनी पवित्र होती है, उसमें संक्रमण की क्षमता भी उतनी ही अधिक होती है। आत्मा में कर्मप्रकृतियों का एक दूसरे में कभी भी संक्रमण नहीं होता है, जैसे— ज्ञानावरण, दर्शनावरण में नहीं बदलता है। मात्र यही नहीं, दर्शनमोह कर्म, चारित्रमोह कर्म और आयुष्य कर्म की अवान्तर

प्रकृतियों का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता है।

3. **उद्वर्तना**— नवीन बन्ध करते समय आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों की काल-मर्यादा (स्थिति) और तीव्रता (अनुभाग) को बढ़ा भी सकता है। काल-मर्यादा और तीव्रता को बढ़ाने की यह प्रक्रिया उद्वर्तना कहलाती है।
4. **अपवर्तना**— नवीन बन्ध करते समय पूर्वबद्ध कर्मों की काल-मर्यादा (स्थिति) और तीव्रता (अनुभाग) को कम भी किया जा सकता है, इसे अपवर्तना कहते हैं।
5. **सत्ता**— कर्म के बद्ध होने के पश्चात् तथा उसके विपाक से पूर्व बीच की अवस्था सत्ता कहलाती है। सत्ता-काल में कर्म अस्तित्व में तो रहता है, किन्तु वह सक्रिय नहीं होता।
6. **उदय**— जब कर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते हैं, तो वह अवस्था उदय कहलाती है। उदय दो प्रकार का माना गया है— 1. विपाकोदय और 2. प्रदेशोदय। कर्म का अपना अपने फल की चेतन अनुभूति कराये बिना ही निर्जरित होना प्रदेशोदय कहलाता है, जैसे अचेतन अवस्था में शल्य क्रिया की वेदना की अनुभूति नहीं होती, यद्यपि वेदना की घटना घटित होती है। इसी प्रकार, बिना अपनी फलानुभूति करवाये जो कर्म-परमाणु आत्मा से निर्जरित होते हैं, उनका उदय प्रदेशोदय होता है। इसके विपरीत, जिन कर्मों की अपने विपाक के समय फलानुभूति होती है, उनका उदय विपाकोदय कहलाता है। ज्ञातव्य है कि विपाकोदय में प्रदेशोदय अनिवार्य रूप से होता है, लेकिन प्रदेशोदय में विपाकोदय हो- यह आवश्यक नहीं है।
7. **उदीरणा**— अपने नियतकाल से पूर्व ही पूर्वबद्ध कर्मों को प्रयासपूर्वक उदय में लाकर उनके फलों को भोगना, उदीरणा है। ज्ञातव्य है कि जिस कर्मप्रकृति का उदय या भोग चल रहा हो, उसकी सजातीय कर्मप्रकृति की ही उदीरणा सम्भव होती है।
8. **उपशमन**— उदय में आ रहे कर्मों के फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देना अथवा काल-विशेष के लिए उन्हें फल देने

से अक्षम बना देना उपशमन है। उपशमन में कर्म की सत्ता समाप्त नहीं होती, मात्र उसे काल विशेष के लिए फल देने में अक्षम बना दिया जाता है। इसमें कर्म राख से दबी अग्नि के समान निष्क्रिय होकर सत्ता में बने रहते हैं।

9. **निधत्ति**— कर्म की वह अवस्था निधत्ति है, जिसमें कर्म न तो अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित या संक्रमित हो सकते हैं और न अपना फल प्रदान कर सकते हैं, लेकिन कर्मों की समय-मर्यादा और विपाक-तीव्रता (परिमाण) को कम-अधिक किया जा सकता है, अर्थात् इस अवस्था में उत्कर्षण और अपकर्षण सम्भव है, संक्रमण नहीं।
10. **निकाचना**— कर्मों के बन्धन का इतना प्रगाढ़ होना कि उनकी काल-मर्यादा एवं तीव्रता में कोई भी परिवर्तन न किया जा सके, न समय से पूर्व उनका भोग ही किया जा सके, निकाचना कहलाता है। इस दशा में कर्म का जिस रूप में बन्धन हुआ होता है, उसको उसी रूप में अनिवार्यतया भोगना पड़ता है।

इस प्रकार, जैन-कर्मसिद्धान्त में कर्म के फल विपाक की नियत्ता और अनियत्ता को सम्यक् प्रकार से समन्वित करने का प्रयास किया गया है तथा यह बताया गया है कि जैसे-जैसे आत्मा कृषायों से मुक्त होकर आध्यात्मिक विकास की दिशा में बढ़ता है, वह कर्म के फल-विपाक की नियत्ता को समाप्त करने में सक्षम होता जाता है। कर्म कितना बलवान् होगा— यह बात मात्र कर्म के बल पर निर्भर नहीं है, अपितु आत्मा की पवित्रता पर भी निर्भर है। इन अवस्थाओं का चित्रण यह भी बताता है कि कर्मों का विपाक या उदय एक अलग स्थिति है तथा उनसे नवीन कर्मों का बन्ध होना या न होना— यह एक अलग स्थिति है। कषाय-युक्त प्रमत्त आत्मा कर्मों के उदय में नवीन कर्मों का बन्ध करता है, इसके विपरीत, कषाय-युक्त प्रमत्त-अप्रमत्त आत्मा कर्मों के विपाक में नवीन कर्मों का बन्धन नहीं करता है, मात्र पूर्वबद्ध कर्मों को निर्जरित करता है।

कर्म का शुभत्व और अशुभत्व

कर्मों को सामान्यतया शुद्ध (अकर्म), शुभ और अशुभ— ऐसे तीन

वर्गों में विभक्ता किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से इन्हें निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है:-

कर्म	जैन	बौद्ध	गीता	पाश्चात्य
1. शुद्ध	ईर्यापथिक	अव्यक्तकर्म	अकर्म	अनैतिक कर्म
2. शुभ	पुण्यकर्म	कुशल(शुक्ल) कर्म	कर्म	नैतिक कर्म
3. अशुभ	पापकर्म	अकुशल (कृष्ण) कर्म	विकर्म	अनैतिक कर्म

जैन-दर्शन में कर्म के बन्धक होने के आधार पर मुख्य रूप से दो विभाग किये गये हैं- 1. ईर्यापथिक और 2. साम्परायिक। इनमें साम्परायिक कर्म को पुनः दो विभागों में विभाजित किया गया है- (अ) अशुभ (पाप) और (ब) शुभ (पुण्य)। आगे हम इसी सन्दर्भ में चर्चा करेंगे।

अशुभ या पापकर्म

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा दी है कि वैयक्तिक सन्दर्भ में जो आत्मा को बन्धन में डालें, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे, वह पाप है। सामाजिक सन्दर्भ में जो परपीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण है, वह पाप है।

पाप या अकुशल कर्मों का वर्गीकरण

जैन दार्शनिकों के अनुसार पापकर्म 18 प्रकार के हैं- 1. प्राणातिपात (हिंसा), 2. मृषावाद (असत्य भाषण), 3. अदत्तादान (चौर्य-कर्म), 4. मैथुन (काम-विकार), 5. परिग्रह (समत्व, मूर्छा, तृष्णा या संचयवृत्ति), 6. क्रोध (गुस्सा), 7. मान (अहंकार), 8. माया (कपट, छल, षड्यन्त्र और कूटनीति), 9. लोभ (संचय या संग्रह वृत्ति), 10. राग (आसक्ति), द्वेष (घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि), 11. क्लेश (संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि), 12. अभ्याख्यान (दोषारोपण), 13. पिशुनता (चुगली), 14. परपरिवाद (परनिन्दा), 15. रति-अरति (हर्ष और शोक), 16. माया-मृषा (कपट सहित असत्य भाषण), 17. मिथ्यादर्शनशल्य (अयथार्थ जीवनदृष्टि)।²⁷

पुण्य (कुशल कर्म)

पुण्य वह है, जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक-स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश में सन्तुलन बनाना—यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है— इसकी व्याख्या में तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं— शुभास्रव पुण्य है^{२०}, लेकिन पुण्य मात्र आस्रव नहीं है, वह बन्ध और विपाक भी है। वह हेय ही नहीं है, उपादेय भी है, अतः अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उपलब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांगसूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं कि पुण्य वह है, जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है। आचार्य की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक-साधना में सहायक तत्त्व है। मुनि सुशील कुमार लिखते हैं कि— “पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है, जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार करा देती है। जैन कवि बनारसीदासजी समयसार नाटक में कहते हैं कि— “जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस संसार में भौतिक समृद्धि और सुख मिलता है, वही पुण्य है।

जैन-तत्त्वज्ञान के अनुसार, पुण्य-कर्म वे शुभ पुद्गल-परमाणु हैं, जो शुभवृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी पुण्य कहलाती हैं, जो शुभ पुद्गल परमाणु, को आकर्षित करती हैं, साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल-परमाणु जो उन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं, पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भावपुण्य हैं और शुभ-पुद्गल-परमाणु द्रव्यपुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण

भगवतीसूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण कहा गया है। स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार के पुण्य निरूपित हैं

1. अन्नपुण्य— भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा-निवृत्ति करना।
2. पानपुण्य— तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।
3. लयनपुण्य— निवास के लिए स्थान देना, जैसे— धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
4. शयनपुण्य— शय्या, बिछौना आदि देना।
5. वस्त्रपुण्य— वस्त्र का दान देना।
6. मनपुण्य— मन से शुभ विचार करना। जगत् के मंगल की शुभकामना करना।
7. वचनपुण्य— प्रशस्त एवं संतोष देनेवाली वाणी का प्रयोग करना।
8. कायपुण्य — रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।
9. नमस्कारपुण्य — गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभ या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं— (1) कर्म का बाह्य-स्वरूप अर्थात् समाज पर उसका प्रभाव और (2) कर्त्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौन-सा आधार यथार्थ है— यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध-दर्शन में कर्त्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया। गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि जिसमें कर्त्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगों को मार डालें, तो भी यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन को प्राप्त होता है। धम्मपद में बुद्ध-वचन भी ऐसा ही है (नैष्कर्म्यस्थिति को प्राप्त) ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजासहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है। बौद्धदर्शन में कर्त्ता के अभिप्राय को ही पुण्य-पाप का आधार माना गया

है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांगसूत्र के आद्रक सम्वाद में भी मिलता है। जहाँ तक जैन-मान्यता का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्त्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमारजी जैनधर्म पृ. 160 पर लिखते हैं— “शुभ-अशुभ कर्म के बन्ध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाये, परन्तु डॉक्टर तो पाप-कर्म के बन्ध का ही भागी होगा। इसके विपरीत, वही डॉक्टर करुणामय अपनी शुभ-भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।” पंडित सुखलालजी भी यही कहते हैं, पुण्य-बन्ध की कसौटी केवल ऊपरी क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्त्ता का आशय ही है (दर्शन और चिन्तन, खण्ड 2, पृ. 226)।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि जैन धर्म में भी कर्मों की शुभाशुभता के निर्णय का आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं, फिर भी उसमें कर्म का बाह्य-स्वरूप अपेक्षित नहीं है। निश्चयदृष्टि से तो मनोवृत्तियाँ ही कर्मों की शुभाशुभता की निर्णायक हैं, फिर भी व्यवहारदृष्टि से कर्म का बाह्य-स्वरूप भी शुभाशुभता का निश्चय करता है। सूत्रकृतांग (2/6) में आद्रककुमार बौद्धों की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते हैं कि जो मांस खाता हो— चाहे न जानते हुए भी खाता हो— तो भी उसको पाप लगता ही है। हम जानकर नहीं खाते, इसलिए दोष (पाप) नहीं लगता— ऐसा कहना असत्य नहीं तो क्या है? इससे स्पष्ट है कि जैन-दृष्टि में मनोवृत्ति के साथ ही कर्मों का बाह्य-स्वरूप भी शुभाशुभता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वास्तव में सामाजिक-दृष्टि या लोक-व्यवहार में तो यही प्रमुख निर्णायक होता है। सामाजिक न्याय में तो कर्म का बाह्य स्वरूप ही उसकी शुभाशुभता का निश्चय करता है, क्योंकि आन्तरिक वृत्ति को व्यक्ति स्वयं जान सकता है, दूसरा नहीं। जैन-दृष्टि एकांगी नहीं है, वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी है। वह व्यक्ति-सापेक्ष होकर मनोवृत्ति को कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक मानती है और समाज-सापेक्ष होकर कर्मों के बाह्य-स्वरूप पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करती है। उसमें द्रव्य (बाह्य) और भाव (आन्तरिक)— दोनों का मूल्य है। योग (बाह्य क्रिया) और भाव (मनोवृत्ति)— दोनों ही बन्धन के कारण माने गये हैं, यद्यपि उसमें

मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ हो, यह सम्भव नहीं। मन में शुभ भाव हो, तो पापाचरण सम्भव नहीं है। वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है कि मन में सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें (अशुभाचरण) करना क्या संयमी पुरुषों का लक्षण है? उसकी दृष्टि में सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर आत्मप्रवंचना है। मानसिक हेतु पर ही जोर देने वाली धारणा का निरसन करते हुए सूत्रकृतांग (1/1/24-29) में कहा गया है, कर्म-बन्धन का सत्य ज्ञान नहीं बताने वाले इस वाद को मानने वाले कितने ही लोग संसार में फंसते रहते हैं, क्योंकि पाप लगने के तीन स्थान हैं— स्वयं करने से, दूसरे से कराने से, दूसरों के कार्य का अनुमोदन करने से, परन्तु यदि हृदय पाप-मुक्त हो, तो इन तीनों के करने पर भी निर्वाण अवश्य मिले। यह वाद अज्ञान है, मन से पाप को पाप समझते हुए जो दोष करता है, उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह संयम (वासना-निग्रह) में शिथिल है, परन्तु भोगासक्त लोग उक्त बातें मानकर पाप में पड़े हैं।

पाश्चात्य आचारदर्शन में भी सुखवादी दार्शनिक कर्म की फलश्रुति के आधार पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करते हैं, जबकि मार्टिन्यू कर्मप्रेरक पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। जैन-दर्शन के अनुसार, इन दोनों पाश्चात्य विचारणाओं में अपूर्ण सत्य है— एक का आधार लोकदृष्टि है तथा दूसरी का आधार परमार्थ सत्य। नैतिकता व्यवहार से परमार्थ की ओर प्रयाण है, अतः उसमें दोनों का ही मूल्य है।

कर्त्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें, या कर्म के समाज पर होने वाले परिणाम को— दोनों स्थितियों में किस प्रकार का कर्म पुण्य-कर्म या उचित कर्म कहा जायेगा— इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया, भारतीय-चिन्तन में पुण्य-पाप की विचारणा के सन्दर्भ में सामाजिक-दृष्टि ही प्रमुख है। जहां कर्म-अकर्म का विचार व्यक्ति-सापेक्ष है, तो वैयक्तिक कर्म-प्रेरक या वैयक्तिक चेतना की विशुद्धता (वीतरागता) ही हमारे निर्णय का आधार बनती है, लेकिन जब हम पुण्य-पाप का विचार करते हैं, तो समाजकल्याण या लोकहित ही हमारे निर्णय का आधार होता है। वस्तुतः, भारतीय चिन्तन में जीवनादर्श तो शुभाशुभत्व की सीमा से ऊपर उठना है। उस सन्दर्भ में

वीतराग या अनासक्त जीवनदृष्टि का निर्माण ही व्यक्ति का परम साध्य माना गया है और वही कर्म के बन्धन या अबन्धन का आधार है, लेकिन शुभ और अशुभ—दोनों में ही राग तो होता ही है, राग के अभाव में तो कर्म शुभाशुभ के ऊपर उठकर अतिनैतिक (शुद्ध) होगा। शुभाशुभ कर्मों में प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नहीं, वरन् उसकी प्रशस्ता या अप्रशस्ता की है। प्रशस्त—राग शुभ या पुण्यबन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्त राग अशुभ या पापबन्ध का कारण है। राग की प्रशस्ता उसमें द्वेष की कमी के आधार पर निर्भर करती है। यद्यपि राग और द्वेष साथ—साथ रहते हैं, तथापि जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और मन्द होगी, वह राग उतना प्रशस्त होगा और जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा और तीव्रता जितनी अधिक होगी, राग उतना ही अप्रशस्त होगा।

द्वेषविहीन राग या प्रशस्तराग ही निष्काम प्रेम कहा जाता है। उस प्रेम से परार्थ या परोपकारवृत्ति का उदय होता है, जो शुभ का सृजन करती है। उसी से लोक—मंगलकारी प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य—कर्म निस्सृत होते हैं, जबकि द्वेषयुक्त अप्रशस्त राग ही घृणा को जन्म देकर स्वार्थ—वृत्ति का विकास करता है। उससे अशुभ, अमंगलकारी पापकर्म निस्सृत होते हैं। संक्षेप में, जिस कर्म के पीछे प्रेम और परार्थ होता है, वह पुण्य—कर्म है और जिस कर्म के पीछे घृणा और स्वार्थ होता है, वह पाप—कर्म है।

जैन—आचारदर्शन पुण्य कर्मों के वर्गीकरण में जिन तथ्यों पर अधिक जोर देता है, वे सभी समाज—सापेक्ष हैं। वस्तुतः, शुभ—अशुभ के वर्गीकरण में सामाजिक दृष्टि ही प्रधान है। भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में पुण्य और पाप के समग्र चिन्तन का सार निम्न कथन में समाया हुआ है कि 'परोपकार पुण्य है और परपीड़न पाप है।' जैन—विचारकों ने पुण्य—बन्ध के दान, सेवा आदि जिन कारणों का उल्लेख किया है, उनका प्रमुख सम्बन्ध सामाजिक कल्याण या लोक मंगल से है। इसी प्रकार, पाप के रूप में जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है, वे सभी लोक अमंगलकारी तत्त्व हैं। इस प्रकार, जहाँ तक शुभ—अशुभ या पुण्य—पाप के वर्गीकरण का प्रश्न है, हमें सामाजिक—सन्दर्भों में उसे देखना होगा, यद्यपि बन्धन की

दृष्टि से विचार करते समय कर्त्ता के आशय को भुलाया नहीं जा सकता।
सामाजिक-जीवन में आचरण के शुभत्व का आधार

यह सत्य है कि कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का निर्णय अन्य प्राणियों या समाज के प्रति किए गये व्यवहार अथवा दृष्टिकोण के सन्दर्भ में होता है, लेकिन अन्य प्राणियों के प्रति हमारा कौन-सा व्यवहार या दृष्टिकोण शुभ होगा और कौन-सा अशुभ होगा- इसका निर्णय किस आधार पर किया जाये? भारतीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो कसौटी प्रदान की है, वह यही है कि जैसा व्यवहार हम अपने लिए प्रतिकूल समझते हैं, वैसा आचरण दूसरे के प्रति नहीं करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल है, वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना- यही शुभाचरण है। इसके विपरीत, जो व्यवहार हमें अपने लिए प्रतिकूल लगता है, वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना और जैसा व्यवहार हमें अपने लिए अनुकूल लगता है वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना अशुभाचरण है। भारतीय ऋषियों का यही संदेश है। संक्षेप में, सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत्-दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है।

जैन-दर्शन के अनुसार, जिस व्यक्ति में संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है, वही नैतिक कर्मों का स्रष्टा है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है, वह पाप-कर्म का बन्ध नहीं करता। सूत्रकृतांग के अनुसार भी धर्म-अधर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना चाहिए।

शुभ और अशुभ से शुद्ध की ओर

जैन दृष्टिकोण- जैन-विचारणा में शुभ-अशुभ अथवा मंगल-अमंगल की वास्तविकता स्वीकार की गयी है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार तत्त्व नौ हैं, जिनमें पुण्य स्वतन्त्र तत्त्व है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, ये सात तत्त्व गिनाए हैं, इनमें पुण्य और पाप को नहीं गिनाया है, लेकिन यह विवाद महत्वपूर्ण नहीं, क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानती है, वह भी उनको आस्रव-तत्त्व के अन्तर्गतमान लेती है। यद्यपि पुण्य और पाप

मात्र आस्रव नहीं है, वरन् उनका बन्ध भी होता है और विपाक भी होता है, अतः आस्रव के शुभास्रव और अशुभास्रव— ये दो विभाग करने से काम नहीं बनता, बल्कि बन्ध और विपाक में भी दो-दो भेद करने होंगे। इस कठिनाई से बचने के लिए ही पाप एवं पुण्य को स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में गिन लिया गया है।

फिर भी, जैन-विचारणा निर्वाण-मार्ग के साधक के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है, क्योंकि दोनों ही बन्धन के कारण हैं। वस्तुतः, नैतिक-जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य-पाप से ऊपर उठ जाने में है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है, नैतिक पूर्णता नहीं आती। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है। ऋषिभाषित सूत्र में ऋषि कहता है कि पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार संतति का मूल है। आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य और पाप— दोनों के बन्धन का कारण कहकर दोनों के बन्धन का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार में वे कहते हैं कि— अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म-पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं, फिर भी पुण्यकर्म एवं पापकर्म— दोनों ही संसार (बन्धन) का कारण हैं। जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लौह-बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है, उसी प्रकार जीवकृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन के कारण हैं। फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण-बेड़ी कहकर उसकी पाप से किञ्चित् श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पारमार्थिक-दृष्टि से पुण्य और पाप— दोनों में भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्तोगत्वा दोनों ही बन्धन हैं। यही बात पं. जयचन्द्रजी भी कहते हैं—

पुण्य पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुई मानि ।

शुद्ध आत्मा जिन लहयो, नमूं चरन हित जानि ।।

जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण की दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्त्व स्वीकार किया है। निर्वाण प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्वा पुण्य को त्यागना ही होता है, फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी प्रकार सहायक है, जैसे साबुन वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है, फिर भी उसे अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या

शुद्धात्म-दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है, उसे भी छोड़ना होता है। जिस प्रकार साबुन मल को दूर करता है और मैल छूटने पर स्वयं अलग हो जाता है, वैसे ही पुण्य भी पापरूप मल को अलग करने में सहायक होता है, अतः व्यक्ति जब अशुभ (पाप) कर्म के ऊपर उठ जाता है, तब उसका शुभ कर्म भी शुद्ध बन जाता है। द्वेष पर पूर्ण विजय पा जाने पर राग भी नहीं रहता है, अतः राग-द्वेष के अभाव में उससे जो कर्म निस्सृत होते हैं, वे शुद्ध (ईर्यापथिक) होते हैं। जैनाचार-दर्शन में राग-द्वेष से रहित होकर किया गया शुद्ध कार्य ही मोक्ष या निर्वाण का कारण माना गया है और आसक्तिपूर्वक किया गया शुभ कार्य भी बन्धन का कारण माना गया है। यहां पर गीता का अनासक्त कर्म-योग जैन-दर्शन के अत्यन्त समीप आ जाता है। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा का लक्ष्य अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर तथा शुभ कर्म से शुद्ध कर्म (वीतरागदशा) की प्राप्ति है। आत्म का शुद्धोपयोग ही जैन धर्म का अन्तिम साध्य है।

शुद्ध कर्म (अकर्म)

शुद्ध कर्म वह जीवन-व्यवहार है, जिसमें क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित मात्र कर्तव्यबुद्धि से सम्पादित होती हैं तथा जो आत्मा को बन्धन में नहीं डालतीं। अबन्धक कर्म ही शुद्धकर्म हैं। जैन-आचारदर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करता है कि आचरण (क्रिया) एवं बन्धन में क्या सम्बन्ध है? क्या 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' की उक्ति सर्वांशतः सत्य है? एक तो कर्म या क्रिया के सभी रूप बन्धन की दृष्टि से समान नहीं हैं; फिर यह भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के होते हुए भी कोई बन्धन नहीं हो, लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है और अबन्धक कर्म क्या है, अत्यन्त कठिन है। गीता कहती है कि कर्म (बन्धक कर्म) क्या है, और अकर्म (अबन्धक कर्म) क्या है— इसके विषय में विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। कर्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान का विषय अत्यन्त गहन है। यह कर्म-समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्यों है— इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनागम सूत्रकृतांग में भी मिलता है। उसमें कहा गया है कि कर्म, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं। मात्र आचरण, कर्म या पुरुषार्थ को

देखकर यह निर्णय देना सम्भव नहीं कि वह नैतिक-दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी- दोनों ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात् समानरूप से) कर्म करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सर्वथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषार्थ) हो, पर वह अशुद्ध है और कर्म-बन्ध का कारण है, परन्तु ज्ञान एवं बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसका कुछ फल नहीं भोगना पड़ता। योग्य रीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो, तो शुद्ध नहीं होता। बन्धन की दृष्टि से कर्म का विचार उसके बाह्य-स्वरूप के आधार पर ही नहीं किया जा सकता, उसमें कर्त्ता का प्रयोजन, कर्त्ता का विवेक एवं देशकालगत परिस्थितियाँ भी महत्वपूर्ण हैं और कर्मों का ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने में विद्वत् वर्ग भी कठिनाई में पड़ जाता है। कर्म में कर्त्ता के प्रयोजन को, जो कि एक आन्तरिक तथ्य है, जान पाना सहज नहीं होता।

लेकिन, कर्त्ता के लिए जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञाता भी है, यह आवश्यक है कि कर्म और अकर्म का यथार्थ स्वरूप समझे, क्योंकि उसके अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं- मैं तुझे कर्म के उस रहस्य को बताऊँगा, जिसे जानकर तू मुक्त हो जायेगा। नैतिक-विकास के लिए बन्धक और अबन्धक कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक है। बन्धन की दृष्टि से कर्म के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का दृष्टिकोण निम्नानुसार है- **जैन-दर्शन में कर्म-अकर्म विचार**

कर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उस पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है- (1) उसकी बन्धनात्मक-शक्ति के आधार पर और (2) उसकी शुभाशुभता के आधार पर। बन्धनात्मक-शक्ति के आधार पर विचार करने पर हम पाते हैं कि कुछ कर्म बन्धन में डालते हैं, और कुछ कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं। बन्धक कर्मों को कर्म और अबन्धक कर्मों को अकर्म कहा जाता है। जैन-दर्शन में कर्म और अकर्म के यथार्थ स्वरूप का विवेचन हमें सर्वप्रथम आचारांग एवं सूत्रकृतांग में मिलता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कर्म और अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कुछ विचारकों की दृष्टि में सक्रियता ही

पुरुषार्थ या नैतिकता है, जबकि दूसरे विचारकों की दृष्टि में निष्क्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध में महावीर अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि 'कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव'—ऐसा नहीं मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दों में कहते हैं कि प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है। ऐसा कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते हैं कि अकर्म निष्क्रियता नहीं, वह तो सत् जागरूकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म-जागृति की दशा में क्रियाशीलता भी अकर्म हो जाती है, जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जागृति के अभाव में निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) बन जाती है। वस्तुतः, किसी क्रिया का बन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं, वरन् उसके पीछे रहे हुए कषाय-भावों एवं राग-द्वेष की स्थिति पर निर्भर है। जैन-दर्शन के अनुसार, राग-द्वेष एवं कषाय (जो कि आत्मा की प्रमत्त दशा हैं) ही किसी क्रिया को कर्म बना देते हैं, जबकि कषाय एवं आसक्ति से रहित होकर किया हुआ कर्म अकर्म बन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो आस्रव या बन्धनकारक क्रियाएँ हैं, वे ही अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति का साधन बन जाती हैं। इस प्रकार, जैन-विचारणा में कर्म और अकर्म अपने बाह्य-स्वरूप की अपेक्षा कर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते हैं।

ईर्यापथिक-कर्म और साम्परायिक कर्म

जैन-दर्शन में बन्धन की दृष्टि से क्रियाओं को दो भागों में बाँटा गया है— (1) ईर्यापथिक क्रियाएँ (अकर्म) और (2) साम्परायिक क्रियाएँ (कर्म)। ईर्यापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतरागदृष्टिसम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएँ हैं, जो बन्धनकारक नहीं हैं और साम्परायिक क्रियाएँ आसक्त व्यक्ति की क्रियाएँ हैं, जो बन्धनकारक हैं। संक्षेप में, वे समस्त क्रियाएँ, जो आस्रव एवं बन्ध की कारण हैं, कर्म हैं और वे समस्त क्रियाएँ, जो संवर एवं निर्जरा की हेतु हैं, अकर्म हैं। जैन-दृष्टि में अकर्म या ईर्यापथिक कर्म का अर्थ है—राग-द्वेष एवं मोहरहित होकर मात्र कर्तव्य अथवा शरीर-निर्वाह के लिए किया जाने वाला कर्म। कर्म का अर्थ है—राग-द्वेष और मोह से युक्त कर्म, वह बन्धन में डालता है, इसलिए वह कर्म है। जो क्रिया-व्यापार

राग-द्वेष और मोह से रहित होकर कर्तव्य या शरीर निर्वाह के लिए किया जाता है, वह बन्धन का कारण नहीं है, अतः अकर्म है। जिन्हें जैन-दर्शन में ईर्यापथिक क्रियाएँ या अकर्म कहा गया है, उन्हें बौद्ध-परम्परा अनुपचित, अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहती है और जिन्हें जैन-परम्परा साम्प्रदायिक क्रियाएँ या कर्म कहती है, उन्हें बौद्ध-परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण-शुक्ल कर्म कहती हैं। इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

बन्धन के कारणों में मिथ्यात्व और कषाय की प्रमुखता का प्रश्न

जैन-कर्मसिद्धान्त के उद्भव व विकास की चर्चा करते हुए हमने बन्धन के पाँच सामान्य कारणों का उल्लेख किया था। वैसे जैन ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न कर्मों के बन्धन के भिन्न-भिन्न कारणों की विस्तृत चर्चा भी उपलब्ध होती है, किन्तु सामान्य रूप से बन्धन के पाँच कारण माने गए हैं- 1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. प्रमाद 4. कषाय और 5. योग।

इन पाँच कारणों में योग को अर्थात् मानसिक, वाचिक व शारीरिक क्रियाओं को बन्धन का कारण कहा जाता है, किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि यदि पूर्व के चार का अभाव हो, तो मात्र योग से कर्मवर्गणाओं का आस्रव होकर, जो बन्ध होगा, वह ईर्यापथिक बन्ध कहलाता है। उसके सन्दर्भ में कहा गया है, उसका प्रथम समय में बन्ध होता है और दूसरे समय में निर्जरा हो जाती है। ईर्यापथिक बन्ध ठीक वैसा ही है, जैसे चलते समय शुभ्र आर्द्रता से रहित कपड़े पर गिरे हुए बालू के कण, जो गति की प्रक्रिया में ही आते हैं और फिर अलग भी हो जाते हैं। वस्तुतः, यह बन्ध वास्तविक बन्ध नहीं है, अतः हम समझते हैं कि इन पाँच कारणों में योग महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है। यद्यपि अविरति, प्रमाद एवं कषाय को अलग-अलग कारण कहा गया है, किन्तु इनमें भी बहुत अन्तर नहीं है। जब हम प्रमाद को व्यापक अर्थ में लेते हैं, तब कषायों का अन्तर्भाव प्रमाद में हो जाता है। दूसरे कषायों की उपस्थिति में ही प्रमाद सम्भव होता है। उनकी अनुपस्थिति में प्रमाद सामान्यतया तो रहता ही नहीं है और यदि रहे भी, तो अति निर्बल होता है। इसी प्रकार, अविरति के मूल में भी कषाय ही होते हैं। यदि हम कषाय को व्यापक अर्थ में लें, तो अविरति और

प्रमाद- दोनों उसी में अन्तर्भावित हो जाते हैं, अतः बन्धन के दो ही प्रमुख कारण शेष रहते हैं- मिथ्यात्व और कषाय।

मिथ्यात्व एवं कषाय में कौन प्रमुख कारण है, यह वर्तमान युग में एक बहुचर्चित विषय है। इस सन्दर्भ में पक्ष व प्रतिपक्ष में पर्याप्त लेख लिखे गये हैं। आचार्य विद्यासागरजी एवं उनके समर्थक विद्वत्-वर्ग का कहना है कि मिथ्यात्व अकिंचितकर है और कषाय ही बन्धन का प्रमुख कारण है, क्योंकि कषाय की उपस्थिति के कारण ही मिथ्यात्व होता है। कानजीस्वामी समर्थक दूसरे वर्ग का कहना है कि मिथ्यात्व ही बन्धन का प्रमुख कारण है। वस्तुतः, यह विवाद अपने-अपने एकांगी दृष्टिकोणों के कारण है। कषाय और मिथ्यात्व- ये दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। कषाय के अभाव में मिथ्यात्व की सत्ता नहीं रहती और न मिथ्यात्व के अभाव में कषाय ही रहते हैं। मिथ्यात्व तभी समाप्त होता है, जब अनन्तानुबन्धी कषायें समाप्त होती हैं और कषायें भी तभी समाप्त होती हैं, जब मिथ्यात्व का प्रहाण होता है। वे ताप और प्रकाश के समान सहजीवी हैं। इनमें एक के अभाव में दूसरे की सत्ता क्षीण होने लगती है। वैसे मिथ्यात्व, अज्ञान एवं मोह का पर्यायवाची है। आवेगों अर्थात् कषायों की उपस्थिति में ही मोह या मिथ्यात्व सम्भव होता है, वास्तविकता यह है कि मोह (मिथ्यात्व) से कषाय उत्पन्न होते हैं और कषायों के कारण ही मोह (मिथ्यात्व) होता है, अतः कषाय और मिथ्यात्व अन्योन्याश्रित हैं और बीज एवं वृक्ष की भाँति इनमें से किसी की पूर्व कोटि निर्धारित नहीं की जा सकती है।

यदि हम इसी प्रश्न पर बौद्ध-दृष्टि से विचार करें, तो उसमें सामान्यतया लोभ (राग), द्वेष एवं मोह को बन्धन का कारण कहा गया है। बौद्ध-परम्परा में भी इनको परस्पर सापेक्ष ही माना गया है। मोह को बौद्ध-परम्परा में अविद्या भी कहा गया है। बौद्ध विचारणा यह मानती है कि अविद्या (मोह) के कारण तृष्णा (राग) होती है और तृष्णा के कारण मोह होता है। आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं- लोभ एवं द्वेष का हेतु मोह है, किन्तु पर्याय से लोभ व मोह भी द्वेष के हेतु हैं। बौद्ध-दर्शन में भी जैन-दर्शन के समान ही अविद्या और तृष्णा को अन्योन्याश्रित माना गया है और कहा गया है कि इनमें से किसी की भी पूर्व कोटि निर्धारित करना

सम्भव नहीं है। सांख्य एवं योग-दर्शन में क्लेश या बन्धन के पाँच कारण हैं— अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष, अभिनिवेश। इनमें भी अविद्या प्रमुख है। शेष चारों 'उसी पर आधारित हैं। न्याय-दर्शन भी जैन और बौद्धों के समान ही राग-द्वेष एवं मोह को बन्धन का कारण मानता है। इस प्रकार, लगभग सभी दर्शन प्रकारान्तर से राग-द्वेष एवं मोह (मिथ्यात्व) को बन्धन का कारण मानते हैं।

बन्धन के चार प्रकारों से बन्धनों के कारण का सम्बन्ध

जैन कर्म-सिद्धान्त में बन्धन के चार प्रारूप कहे गए हैं— 1. प्रकृति बन्ध, 2. प्रदेश-बन्ध, 3. स्थिति-बन्ध, 4. अनुभाग बन्ध।

1. **प्रकृति बन्ध**— बन्धन के स्वभाव का निर्धारण प्रकृति बन्ध करता है। यह, यह निश्चय करता है कि कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि किरा शक्ति को आवृत्त करेंगे।

2. **प्रदेश बन्ध**— यह कर्मपरमाणुओं की आत्मा के साथ संयोजित होने वाली मात्रा का निर्धारण करता है, अतः यह मात्रात्मक होता है।

3. **स्थिति बन्ध**— कर्म परमाणु कितने समय तक आत्मा से संयोजित रहेंगे और कब निर्जरित होंगे— इस काल-मर्यादा का निश्चय स्थिति-बन्ध करता है, अतः यह बन्धन की समय-मर्यादा का सूचक है।

4. **अनुभाग बन्ध**— कर्मों के बन्धन और विपाक की तीव्रता एवं मन्दता का निश्चय करना— यह अनुभाग बन्ध का कार्य है। दूसरे शब्दों में, यह बन्धन की तीव्रता या गहनता का सूचक है।

उपरोक्त चार प्रकार के बन्धनों में प्रकृति-बन्ध एवं प्रदेश बन्ध का सम्बन्ध मुख्यतया योग अर्थात् कायिक, वाचिक एवं मानसिक-क्रियाओं से है, जबकि बन्धन की तीव्रता (अनुभाग) एवं समयावधि (स्थिति) का निश्चय कर्म के पीछे रही हुई कषाय-वृत्ति और मिथ्यात्व पर आधारित होता है। संक्षेप में, योग का सम्बन्ध प्रदेश एवं प्रकृति बन्ध से है, जबकि कषाय का सम्बन्ध स्थिति एवं अनुभाग-बन्ध से है।

आठ प्रकार के कर्म और उनके बन्धन के कारण

जिस रूप में कर्मपरमाणु आत्मा की विभिन्न शक्तियों के प्रकटन का अवरोध करते हैं और आत्मा का शरीर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं,

उनके अनुसार उनके विभाग किये जाते हैं। जैनदर्शन के अनुसार कर्म आठ प्रकार के हैं— 1. ज्ञानावरणीय 2. दर्शनावरणीय 3. वेदनीय 4. मोहनीय 5. आयुष्य 6. नाम 7. गोत्र और 8. अन्तराय।

1. ज्ञानावरणीय कर्म—

जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को ढँक देते हैं, उसी प्रकार जो कर्मवर्णाएँ आत्मा की ज्ञानशक्ति को ढँक देती हैं और ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनती हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म कही जाती हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धन के कारण— जिन कारणों से ज्ञानावरणीय-कर्म के परमाणु आत्मा से संयोजित होकर ज्ञान-शक्ति को कुंठित करते हैं, वे छः हैं—

1. **प्रदोष—** ज्ञानी का अवर्णवाद (निन्दा) करना एवं उसके अवगुण निकालना।

2. **निहनव—** ज्ञानी का उपकार स्वीकार न करना अथवा किसी विषय को जानते हुए भी उसका अपलाप करना।

3. **अन्तराय—** ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनना, ज्ञान एवं ज्ञान के साधन पुस्तकादि को नष्ट करना।

4. **मात्सर्य—** विद्वानों के प्रति द्वेष-बुद्धि रखना, ज्ञान के साधन पुस्तक आदि में अरुचि रखना।

5. **असादना—** ज्ञान एवं ज्ञानी पुरुषों के कथनों को स्वीकार नहीं करना, उनका समुचित विनय नहीं करना।

6. **उपघात—** विद्वानों के साथ मिथ्याग्रहयुक्त विसंवाद करना, अथवा स्वार्थवश सत्य को असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना।

उपर्युक्त छः प्रकार का अनैतिक आचरण व्यक्ति की ज्ञानशक्ति के कुंठित होने का कारण है।

ज्ञानावरणीय-कर्म का विपाक— विपाक की दृष्टि से ज्ञानावरणीय-कर्म के कारण पाँच रूपों में आत्मा की ज्ञान-शक्ति का आवरण होता है—

(1) **मतिज्ञानावरण—** ऐन्द्रिक एवं मानसिक ज्ञान-क्षमता का अभाव,

(2) **श्रुतज्ञानावरण—** बौद्धिक अथवा आगमज्ञान की अनुपलब्धि,

- (3) अवधि ज्ञानावरण— अतीन्द्रिय ज्ञान—क्षमता का अभाव,
 (4) मनःपर्याय ज्ञानावरण— दूसरे की मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेने की शक्ति का अभाव,
 (5) केवल ज्ञानावरण— पूर्णज्ञान प्राप्त करने की क्षमता का अभाव।
 कहीं—कहीं विपाक की दृष्टि से इसके दस भेद भी बताये गये हैं—
 1. सुनने की शक्ति का अभाव, 2. सुनने से प्राप्त होने वाले ज्ञान की अनुपलब्धि, 3. दृष्टि शक्ति का अभाव, 4. दृश्यज्ञान की अनुपलब्धि, 5. गंध ग्रहण करने की शक्ति का अभाव, 6. गन्ध सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, 7. स्वाद ग्रहण करने की शक्ति का अभाव, 8. स्वाद सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, 9. स्पर्श—क्षमता का अभाव और 10. स्पर्श सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि।

2. दर्शनावरणीय—कर्म

जिस प्रकार द्वारपाल राजा के दर्शन में बाधक होता है, उसी प्रकार जो कर्मवर्गणाँ आत्मा की दर्शन—शक्ति में बाधक होती हैं, वे दर्शनावरणीय कर्म कहलाती हैं। ज्ञान से पहले होने वाला वस्तु—तत्त्व का निर्विशेष (निर्विकल्प) बोध, जिसमें सत्ता के अतिरिक्त किसी विशेष गुण—धर्म की प्राप्ति नहीं होती, दर्शन कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन—गुण को आवृत्त करता है।

दर्शनावरणीय—कर्म के बन्ध के कारण— ज्ञानावरणीय—कर्म के समान ही छः प्रकार के अशुभ आचरण के द्वारा दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है— (1) सम्यक्—दृष्टि की निन्दा (छिद्रान्वेषण) करना अथवा उसके प्रति अकृतज्ञ होना, (2) मिथ्यात्व या असत् मान्यताओं का प्रतिपादन करना, (3) शुद्ध दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक बनना, (4) सम्यग्दृष्टि का समुचित विनय एवं सम्मान नहीं करना, (5) सम्यग्दृष्टि पर द्वेष करना, (6) सम्यग्दृष्टि के साथ मिथ्याग्रह सहित विवाद करना।

दर्शनावरणीय कर्म का विपाक— उपर्युक्त अशुभ आचरण के कारण आत्मा का दर्शन—गुण नौ प्रकार से कुंठित हो जाता है—

- 1) चक्षुदर्शनावरण— नेत्रशक्ति का अवरुद्ध हो जाना।
- 2) अचक्षुदर्शनावरण— नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों की सामान्य

अनुभवशक्ति का अवरुद्ध हो जाना।

- 3) अवधिदर्शनावरण— सीमित अतीन्द्रिय दर्शन की उपलब्धि का नहीं होना।
- 4) केवल दर्शनावरण— परिपूर्ण दर्शन की उपलब्धि का नहीं होना।
- 5) निद्रा— सामान्य निद्रा।
- 6) निद्रानिद्रा— गहरी निद्रा।
- 7) प्रचला— बैठे-बैठे आ जाने वाली निद्रा।
- 8) प्रचला-प्रचला— चलते-फिरते भी आ जाने वाली निद्रा।
- 9) स्थानगृद्धि— जिस निद्रा में प्राणी बड़े-बड़े बल-साध्य कार्य कर डालता है।

अन्तिम दो अवस्थाएँ आधुनिक मनोविज्ञान के द्विविध व्यक्तित्व के समान मानी जा सकती हैं। उपर्युक्त पाँच प्रकार की निद्राओं के कारण व्यक्ति की सहज अनुभूति की क्षमता में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

3. वेदनीय कर्म

जिसके कारण सांसारिक सुख-दुःख की संवेदना होती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं— 1. सातावेदनीय और 2. असातावेदनीय। सुख रूप संवेदना का कारण सातावेदनीय और दुःख रूप संवेदना का कारण असातावेदनीय कर्म कहलाता है।

सातावेदनीय-कर्म के कारण— दस प्रकार का शुभाचरण करने वाला व्यक्ति सुखद-संवेदना रूप सातावेदनीय-कर्म का बन्ध करता है— (1) पृथ्वी, पानी आदि के जीवों पर अनुकम्पा करना। (2) वनस्पति, वृक्ष, लतादि पर अनुकम्पा करना। (3) द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों पर दया करना। (4) पंचेन्द्रिय पशुओं एवं मनुष्यों पर अनुकम्पा करना। (5) किसी को भी किसी प्रकार से दुःख न देना। (6) किसी भी प्राणी को चिन्ता एवं भय उत्पन्न हो— ऐसा कार्य न करना। (7) किसी भी प्राणी को शोकाकुल नहीं बनाना। (8) किसी भी प्राणी को रुदन नहीं कराना। (9) किसी भी प्राणी को नहीं मारना और (10) किसी भी प्राणी को प्रताड़ित नहीं करना। कर्मग्रन्थों में सातावेदनीय कर्म के बन्धन का कारण गुरुभक्ति, क्षमा, करुणा, व्रतपालन, योग-साधना, कषायविजय, दान और दृढ़ श्रद्धा माना

गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार का भी यही दृष्टिकोण है।

सातावेदनीय-कर्म का विपाक- उपर्युक्त शुभाचरण के फलस्वरूप प्राणी निम्न प्रकार की सुखद संवेदना प्राप्त करता है— (1) मनोहर, कर्णप्रिय, सुखद स्वर श्रवण करने को मिलते हैं, (2) सुस्वादु भोजन—पानादि उपलब्ध होता है, (3) वांछित सुखों की प्राप्ति होती है, (4) शुभ वचन, प्रशंसादि सुनने का अवसर प्राप्त होता है, (5) शारीरिक—सुख मिलता है।

असातावेदनीय कर्म के कारण- जिन अशुभ आचरणों के कारण प्राणी को दुःखद संवेदना प्राप्त होती है, वे बारह प्रकार के हैं— (1) किसी भी प्राणी को दुःख देना, (2) चिन्तित बनाना, (3) शोकाकुल बनाना, (4) रुलाना, (5) मारना और (6) प्रताड़ित करना,— इन छः क्रियाओं की मन्दता और तीव्रता के आधार पर इनके बारह प्रकार हो जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार— (1) दुःख (2) शोक (3) ताप (4) आक्रन्दन (5) वध और (6) परिदेवन— ये छः असातावेदनीय-कर्म के बन्ध के कारण हैं, जो 'स्व' और 'पर' की अपेक्षा से बारह प्रकार के हो जाते हैं। स्व एवं पर की अपेक्षा पर आधारित तत्त्वार्थसूत्र का यह दृष्टिकोण अधिक संगत है। कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय के बन्ध के कारणों के विपरीत गुरु का अविनय, अक्षमा, क्रूरता, अविरति, योगाभ्यास नहीं करना, कषाययुक्त होना तथा दान एवं श्रद्धा का अभाव असातावेदनीय कर्म के कारण माने गये हैं। इन क्रियाओं के विपाक के रूप में आठ प्रकार की दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं— (1) कर्ण—कटु, कर्कश स्वर सुनने को प्राप्त होते हैं, (2) अमनोज्ञ एवं सौन्दर्यविहीन रूप देखने को प्राप्त होता है, (3) अमनोज्ञ गन्धों की उपलब्धि होती है, (4) स्वादविहीन भोजनादि मिलता है, (5) अमनोज्ञ, कठोर एवं दुःखद संवेदना उत्पन्न करने वाले स्पर्श की प्राप्ति होती है, (6) अमनोज्ञ मानसिक अनुभूतियों का होना, (7) निन्दा—अपमानजनक वचन सुनने को मिलते हैं और (8) शरीर में विविध रोगों की उत्पत्ति से शरीर को दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं।

4. मोहनीय-कर्म

जैसे मदिरा आदि नशीली वस्तु के सेवन से विवेक-शक्ति कुंठित हो जाती है, उसी प्रकार जिन कर्म-परमाणुओं से आत्मा की विवेक-शक्ति

कुठित होती है और अनैतिक आचरण में प्रवृत्ति होती है, उन्हें मोहनीय (विमोहित करने वाले) कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं— दर्शनमोह और चारित्रमोह।

मोहनीय—कर्म के बन्ध के कारण— सामान्यतया, मोहनीय—कर्म का बन्ध छः कारणों से होता है— (1) क्रोध, (2) अहंकार, (3) कपट, (4) लोभ, (5) अशुभाचरण और (6) विवेकाभाव (विमूढ़ता)। प्रथम पाँच से चारित्रमोह का और अन्तिम से दर्शनमोह का बन्ध होता है। कर्मग्रन्थ में दर्शनमोह और चारित्रमोह के बन्धन के कारण अलग-अलग बताये गये हैं। दर्शनमोह के कारण हैं— उन्मार्ग—देशना, सन्मार्ग का अपलाप, धार्मिक सम्पत्ति का अपहरण और तीर्थंकर, मुनि, चैत्य (जिन—प्रतिमाएँ) और धर्म—संघ के प्रतिकूल आचरण। चारित्रमोह—कर्म के बन्धन के कारणों में कषाय, हास्य आदि तथा विषयों के अधीन होना प्रमुख है। तत्त्वार्थ—सूत्र में सर्वज्ञ, श्रुत, संघ, धर्म और देव के अवर्णवाद (निन्दा) को दर्शनमोह का तथा कषायजनित आत्म—परिणाम को चारित्रमोह का कारण माना गया है। समवायांगसूत्र में तीव्रतम मोहकर्म के बन्धन के तीस कारण बताये गये हैं— (1) जो किसी त्रस प्राणी को पानी में डुबाकर मारता है। (2) जो किसी त्रस प्राणी को तीव्र अशुभ अध्यवसाय से मस्तक को गीला चमड़ा बांधकर मारता है। (3) जो किसी त्रस प्राणी को मुँह बाँधकर मारता है। (4) जो किसी त्रस प्राणी को अग्नि के धुएँ से मारता है। (5) जो किसी त्रस प्राणी के मस्तक का छेदन करके मारता है। (6) जो किसी त्रस प्राणी को छल से मारकर हँसता है। (7) जो मायाचार करके तथा असत्य बोलकर अपना अनाचार छिपाता है। (8) जो अपने दुराचार को छिपाकर दूसरे पर कलंक लगाता है। (9) जो कलह बढ़ाने के लिए जानता हुआ मिश्र भाषा बोलता है। (10) जो पति—पत्नी में मतभेद पैदा करता है तथा उन्हें मार्मिक वचनों से लज्जित कर देता है। (11) जो स्त्री में आसक्त व्यक्ति अपने—आपको कुंवारा कहता है। (12) जो अत्यन्त कामुक व्यक्ति अपने आपको ब्रह्मचारी कहता है। (13) जो चापलूसी करके अपने स्वामी को ठगता है। (14) जो जिनकी कृपा से समृद्ध बना है, ईर्ष्या से उनके ही कार्यों में विघ्न डालता है। (15) जो प्रमुख पुरुष की हत्या करता है। (16)

जो संयमी को पथभ्रष्ट करता है। (17) जो अपने उपकारी की हत्या करता है। (18) जो प्रसिद्ध पुरुष की हत्या करता है। (19) जो महान् पुरुषों की निन्दा करता है। (20) जो न्यायमार्ग की निन्दा करता है। (21) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु की निन्दा करता है। (22) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु का अविनय करता है। (23) जो अबहुश्रुत होते हुए भी अपने-आपको बहुश्रुत कहता है। (24) जो तपस्वी न होते हुए भी अपने-आपको तपस्वी कहता है। (25) जो अस्वस्थ आचार्य आदि की सेवा नहीं करता। (26) जो आचार्य आदि कुशास्त्र का प्ररूपण करते हैं। (27) जो आचार्य आदि अपनी प्रशंसा के लिए मंत्रादि का प्रयोग करते हैं। (28) जो इहलोक और परलोक में भोगोपभोग पाने की अभिलाषा करता है। (29) जो देवताओं की निन्दा करता है या करवाता है। (30) जो असर्वज्ञ होते हुए भी अपने आपको सर्वज्ञ कहता है।

(अ) दर्शन-मोह- जैन-दर्शन में 'दर्शन' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है- (1) प्रत्यक्षीकरण, (2) दृष्टिकोण और (3) श्रद्धा। प्रथम अर्थ का सम्बन्ध दर्शनावरणीय कर्म से है, जबकि दूसरे और तीसरे अर्थ का सम्बन्ध मोहनीय-कर्म से है। दर्शन-मोह के कारण प्राणी में सम्यक् दृष्टिकोण का अभाव होता है और वह मिथ्या धारणाओं एवं विचारों का शिकार रहता है, उसकी विवेकबुद्धि असंतुलित होती है। दर्शनमोह तीन प्रकार का है-

(1) मिथ्यात्व मोह- जिसके कारण प्राणी असत्य को सत्य तथा सत्य को असत्य समझता है। शुभ को अशुभ और अशुभ को शुभ मानना मिथ्यात्व-मोह है। (2) सम्यक् मिथ्यात्व मोह-सत्य एवं असत्य तथा शुभ एवं अशुभ के सम्बन्ध में अनिश्चयात्मक दृष्टि

(3) सम्यक्त्व मोह- क्षायिक-सम्यक्त्व की उपलब्धि में बाधक सम्यक्त्व-मोह है, अर्थात् दृष्टिकोण की आंशिक विशुद्धता।

(ब) चारित्र-मोह- चारित्र-मोह के कारण प्राणी का आचरण अशुभ होता है। चारित्र-मोहजनित अशुभाचरण पच्चीस प्रकार का है- (1) प्रबलतम क्रोध, (2) प्रबलतम मान, (3) प्रबलतम माया (कपट), (4) प्रबलतम लोभ, (5) अति क्रोध, (6) अति मान, (7) अति माया (कपट) (12) साधारण लोभ, (13) अल्प क्रोध, (14) अल्प मान, (15) अल्प माया (कपट) और (16)

अल्प लोभ- ये सोलह कषाय हैं। उपर्युक्त कषायों को उत्तेजित करने वाली नौ मनोवृत्तियाँ (उपकषाय) हैं- (1) हास्य, (2) रति (स्नेह, राग), (3) अरति (द्वेष), (4) शोक, (5) भय, (6) जुगुप्सा (घृणा), (7) स्त्रीवेद (पुरुष-सहवास की इच्छा), (8) पुरुषवेद (स्त्री-सहवास की इच्छा), (9) नपुंसकवेद (स्त्री और पुरुष- दोनों के सहवास की इच्छा)।

मोहनीय-कर्म विवेकाभाव है और उसी विवेकाभाव के कारण अशुभ की ओर प्रवृत्ति की रुचि होती है। अन्य परम्पराओं में जो स्थान अविद्या का है, वही स्थान जैन-परम्परा में मोहनीय-कर्म का है। जिस प्रकार अन्य परम्पराओं में बन्धन का मूल कारण अविद्या है, उसी प्रकार जैन-परम्परा में बन्धन का मूल कारण मोहनीय-कर्म। मोहनीय-कर्म का क्षयोपशम ही आध्यात्मिक-विकास का आधार है।

5. आयुष्य कर्म

जिस प्रकार बेड़ी स्वाधीनता में बाधक है, उसी प्रकार जो कर्म-परमाणु आत्मा को विभिन्न शरीरों में नियत अवधि तक कैद रखते हैं, उन्हें आयुष्य-कर्म कहते हैं। यह कर्म निश्चय करता है कि आत्मा को किस शरीर में किंतीनी समयावधि तक रहना है। आयुष्य कर्म चार प्रकार का है- (1) नरक आयु, (2) तिर्य्यच आयु (वनस्पति एवं पशु-जीवन) (3) मनुष्य आयु और (4) देव आयु।

आयुष्य-कर्म के बन्ध के कारण- सभी प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध का कारण शील और व्रत से रहित होना माना गया है, फिर भी किस प्रकार के आचरण से किस प्रकार का जीवन मिलता है, उसका निर्देश भी जैन आगमों में उपलब्ध है। स्थानांगसूत्र में प्रत्येक प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध के चार-चार कारण माने गये हैं-

(अ) नारकीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण- महारम्भ (भयानक हिंसक कर्म), (2) महापरिग्रह (अत्यधिक संचय-वृत्ति), (3) मनुष्य, पशु आदि का वध करना, (4) मांसाहार और शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन।

(ब) पाशविक-जीवन की प्राप्ति के चार कारण- (1) कपट करना (2) रहस्यपूर्ण कपट करना (3) असत्य भाषण (4) कम ज्यादा तौल-माप करना। कर्म-ग्रन्थ में प्रतिष्ठा कम होने के भय से पाप का

प्रकट न करना भी तिर्यच आयु के बन्ध का कारण माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र में माया (कपट) को ही पशुयोनि का कारण बताया है।

(स) मानव-जीवन की प्राप्ति के चार कारण- (1) सरलता, (2) विनयशीलता, (3) करुणा और (4) अहंकार और मात्सर्य से रहित होना। तत्त्वार्थसूत्र में- (1) अल्प आरम्भ, (2) अल्प परिग्रह, (3) स्वभाव की सरलता और (4) स्वभाव की मृदुता को मनुष्य आयु के बन्ध का कारण कहा गया है।

(द) दैवीय-जीवन की प्राप्ति के चार कारण- (1) सराग (सकान) संयम का पालन, (2) संयम का आंशिक पालन, (3) सकाम-तपस्या (बाल-तप) (4) स्वाभाविक रूप में कर्मों के निर्जरित होने से। तत्त्वार्थसूत्र में भी यही कारण माने गये हैं। कर्मग्रन्थ के अनुसार, अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यच, देशविरत, श्रावक, सरागी-साधु, बाल-तपस्वी और इच्छा नहीं होते हुए भी परिस्थितिवश भूख-प्यास आदि को सहन करते हुए अकाम-निर्जरा करने वाले व्यक्ति देवायु का बन्ध करते हैं।

आकस्मिकमरण- प्राणी अपने जीवनकाल में प्रत्येक क्षण आयु-कर्म को भोग रहा है और प्रत्येक क्षण में आयु कर्म के परमाणु भोग के पश्चात् पृथक् होते रहते हैं। जिस समय वर्तमान आयुकर्म के पूर्वबद्ध समस्त परमाणु आत्मा से पृथक् हो जाते हैं, उस समय प्राणी को वर्तमान शरीर छोड़ना पड़ता है। वर्तमान शरीर छोड़ने के पूर्व ही नवीन शरीर के आयुकर्म का बन्ध हो जाता है, लेकिन यदि आयुष्य का भोग इस प्रकार नियत है, तो आकस्मिकमरण की व्याख्या क्या ? इसके प्रत्युत्तर में जैन-विचारकों ने आयुकर्म का भेद दो प्रकार का माना- (1) क्रमिक, (2) आकस्मिक। क्रमिक भोग में स्वाभाविक रूप से आयु का भोग धीरे-धीरे होता रहता है, जबकि आकस्मिक भोग में किसी कारण के उपस्थित हो जाने पर आयु एक साथ ही भोग ली जाती है। इसे ही आकस्मिकमरण या अकाल मृत्यु कहते हैं। स्थानांगसूत्र में इसके सात कारण बताये गये हैं- (1) हर्ष-शोक का अतिरेक, (2) विषय अथवा शस्त्र का प्रयोग, (3) आहार की अत्यधिकता अथवा सर्वथा अभाव (4) व्याधिजनित तीव्र वेदना, (5) आघात, (6) सर्पदंशादि और (7) श्वासनिरोध।

6. नाम-कर्म

जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न रंगों से अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नाम-कर्म विभिन्न कर्म-परमाणुओं से जगत् के प्राणियों के शरीर की रचना करता है। मनोविज्ञान की भाषा में नाम-कर्म को व्यक्तित्व का निर्धारक तत्त्व कह सकते हैं। जैन-दर्शन में व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्वों को नामकर्म की प्रकृति के रूप में जाना जाता है, जिनकी संख्या 103 मानी गई है, लेकिन विस्तारभय से उनका वर्णन सम्भव नहीं है। उपर्युक्त सारे वर्गीकरण का संक्षिप्त रूप है— 1. शुभनामकर्म (अच्छा व्यक्तित्व) और 2. अशुभनामकर्म (बुरा व्यक्तित्व)। प्राणी जगत् में जो आश्चर्यजनक वैचित्र्य दिखाई देता है, उसका आधार नामकर्म है।

शुभनामकर्म के बन्ध के कारण

जैनागमों में अच्छे व्यक्तित्व की उपलब्धि के चार कारण माने गये हैं— 1. शरीर की सरलता, 2. वाणी की सरलता, 3. मन या विचारों की सरलता, 4. अहंकार एवं मात्सर्य से रहित होना या सामंजस्यपूर्ण जीवन।

शुभनामकर्म का विपाक—

उपर्युक्त चार प्रकार के शुभाचरण से प्राप्त शुभ व्यक्तित्व का विपाक चौदह प्रकार का माना गया है— (1) अधिकारपूर्ण प्रभावक वाणी (इष्ट-शब्द) (2) सुन्दर सुगठित शरीर (इष्ट-रूप) (3) शरीर से निःसृत होने वाले मलों में भी सुगंधि (इष्ट-गंध) (4) जैवीय-रसों की समुचितता (इष्ट-रस) (5) त्वचा का सुकोमल होना (इष्ट-स्पर्श) (6) अचपल योग्य गति (इष्ट-गति) (7) अंगों का समुचित स्थान पर होना (इष्ट-स्थिति) (8) लावण्य (9) यशःकीर्ति का प्रसार (इष्ट-यशःकीर्ति) (10) योग्य शारीरिक-शक्ति (इष्ट-उत्थान, कर्म, बलवीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम) (11) लोगों को रुचिकर लगे— ऐसा स्वर (12) कान्त स्वर (13) प्रिय स्वर और (14) मनोज्ञ स्वर।

अशुभ नामकर्म के कारण— निम्न चार प्रकार के अशुभाचरण से व्यक्ति (प्राणी) को अशुभ व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है— (1) शरीर की वक्रता, (2) वचन की वक्रता (3) मन की वक्रता और (4) अहंकार एवं मात्सर्य—वृत्ति या असामंजस्यपूर्ण जीवन।

अशुभनामकर्म का विपाक- 1. अप्रभावक वाणी (अनिष्ट-शब्द), 2. असुन्दर शरीर (अनिष्ट-स्पर्श), 3. शारीरिक-मलों का दुर्गन्धयुक्त होना (अनिष्ट-गंध), 4. जैवीयरसों की असमुचितता (अनिष्ट रस), 5. अप्रिय स्पर्श, 6. अनिष्ट गति, 7. अंगों का समुचित स्थान पर न होना (अनिष्ट स्थिति), 8. सौन्दर्य का अभाव, 9. अपयश, 10. पुरुषार्थ करने की शक्ति का अभाव, 11. हीन स्वर, 12. दीन स्वर, 13. अप्रिय स्वर और 14. अकान्त स्वर

7. गोत्र-कर्म

जिसके कारण व्यक्ति प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित कुलों में जन्म लेता है, वह गोत्र-कर्म है। यह दो प्रकार का माना गया है- 1. उच्च गोत्र (प्रतिष्ठित कुल) और 2. नीच गोत्र (अप्रतिष्ठित कुल)। किस प्रकार के आचरण के कारण प्राणी का अप्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है और किस प्रकार के आचरण से प्राणी का प्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है- इस पर जैनाचार- दर्शन में विचार गया है। अहंकार वृत्ति ही इसका प्रमुख कारण मानी गई है।

उच्च-गोत्र एवं नीच-गोत्र के कर्म-बन्ध के कारण- निम्न आठ बातों का अहंकार न करने वाला व्यक्ति भविष्य में प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है- 1. जाति, 2. कुल, 3. बल (शारीरिक-शक्ति), 4. रूप (सौन्दर्य), 5. तपस्या (साधना), 6. ज्ञान (श्रुत), 7. लाभ (उपलब्धियाँ) और 8. स्वामित्व (अधिकार)। इनके विपरीत, जो व्यक्ति उपर्युक्त आठ प्रकार का अहंकार करता है, वह नीच कुल में जन्म लेता है। कर्मग्रन्थ के अनुसार भी अहंकार रहित गुणग्राही दृष्टि वाला, अध्ययन-अध्यापन में रुचि रखने वाला तथा भक्त उच्च-गोत्र को प्राप्त करता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला नीच-गोत्र को प्राप्त करता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार; पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरों के सदगुणों का आच्छादन और असदगुणों का प्रकाशन- ये नीच गोत्र के बन्ध के हेतु हैं। इसके विपरीत; पर-प्रशंसा, आत्म-निन्दा, सदगुणों का प्रकाशन, असदगुणों का गोपन और नम्रवृत्ति एवं निरभिमानता- ये उच्च-गोत्र के बन्ध के हेतु हैं।

गोत्र-कर्म का विपाक- विपाक (फल) दृष्टि से विचार करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अहंकार नहीं करता, वह प्रतिष्ठित कुल

में जन्म लेकर निम्नोक्त आठ क्षमताओं से युक्त होता है— 1. निष्कलंक मातृ-पक्ष (जाति), 2. प्रतिष्ठित पितृ-पक्ष (कुल), 3. सबल शरीर, 4. सौन्दर्ययुक्त शरीर, 5. उच्च साधना एवं तप-शक्ति, 6. तीव्र बुद्धि एवं विपुलज्ञान राशि पर अधिकार, 7. लाभ एवं विविध उपलब्धियाँ और 8. अष्टाकार, स्वामित्व एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति, लेकिन अहंकारी व्यक्तित्व उपर्युक्त समग्र क्षमताओं से अथवा इनमें से किन्हीं विशेष क्षमताओं से वंचित रहता है।

8. अन्तराय-कर्म

अभीष्ट की उपलब्धि में बाधा पहुँचाने वाले कारण को अन्तराय कर्म कहते हैं। यह पाँच प्रकार का है—

1. **दानान्तराय**— दान की इच्छा होने पर भी दान नहीं किया जा सके,
2. **लामान्तराय**— कोई प्राप्ति होने वाली हो लेकिन किसी कारण से उसमें बाधा आ जाना,
3. **भोगान्तराय**— भोग में बाधा उपस्थित होना, जैसे— व्यक्ति सम्पन्न हो, भोजनगृह में अच्छा सुस्वादु भोजन भी बना हो, लेकिन अस्वस्थता के कारण उसे मात्र खिचड़ी ही खानी पड़े।
4. **उपभोगान्तराय**— उपभोग की सामग्री के होने पर भी उपभोग करने में असमर्थता,
5. **वीर्यान्तराय**— शक्ति के होने पर भी पुरुषार्थ में उसका उपयोग नहीं किया जा सकना। (तत्त्वार्थसूत्र, 8.14)

जैन नीति-दर्शन के अनुसार, जो व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के दान, लाभ, भोग, उपभोग-शक्ति के उपयोग में बाधक बनता है, वह भी अपनी उपलब्ध सामग्री एवं शक्तियों का समुचित उपयोग नहीं कर पाता है, जैसे— कोई व्यक्ति किसी दान देने वाले व्यक्ति को दान प्राप्त करने वाली संस्था के बारे में गलत सूचना देकर या अन्य प्रकार से दान देने से रोक देता है, अथवा किसी भोजन करते हुए व्यक्ति को भोजन पर से उठा देता है, तो उसकी उपलब्धियों में भी बाधा उपस्थित होती है, अथवा भोग-सामग्री के होने पर भी वह उसके भोग से वंचित रहता है। कर्मग्रन्थ के अनुसार, जिन-पूजा आदि धर्म-कार्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाला और

हिंसा में तत्पर व्यक्ति भी अन्तराय-कर्म का संचय करता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार भी विघ्न या बाधा डालना ही अन्तराय कर्म के बंध का कारण है।

घाती और अघाती कर्म

कर्मों के इस वर्गीकरण में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय— इन चार कर्मों को 'घाती' और नाम, गौत्र, आयुष्य और वेदनीय— इन चार कर्मों को 'अघाती' माना जाता है। घाती-कर्म आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति नामक गुणों का आवरण करते हैं। ये कर्म आत्मा की स्वभावदशा को विकृत करते हैं, अतः जीवन मुक्ति में बाधक होते हैं। इन घाती-कर्मों में अविद्या—रूप मोहनीय कर्म ही आत्मस्वरूप की आवरण क्षमता, तीव्रता और स्थितिकाल की दृष्टि से प्रमुख है। वस्तुतः, मोहकर्म ही एक ऐसा कर्म-संस्कार है, जिसके कारण कर्मबंध का प्रवाह सतत् बना रहता है। मोहनीय कर्म उस बीज के समान है, जिसमें अंकुरण की शक्ति है। जिस प्रकार उगने योग्य बीज हवा, पानी आदि के सहयोग से अपनी परम्परा को बढ़ाता रहता है, उसी प्रकार मोहनीयरूपी कर्म-बीज ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायरूप हवा, पानी आदि के सहयोग से कर्म-परम्परा को सत् बनाये रखता है। मोहनीय कर्म ही जन्म, मरण, संसार या बंधन का मूल है, शेष घातीकर्म उसके सहयोगी मात्र है। इसे कर्मों का सेनापति कहा गया है। जिस प्रकार सेनापति के पराजित होने पर सारी सेना हतप्रभ हो शीघ्र ही पराजित हो जाती है, उसी प्रकार मोहकर्म पर विजय प्राप्त कर लेने पर शेष कर्मों को आसानी से पराजित कर आत्मशुद्धता की उपलब्धि की जा सकती है। जैसे ही मोह नष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण का पर्दा हट जाता है, अन्तराय या बाधकता समाप्त हो जाती है और व्यक्ति (आत्मा) जीवनमुक्त बन जाता है।

अघातीकर्म वे हैं, जो आत्मा के स्वभाव दशा की उपलब्धि और विकास में बाधक नहीं होते। अघाती-कर्म भुने हुए बीज के समान हैं, जिनमें नवीन कर्मों की उत्पादन क्षमता नहीं होती। वे कर्म-परम्परा का प्रवाह बनाये रखने में असमर्थ होते हैं और समय की परिपक्वता के साथ ही अपना फल देकर सहज ही अलग हो जाते हैं।

सर्वघाती और देशघाती कर्म-प्रकृतियाँ- आत्मा के स्व-लक्षणों का आवरण करने वाले घातीकर्मों की 45 कर्म-प्रकृतियाँ भी दो प्रकार की हैं- 1. सर्वघाती और 2. देशघाती। सर्वघाती कर्म-प्रकृति किसी आत्मगुण को पूर्णतया आवरित करती है और देशघाती कर्म-प्रकृति उसके एक अंश को आवरित करती है।

आत्मा के स्वाभाविक सत्यानुभूति नामक गुण को मिथ्यात्व (अशुद्ध दृष्टिकोण) सर्वरूपेण आच्छादित कर देता है। अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) और अनन्तदर्शन (केवलदर्शन) नामक आत्मा के गुणों का आवरण भी पूर्ण रूप से होता है। पाँचों प्रकार की निद्राएँ भी आत्मा की सहज अनुभूति की क्षमता को पूर्णतया आवरित करती हैं। इसी प्रकार, चारों कषायों के पहले तीनों प्रकार, जो कि संख्या में बारह होते हैं, भी पूर्णतया बाधक बनते हैं। अनन्तानुबन्धी-कषाय सम्यक्त्व का, प्रत्याख्यानी-कषाय देशव्रती-चारित्र (गृहस्थ-धर्म) का और अप्रत्याख्यानी-कषाय सर्वव्रती-चारित्र (मुनिधर्म) का पूर्णतया बाधक बनता है, अतः ये बीस प्रकार की कर्मप्रकृतियाँ सर्वघाती कही जाती हैं, शेष ज्ञानावरणीय-कर्म की चार, दर्शनावरणीय-कर्म की तीन, मोहनीय-कर्म की तेरह, अन्तराय-कर्म की पाँच, कुल पच्चीस कर्मप्रकृतियाँ देशघाती कही जाती हैं। सर्वघात का अर्थ मात्र इन गुणों के पूर्ण प्रकटन को रोकना है, न कि इन गुणों का अनस्तित्व, क्योंकि ज्ञानादि गुणों के पूर्ण अभाव की स्थिति में आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व में अन्तर ही नहीं रहेगा। कर्म तो आत्मगुणों के प्रकटन में बाधक-तत्त्व है, वे आत्मगुणों को विनष्ट नहीं कर सकते। नन्दीसूत्र में तो कहा गया है कि जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को चाहे कितना ही आवरित क्यों न कर लें, फिर भी वह न तो उसकी प्रकाश-क्षमता को नष्ट कर सकता है और न उसके प्रकाश के प्रकटन को पूर्णतया रोक सकता है, उसी प्रकार चाहे कर्म ज्ञानादि आत्मगुणों को कितना ही आवृत्त क्यों न कर ले, फिर भी उनका एक अंश हमेशा ही अनावृत्त रहता है।

कर्म-बन्धन से मुक्ति

जैन-कर्मसिद्धान्त की यह मान्यता है कि प्रत्येक कर्म अपना विपाक या फल देकर आत्मा से अलग हो जाता है। इस विपाक की

अवस्था में यदि आत्मा राग-द्वेष अथवा मोह से अभिभूत होता है, तो वह पुनः नये कर्म का संचय कर लेता है। इस प्रकार, यह परम्परा सतत् रूप से चलती रहती है। व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में यह नहीं है कि वह कर्म के विपाक के परिणामस्वरूप होने वाली अनुभूति से इंकार कर दे, अतः यह एक कठिन समस्या है कि कर्म के बंधन व विपाक की इस प्रक्रिया से मुक्ति कैसे हो। यदि कर्म के विपाक के फलस्वरूप हमारे अन्दर क्रोधादि कषाय-भाव अथवा कामादि भोग-भाव उत्पन्न होना ही हैं, तो फिर स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि हम विमुक्ति की दिशा में आगे कैसे बढ़ें ? इस हेतु जैन आचार्यों ने दो उपायों का प्रतिपादन किया है- (1) संवर और (2) निर्जरा। संवर का तात्पर्य है कि विपाक की स्थिति में प्रतिक्रिया से रहित रहकर नवीन कर्मास्रव एवं बंध को नहीं होने देना और निर्जरा का तात्पर्य है पूर्व कर्मों के विपाक की समभावपूर्वक अनुभूति करते हुए उन्हें निर्जरित कर देना, या फिर तप साधना द्वारा पूर्वबद्ध अनियत विपाकी कर्मों को समय से पूर्व उनके विपाक को प्रदेशोदय के माध्यम से निर्जरित करना।

यह सत्य है कि पूर्वबद्ध कर्मों के विपाकोदय की स्थिति में क्रोधादि आवेग अपनी अभिव्यक्ति के हेतु चेतना के स्तर पर आते हैं, किन्तु यदि आत्मा उस समय अपने को राग-द्वेष से ऊपर उठाकर साक्षीभाव में स्थिर रखे और उन उदय में आ रहे क्रोधादि भावों के प्रति मात्र द्रष्टा भाव रखे, तो वह भावी बंधन से बचकर पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है और इस प्रकार वह बंधन से विमुक्ति की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देता है। वस्तुतः, विवेक व अप्रमत्तता ऐसे तथ्य हैं, जो हमें नवीन बंधन से बचाकर विमुक्ति की ओर अभिमुख करते हैं। व्यक्ति में जितनी अप्रमत्तता या आत्म-चेतनता होगी, उसका विवेक उतना जाग्रत रहेगा। वह बंधन से विमुक्ति की दिशा में आगे बढ़ेगा। जैन कर्म सिद्धान्त बताता है कि कर्मों के विपाक के संबंध में हम विवश या परतन्त्र होते हैं, किन्तु उस विपाक की दशा में भी हममें इतनी स्वतन्त्रता अवश्य होती है कि हम नवीन कर्म-परम्परा का संचय करें या न करें- ऐसा निश्चय कर सकते हैं। वस्तुतः, कर्म-विपाक के सन्दर्भ में हम परतन्त्र होते हैं, किन्तु नवीन कर्मबंध

के संदर्भ में हम आंशिक रूप में स्वतन्त्र हैं। इसी आंशिक स्वतंत्रता द्वारा हम मुक्ति अर्थात् पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं। जो साधक विपाकोदय के समय साक्षी-भाव या ज्ञाता-द्रष्टाभाव में जीवन जीना जानता है, वह निश्चय ही कर्म-विमुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

त्रिविध साधना-मार्ग

जैन-दर्शन मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधना-मार्ग प्रस्तुत करता है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में ही कहा है-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है।¹ उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्-तप, ऐसे चतुर्विध मोक्ष-मार्ग का भी विधान है।² जैन-आचार्यों ने तप का अन्तर्भाव चारित्र में किया है और इसलिए परवर्ती साहित्य में इसी त्रिविध साधना-मार्ग का विधान मिलता है। उत्तराध्ययन में भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रूप में त्रिविध साधना-पथ का विधान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार एवं नियमसार में, आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में त्रिविध साधना-पथ का विधान किया है।

त्रिविध साधना-मार्ग ही क्यों ? - यह प्रश्न उठ सकता है कि त्रिविध साधना-मार्ग का ही विधान क्यों किया गया है ? वस्तुतः, त्रिविध साधना-मार्ग के विधान में पूर्ववर्ती ऋषियों एवं आचार्यों की गहन मनोवैज्ञानिक सूझ रही है। मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से मानवीय-चेतना के तीन पक्ष माने गए हैं - ज्ञान, भाव और संकल्प। नैतिक-जीवन का साध्य चेतना के इन तीनों पक्षों का विकास माना गया है, अतः यह आवश्यक ही था कि इन तीनों पक्षों के विकास के लिए त्रिविध साधना-पथ का विधान किया जाए। चेतना के भावात्मक-पक्ष को सम्यक् बनाने के लिए एवं उसके सही विकास के लिए सम्यग्दर्शन या श्रद्धा की साधना का विधान किया गया। इसी प्रकार, ज्ञानात्मक-पक्ष के लिए ज्ञान का और संकल्पात्मक-पक्ष के लिए सम्यक्चारित्र का विधान है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि त्रिविध साधना-पथ के विधान के पीछे एक मनोवैज्ञानिक-दृष्टि रही है।

बौद्ध-दर्शन में त्रिविध साधना-मार्ग - बौद्ध-दर्शन में भी त्रिविध साधना-मार्ग का विधान है। प्राचीन बौद्ध-ग्रंथों में इसी का विधान अधिक है। वैसे, बुद्ध ने अष्टांग-मार्ग का भी प्रतिपादन किया है, लेकिन यह अष्टांग-मार्ग भी त्रिविध साधना-

मार्ग में ही अन्तर्भूत है। बौद्ध- दर्शन में त्रिविध साधना-मार्ग के रूप में शील, समाधि और प्रज्ञा का विधान है। कहीं-कहीं शील, समाधि और प्रज्ञा के स्थान पर वीर्य, श्रद्धा और प्रज्ञा का भी विधान है।¹ वस्तुतः, वीर्य शील का और श्रद्धा समाधि का प्रतीक है। श्रद्धा और समाधि-दोनों समान इसलिए हैं कि दोनों में चित्त-विकल्प नहीं होते हैं। समाधि या श्रद्धा को सम्यक्-दर्शन से और प्रज्ञा को सम्यक्-ज्ञान से तुलनीय माना जा सकता है। बौद्धदर्शन का अष्टांगमार्ग सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाणी, सम्यक्-कर्मन्त, सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति और सम्यक्-समाधि है। इनमें सम्यक्-वाचा, सम्यक्-कर्मन्त और सम्यक्-आजीव-इन तीनों का अन्तर्भाव शील में सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति और सम्यक्-समाधि-इन तीनों का अन्तर्भाव प्रज्ञा में होता है। इस प्रकार, बौद्धदर्शन में भी मौलिक रूप से त्रिविध साधना-मार्ग ही प्ररूपित है।

गीता का त्रिविध साधना-मार्ग - गीता में भी ज्ञान, कर्म और भक्ति के रूप में त्रिविध साधना-मार्ग का उल्लेख है। इन्हें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के नाम से भी अभिहित किया गया है, यद्यपि गीता में ध्यानयोग का भी उल्लेख है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में तप का स्वतन्त्र विवेचन होते हुए भी उसे सम्यक्-चारित्र के अन्तर्भूत लिया गया है, उसी प्रकार गीता में भी ध्यानयोग को कर्मयोग के अधीन माना जा सकता है। गीता में प्रसंगान्तर से मोक्ष की उपलब्धि के साधन के रूप में प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भी उल्लेख है।⁴ इनमें प्रणिपात श्रद्धा या भक्ति का, परिप्रश्न ज्ञान और सेवा-कर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। योग-दर्शन में भी ज्ञानयोग, भक्तियोग और क्रियायोग के रूप में इसी त्रिविध साधना-मार्ग का प्रस्तुतिकरण हुआ है। वैदिक-परम्परा में इस त्रिविध साधना-मार्ग के प्रस्तुतिकरण के पीछे एक दार्शनिक-दृष्टि रही है। उसमें परमसत्ता या ब्रह्म के तीन पक्ष सत्य, सुन्दर और शिव माने गए हैं। ब्रह्म, जो कि नैतिक-जीवन का साध्य है, इन तीन पक्षों से युक्त है और इन तीनों की उपलब्धि के लिए ही त्रिविध साधना-मार्ग का विधान किया गया है। सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान, सुन्दर की उपलब्धि के लिए भाव या श्रद्धा और शिव की उपलब्धि के लिए सेवा या कर्म माने गए हैं। उपनिषदों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में भी त्रिविध साधना-मार्ग निरूपित है। गहराई से देखें, तो श्रवण श्रद्धा, मनन ज्ञान और निदिध्यासन कर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार, वैदिक-परम्परा में भी त्रिविध साधना-मार्ग का विधान है।

पाश्चात्य-चिन्तन में त्रिविध साधना-पथ - पाश्चात्य-परम्परा में तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं - 1. स्वयं को जानो (Know Thyself), 2. स्वयं को स्वीकार करो (Accept Thyself) और 3. स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself)⁵ पाश्चात्य-चिन्तन के तीन आदेश ज्ञान, दर्शन और चारित्र के समकक्ष ही हैं। आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व, आत्म-स्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व और आत्म-निर्माण में चारित्र का तत्त्व स्वीकृत ही है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि त्रिविध साधना-मार्ग के विधान में जैन, बौद्ध और वैदिक-परम्पराएं ही नहीं, पाश्चात्य-विचारक भी एकमत हैं। तुलनात्मक रूप में उन्हें निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है -

जैन-दर्शन	बौद्ध-दर्शन	गीता	उपनिषद्	पाश्चात्य-दर्शन
सम्यग्ज्ञान	प्रज्ञा	ज्ञान, परिप्रश्न	मनन	Know Thyself
सम्यग्दर्शन	श्रद्धा, चित्त, समाधि	श्रद्धा, प्रतिपात	श्रवण	Accept Thyself
सम्यक्चारित्र	शील, वीर्य	कर्म, सेवा	निदिध्यासन	BeThyself

साधन-त्रय का परस्पर सम्बन्ध - जैन-आचार्यों ने नैतिक-साधना के लिए इन तीनों साधना-मार्गों को एक साथ स्वीकार किया है। उनके अनुसार, नैतिक-साधना की पूर्णता त्रिविध-साधनापथ के समग्र परिपालन में ही सम्भव है। जैन-विचारक तीनों के समवेत से ही मुक्ति मानते हैं। उनके अनुसार, न अकेला ज्ञान, न अकेला कर्म और न अकेली भक्ति मुक्ति देने में समर्थ है, जबकि कुछ भारतीय-विचारकों ने इनमें से किसी एक को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शंकर केवल ज्ञान से और रामानुज केवल भक्ति से मुक्ति की संभावना को स्वीकार करते हैं, लेकिन जैन-दार्शनिक ऐसी किसी एकान्तवादिता में नहीं पड़ते हैं। उनके अनुसार तो ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना में ही मोक्ष-सिद्धि संभव है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष या नैतिक-साध्य की प्राप्ति सम्भव नहीं। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और जिसमें ज्ञान नहीं है, उसका आचरण सम्यक् नहीं होता और सम्यक् आचरण के अभाव में आसक्ति से मुक्त नहीं हुआ जाता है और जो आसक्ति से मुक्त नहीं, उसका निर्वाण या मोक्ष नहीं होता।⁶ इस प्रकार, शास्त्रकार यह स्पष्ट कर देता है कि निर्वाण या नैतिक-साध्य के रूप में जिस पूर्णता को स्वीकार किया गया है, वह चेतना के किसी एक पक्ष की पूर्णता नहीं, वरन् तीनों पक्षों की पूर्णता है और इसके लिए साधना के तीनों पक्ष आवश्यक हैं।

यद्यपि नैतिक-साधना के लिए सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र या शील, समाधि और प्रज्ञा, अथवा श्रद्धा, ज्ञान और कर्म-तीनों आवश्यक हैं, लेकिन इनमें साधना की दृष्टि से एक पूर्वापरता का क्रम भी है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का पूर्वापर सम्बन्ध - ज्ञान और दर्शन की पूर्वापरता को लेकर जैन-विचारणा में काफी विवाद रहा है। कुछ आचार्य दर्शन को प्राथमिक मानते हैं, तो कुछ ज्ञान को, कुछ ने दोनों का योगपद्य (समानान्तरता) स्वीकार किया है, यद्यपि आचार-मीमांसा की दृष्टि से दर्शन की प्राथमिकता ही प्रबल रही है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता।⁷ इस प्रकार, ज्ञान की अपेक्षा दर्शन को प्राथमिकता दी गई है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने भी अपने ग्रन्थ में दर्शन को ज्ञान और चारित्र के पहले स्थान दिया है।⁸ आचार्य कुन्दकुन्द दर्शनपाहुड में कहते हैं कि धर्म (साधनामार्ग) दर्शन-प्रधान है।⁹

लेकिन, दूसरी ओर कुछ सन्दर्भ ऐसे भी हैं, जिनमें ज्ञान को प्रथम माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में, उसी अध्याय में मोक्ष-मार्ग की विवेचना में जो क्रम है, उसमें ज्ञान का स्थान प्रथम है।¹⁰ वस्तुतः, साधनात्मक-जीवन की दृष्टि से भी ज्ञान और दर्शन में किसे प्राथमिक माना जाए, यह निर्णय करना सहज नहीं है। इस विवाद के मूल में यह तथ्य है कि श्रद्धावादी-दृष्टिकोण सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान देता है, जबकि ज्ञानवादी-दृष्टिकोण श्रद्धा के सम्यक् होने के लिए ज्ञान की प्राथमिकता को स्वीकार करता है। वस्तुतः, इस विवाद में कोई एकान्तिक निर्णय लेना अनुचित ही होगा। यहाँ समन्वयवादी-दृष्टिकोण ही संगत होगा। नवतत्त्वप्रकरण में ऐसा ही समन्वयवादी-दृष्टिकोण अपनाया गया है, जहाँ दोनों को एक-दूसरे का पूर्वापर बताया है। कहा है कि जो जीवादि नव पदार्थों को यथार्थ रूप से जानता है, उसे सम्यक्त्व होता है। इस प्रकार, ज्ञान को दर्शन के पूर्व बताया गया है, लेकिन अगली पंक्ति में ही ज्ञानाभाव में केवल श्रद्धा से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति मान ली गई है और कहा गया है कि जो वस्तुतत्त्व को स्वतः नहीं जानता हुआ भी उसके प्रति भाव से श्रद्धा करता है, उसे सम्यक्त्व हो जाता है।¹¹

हम अपने दृष्टिकोण से इनमें से किसे प्रथम स्थान दें, इसका निर्णय करने के पूर्व दर्शन शब्द के अर्थ का निश्चय कर लेना जरूरी है। दर्शन शब्द के दो अर्थ हैं - 1. यथार्थ दृष्टिकोण और 2. श्रद्धा। यदि हम दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ लेते हैं, तो हमें साधना-मार्ग की दृष्टि से उसे प्रथम स्थान देना चाहिए, क्योंकि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही मिथ्या है, अयथार्थ है, तो न तो उसका ज्ञान सम्यक् (यथार्थ) होगा और

न चारित्र ही। यथार्थ दृष्टि के अभाव में यदि ज्ञान और चारित्र सम्यक् प्रतीत भी हों, तो भी वे सम्यक् नहीं कहे जा सकते। वह तो संयोगिक-प्रसंग मात्र है। ऐसा साधक दिग्भ्रांत भी हो सकता है, जिसकी दृष्टि ही दूषित है, वह क्या सत्य को जानेगा और उसका आचरण करेगा? दूसरी ओर, यदि हम सम्यग्दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ लेते हैं, तो उसका स्थान ज्ञान के पश्चात् ही होगा, क्योंकि अविचल श्रद्धा तो ज्ञान के बाद ही उत्पन्न हो सकती है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ करते समय उसे ज्ञान के बाद ही स्थान दिया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञान से पदार्थ (तत्त्व) स्वरूप को जानें और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करें।¹² व्यक्ति के स्वानुभव (ज्ञान) के पश्चात् ही जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसमें जो स्थायित्व होता है, वह ज्ञानभाव में प्राप्त हुई श्रद्धा से नहीं हो सकता। ज्ञानभाव में जो श्रद्धा होती है, उसमें संशय होने की सम्भावना हो सकती है। ऐसी श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नहीं, वरन् अन्ध श्रद्धा ही हो सकती है। जिन-प्रणीत तत्त्वों में भी यथार्थ श्रद्धा तो उनके स्वानुभव एवं तार्किक-परीक्षण के पश्चात् ही हो सकती है। यद्यपि साधना के लिए, आचरण के लिए, श्रद्धा अनिवार्य तत्त्व है, लेकिन वह ज्ञान-प्रसूत होनी चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा है कि धर्म की समीक्षा प्रज्ञा के द्वारा करें, तर्क से तत्त्व का विश्लेषण करें।¹³

इस प्रकार, यथार्थदृष्टिपरक अर्थ में सम्यग्दर्शन को ज्ञान के पूर्व लेना चाहिए, जब कि श्रद्धापरक अर्थ में उसे ज्ञान के पश्चात् स्थान देना चाहिए।

बौद्ध-विचारणा में ज्ञान और श्रद्धा का सम्बन्ध - बौद्ध-विचारणा ने सम्यग्दर्शन या सम्यग्दृष्टि शब्द का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ स्वीकारा है और अष्टांगिक साधना-मार्ग में उसे प्रथम स्थान दिया है। यद्यपि अष्टांग साधना-मार्ग में ज्ञान का कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं है, तथापि वह सम्यग्दृष्टि में ही समाहित है। आंशिक रूप में उसे सम्यक्-स्मृति के अधीन भी माना जा सकता है, तथापि बौद्धसाधना के त्रिविध मार्ग शील, समाधि, प्रज्ञा में ज्ञान को स्वतन्त्र स्थान भी प्रदान करते हैं। चाहे बुद्ध ने आत्मदीप एवं आत्मशरण के स्वर्णिम सूत्र का उद्घोष कर श्रद्धा की अपेक्षा स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया हो, फिर भी बौद्ध आचार-दर्शन में श्रद्धा का महत्वपूर्ण स्थान सभी युगों में रहा है। सुत्तनिपात में आलवक यक्ष के प्रति बुद्ध स्वयं कहते हैं कि मनुष्य का श्रेष्ठ धन श्रद्धा है।¹⁴ मनुष्य श्रद्धा से इस संसाररूप बाढ़ को पार करता है।¹⁵ इतना ही नहीं, ज्ञान की उपलब्धि के साधन के रूप में श्रद्धा को स्वीकार करके बुद्ध गीता की विचारणा के अत्यधिक निकट आ जाते हैं। गीता के समान ही बुद्ध सुत्तनिपात में आलवक यक्ष से

कहते हैं, “निर्वाण की ओर ले जाने वाले अर्हत्तों के धर्म में श्रद्धा रखने वाला अप्रमत्त और विचक्षण पुरुष प्रज्ञा प्राप्त करता है।”¹⁶ ‘श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं’ और ‘सद्दानो लभते पञ्च’ का शब्द-साम्य दोनों आचार-दर्शनों में निकटता देखने वाले विद्वानों के लिए विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

लेकिन, यदि हम श्रद्धा को आस्था के अर्थ में ग्रहण करते हैं, तो बुद्ध की दृष्टि में प्रज्ञा प्रथम है और श्रद्धा द्वितीय स्थान पर। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि श्रद्धा पुरुष की साथी है, प्रज्ञा उस पर नियन्त्रण करती है।¹⁷ इस प्रकार, श्रद्धा पर विवेक का स्थान स्वीकार किया गया है। बुद्ध कहते हैं, श्रद्धा से ज्ञान बड़ा है।¹⁸ इस प्रकार, बुद्ध की दृष्टि में ज्ञान का महत्व अधिक सिद्ध होता है। यद्यपि बुद्ध श्रद्धा के महत्व को और ज्ञान-प्राप्ति के लिए उसकी आवश्यकता को स्वीकार करते हैं, तथापि जहाँ श्रद्धा और ज्ञान में किसी की श्रेष्ठता का प्रश्न आता है, वे ज्ञान(प्रज्ञा) की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं। बौद्ध-साहित्य में बहुचर्चित कालामसुत्त भी इसका प्रमाण है। कालामों को उपदेश देते हुए बुद्ध स्वविवेक को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। वे कहते हैं, हे कालामों! तुम किसी बात को इसलिए स्वीकार मत करो कि यह बात अनुश्रुत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह बात परम्परागत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह बात इसी प्रकार कही गई है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह हमारे धर्म-ग्रंथ (पिटक) के अनुकूल है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह तर्क-सम्मत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह न्याय (शास्त्र) सम्मत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि इसका आकार-प्रकार (कथन का ढंग) सुन्दर है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह हमारे मत के अनुकूल है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि कहने वाले का व्यक्तित्व आकर्षक है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि कहने वाला श्रमण हमारा पूज्य है। हे कालामों! (यदि) तुम जब आत्मानुभव से अपने-आप ही यह जानो कि ये बातें अकुशल हैं, ये बातें सदोष हैं, ये बातें विज्ञ पुरुषों द्वारा निन्दित हैं, इन बातों के अनुसार चलने से अहित होता है, दुःख होता है — तो हे कालामों! तुम उन बातों को छोड़ दो।¹⁹ बुद्ध का उपर्युक्त कथन श्रद्धा के ऊपर मानवीय-विवेक की श्रेष्ठता का प्रतिपादक है।

लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं है कि बुद्ध मानवीय-प्रज्ञा को श्रद्धा से पूर्णतया निर्मुक्त कर देते हैं। बुद्ध की दृष्टि में ज्ञानविहीन श्रद्धा मनुष्य के स्वविवेकरूपी चक्षु को समाप्त कर उसे अन्धा बना देती है और श्रद्धा-विहीन ज्ञान मनुष्य को संशय और तर्क के

मरुस्थल में भटका देता है। इस मानवीय-प्रकृति का विश्लेषण करते हुए विसुद्धिमग्न में कहा है कि बलवान् श्रद्धावाला, किन्तु मन्द प्रज्ञावाला व्यक्ति बिना सोचे-समझे हर कहीं विश्वास कर लेता है और बलवान् प्रज्ञावाला, किन्तु मन्द श्रद्धावाला व्यक्ति कुतार्किक (धूर्त) हो जाता है, वह औषधि से उत्पन्न होने वाले रोग के समान ही असाध्य होता है।²⁰ इस प्रकार, बुद्ध श्रद्धा और विवेक के मध्य एक समन्वयवादी-दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान से युक्त श्रद्धा और श्रद्धा से युक्त ज्ञान ही साधना के क्षेत्र में सच्चे दिशा-निर्देशक हो सकते हैं।

गीता में श्रद्धा और ज्ञान का सम्बन्ध - गीता के अनुसार श्रद्धा को ही प्रथम स्थान देना होगा, गीताकार कहता है कि श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है।²¹ यद्यपि गीता में ज्ञान की महिमा गायी गई है, लेकिन ज्ञान श्रद्धा के ऊपर अपना स्थान नहीं बना पाया है, वह श्रद्धा की प्राप्ति का एक साधन ही है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि निरन्तर मेरे ध्यान में लीन और प्रीतिपूर्वक भजने वाले लोगों को मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।²² यहाँ ज्ञान को श्रद्धा का परिणाम माना गया है। इस प्रकार, गीता यह स्वीकार करती है कि यदि साधक मात्र श्रद्धा या भक्ति का सम्बल लेकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़े, तो ज्ञान उसे ईश्वरीय-अनुकम्पा के रूप में प्राप्त हो जाता है। कृष्ण कहते हैं कि श्रद्धायुक्त भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिए मैं स्वयं उनके अन्तःकरण में स्थित होकर अज्ञानजन्य अन्धकार को ज्ञानरूपी प्रकाश से नष्ट कर देता हूँ।²³ इस प्रकार, गीता में ज्ञान के स्थान पर साधना की दृष्टि से श्रद्धा ही प्राथमिक सिद्ध होती है।

लेकिन, जैन-विचारणा में यह स्थिति नहीं है। यद्यपि उसमें श्रद्धा का काफी माहात्म्य निरूपित है और कभी तो वह गीता के अति निकट आकर यह भी कह देती है कि दर्शन (श्रद्धा) की विशुद्धि से ज्ञान की विशुद्धि हो ही जाती है, अर्थात् श्रद्धा के सम्यक् होने पर सम्यक् ज्ञान उपलब्ध हो ही जाता है, फिर भी उसमें श्रद्धा ज्ञान और स्वानुभव के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। इसके पीछे जो कारण है, वह यह कि गीता में श्रद्धेय इतना समर्थ माना गया है कि वह अपने उपासक के हृदय में ज्ञान की आभा को प्रकाशित कर सकता है, जबकि जैन-विचारणा में श्रद्धेय (उपास्य) उपासक को अपनी ओर से कुछ भी देने में असमर्थ है, साधक को स्वयं ही ज्ञान उपलब्ध करना होता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का पूर्वापर सम्बन्ध - चारित्र और ज्ञान-दर्शन के पूर्वापर सम्बन्ध को लेकर जैन-विचारणा में कोई विवाद नहीं है। चारित्र की अपेक्षा ज्ञान और दर्शन को प्राथमिकता प्रदान की गई है। चारित्र साधना-मार्ग में गति

है, जब ज्ञान साधना-पथ का बोध है और दर्शन यह विश्वास जाग्रत करता है कि यह पथ-उसे अपने लक्ष्य की ओर ले जाने वाला है। सामान्य पथिक भी यदि पथ के ज्ञान एवं इस दृढ़ विश्वास के अभाव में कि वह पथ उसके वांछित लक्ष्य को जाता है, अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता, तो फिर आध्यात्मिक साधना-मार्ग का पथिक बिना ज्ञान और आस्था (श्रद्धा) के कैसे आगे बढ़ सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ज्ञान से (यथार्थ साधना-मार्ग को) जाने, दर्शन के द्वारा उस पर विश्वास करे और चारित्र से उस साधना-मार्ग पर, आचरण करता हुआ तप से अपनी आत्मा का परिशोधन करे।²⁴ यद्यपि लक्ष्य के पाने के लिए चारित्ररूप प्रयास आवश्यक है, लेकिन प्रयास को लक्ष्योन्मुख और सम्यक् होना चाहिए। मात्र अन्धे प्रयासों से लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ नहीं है, तो ज्ञान यथार्थ नहीं होगा और ज्ञान के यथार्थ नहीं होने पर चरित्र या आचरण भी यथार्थ नहीं होगा, इसलिए जैन-आगमों में चारित्र से दर्शन (श्रद्धा) की प्राथमिकता बताते हुए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक्चारित्र नहीं होता।²⁵ भक्तपरिज्ञा में कहा गया है कि दर्शन से भ्रष्ट (पतित) ही वास्तविक भ्रष्ट है, चारित्र से भ्रष्ट भ्रष्ट नहीं है, क्योंकि जो दर्शन से युक्त है, वह संसार में अधिक परिभ्रमण नहीं करता, जबकि दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होता। कदाचित् चारित्र से रहित सिद्ध भी हो जाए, लेकिन दर्शन से रहित कभी भी मुक्त नहीं होता²⁶। वस्तुतः, दृष्टिकोण या श्रद्धा ही एक ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति के ज्ञान और आचरण का सही दिशा-निर्देश करता है। आचार्य भद्रबाहु आचारांगनिर्युक्ति में कहते हैं कि सम्यक्दृष्टि से ही तप, ज्ञान और सदाचरण सफल होते हैं।²⁷ संत आनन्दधन दर्शन की महत्ता को सिद्ध करते हुए अनन्तजिन के स्तवन में कहते हैं -

शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी,

छार (राख) पर लीपणु तेह जाणो रे।

बौद्ध-दर्शन और गीता का दृष्टिकोण-जैन-दर्शन के समान बौद्ध-दर्शन और गीता में भी श्रद्धा को आचरण का पूर्ववर्ती माना गया है। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि श्रद्धापूर्वक दिया हुआ दान ही प्रशंसनीय है।²⁸ आचार्य भद्रबाहु और आनन्दधन तथा भगवान् बुद्ध के उपर्युक्त दृष्टिकोण के समान ही गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह सभी असत् (असम्यक्) कहा जाता है, वहाँ न तो इस लोक में लाभदायक है, न परलोक में।²⁹ तैत्तिरीय-उपनिषद् में भी यही कहा गया

है कि जो भी दानादि कर्म करना चाहिए, उन्हें श्रद्धापूर्वक ही करना चाहिए, अश्रद्धापूर्वक नहीं।³⁰ इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक-परम्पराएँ आचरण के पूर्व श्रद्धा को स्थान देती हैं। वस्तुतः, श्रद्धा आचरण के अन्तस् में निहित एक ऐसा तत्त्व है, जो कर्म को उचितता प्रदान करता है। नैतिक-जीवन के क्षेत्र में वह एक आन्तरिक अंकुश के रूप में कार्य करती है और इसलिए वह कर्म से प्रथम है।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्वापरता - जैन - विचारकों ने चारित्र को ज्ञान के बाद ही रखा है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जो जीव और अजीव के स्वरूप को नहीं जानता, ऐसा जीव और अजीव के विषय में अज्ञानी साधक क्या धर्म (संयम) का आचरण करेगा ?³¹ उत्तराध्ययनसूत्र में भी यही कहा है कि सम्यग्ज्ञान के अभाव में सदाचरण नहीं होता।³² इस प्रकार, जैन-दर्शन ज्ञान को चारित्र के पूर्व मानता है। जैन-दार्शनिक यह तो स्वीकार करते हैं कि सम्यक् आचरण के पूर्व सम्यक्ज्ञान का होना आवश्यक है, फिर भी वे यह स्वीकार नहीं करते हैं कि अकेला ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। ज्ञान आचरण का पूर्ववर्ती अवश्य है, यह भी स्वीकार किया गया है कि ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यक् नहीं हो सकता,³³ लेकिन यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या ज्ञान ही मोक्ष का मूल हेतु है ?

साधन - त्रय में ज्ञान का स्थान - जैनाचार्य अमृतचन्द्रसूरि ज्ञान की चारित्र से पूर्वता को सिद्ध करते हुए एक चरम सीमा स्पर्श कर लेते हैं। वे अपनी समयसार टीका में लिखते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि ज्ञान का अभाव होने से अज्ञानियों में अंतरंग व्रत, नियम, सदाचरण और तपस्या आदि व उपस्थिति होते हुए भी मोक्ष का अभाव है, क्योंकि अज्ञान तो बन्ध का हेतु है, जबकि ज्ञानी में ज्ञान का सद्भाव होने से बाह्य-व्रत, नियम, सदाचरण, तप आदि की अनुपस्थिति होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।³⁴ आचार्य शंकर भी यह मानते हैं कि एक ही कार्य ज्ञान के अभाव में बन्धन का हेतु और ज्ञान की उपस्थिति में मोक्ष का हेतु होता है। इससे यही सिद्ध होता है कि कर्म नहीं, ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है।³⁵ आचार्य अमृतचन्द्र भी ज्ञान को त्रिविध साधनों में प्रमुख मानते हैं। उनकी दृष्टि में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी ज्ञान के ही रूप हैं। वे लिखते हैं कि मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। जीवादि तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान रूप से तो जो ज्ञान है, वह तो सम्यग्दर्शन है और उनका ज्ञान-स्वभाव से ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि के त्याग-स्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार, ज्ञान ही परमार्थतः मोक्ष का कारण है।³⁶ यहां पर आचार्य दर्शन और

चारित्र को ज्ञान के अन्य दो पक्षों के रूप में सिद्ध कर मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु सिद्ध करते हैं। उनके दृष्टिकोण के अनुसार दर्शन और चारित्र भी ज्ञानात्मक है, ज्ञान की ही पर्यायें हैं। यद्यपि यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आचार्य मात्र ज्ञान की उपस्थिति में मोक्ष के सद्भाव की कल्पना करते हैं, फिर भी वे अन्तरंग-चारित्र की उपस्थिति से इनकार नहीं करते हैं। अन्तरंग-चारित्र तो कषाय आदि के क्षय के रूप में सभी साधकों में उपस्थित होता है। साधक और साध्य-विवेचन में हम देखते हैं कि साधक-आत्मा पारमार्थिक-दृष्टि से ज्ञानमय ही है और वही ज्ञानमय आत्मा उसका साध्य है। इस प्रकार, ज्ञानस्वभावमय आत्मा ही मोक्ष का उपादान-कारण है। क्योंकि जो ज्ञान है, वह आत्मा है और जो आत्मा है, वह ज्ञान है,³⁷ अतः मोक्ष का हेतु ज्ञान ही सिद्ध होता है।³⁸

इस प्रकार, जैन-आचार्यों ने साधन-त्रय में ज्ञान को अत्यधिक महत्त्व दिया है। आचार्य अमृतचन्द्र का उपर्युक्त दृष्टिकोण तो जैन-दर्शन को शंकर के निकट खड़ा कर देता है, फिर भी यह मानना कि जैन-दृष्टि में ज्ञान ही मात्र मुक्ति का साधन है, जैन-विचारणा के मौलिक मन्तव्य से दूर होना है। यद्यपि जैन-साधना में ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति का प्राथमिक एवं अनिवार्य कारण है, फिर भी वह एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता। ज्ञानाभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है, किन्तु मात्र ज्ञान से भी मुक्ति सम्भव नहीं है। जैन-आचार्यों ने ज्ञान को मुक्ति का अनिवार्य कारण स्वीकार करते हुए यह बताया कि श्रद्धा और चारित्र के आदर्शोन्मुख एवं सम्यक् होने के लिए ज्ञान महत्वपूर्ण तथ्य है, सम्यग्ज्ञान के अभाव में श्रद्धा अन्धश्रद्धा होगी और चारित्र या सदाचरण एक ऐसी कागजी-मुद्रा के समान होगा, जिसका चाहे बाह्य-मूल्य हो, लेकिन आन्तरिक-मूल्य शून्य ही है। आचार्य कुन्दकुन्द, जो ज्ञानवादी-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे भी स्पष्ट कहते हैं कि कोरे ज्ञान से निर्वाण नहीं होता, यदि श्रद्धा न हो और केवल श्रद्धा से भी निर्वाण नहीं होता, यदि संयम (सदाचरण) न हो।³⁹

जैन-दार्शनिक शंकर के समान न तो यह स्वीकार करते हैं कि मात्र ज्ञान से मुक्ति हो सकती है, न रामानुज प्रभृति भक्तिमार्ग के आचार्यों के समान यह स्वीकार करते हैं कि मात्र भक्ति से मुक्ति होती है। उन्हें मीमांसा-दर्शन की यह मान्यता भी ग्राह्य नहीं है कि मात्र कर्म से मुक्ति हो सकती है। वे तो श्रद्धासमन्वित ज्ञान और कर्म-दोनों से मुक्ति की सम्भावना स्वीकार करते हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पूर्वापर सम्बन्ध भी एकांतिक नहीं - जैन-विचारणा के अनुसार साधन-त्रय में एक क्रम तो माना गया

है, यद्यपि इस क्रम को भी एकान्तिक-रूप में स्वीकार करना उसकी स्याद्वाद की धारणा का अतिक्रमण ही होगा, क्योंकि जहाँ आचरण के सम्यक् होने के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर सम्यग्ज्ञान एवं दर्शन की उपलब्धि के पूर्व भी आचरण का सम्यक् होना आवश्यक है। जैनदर्शन के अनुसार जब तक तीव्रतम (अनन्तानुबन्धी) क्रोध, मान, माया और लोभ-चार कषायें समाप्त नहीं होती, तब तक सम्यक्-दर्शन और ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता। आचार्य शंकर ने भी ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व वैराग्य का होना आवश्यक माना है। इस प्रकार, सदाचरण और संयम के तत्त्व सम्यक्-दर्शन और ज्ञान की उपलब्धि के पूर्ववर्ती भी सिद्ध होते हैं। दूसरे, इस क्रम या पूर्वापरता के आधार पर भी साधन-त्रय में किसी एक को श्रेष्ठ मानना और दूसरे को गौण मानना जैनदर्शन को स्वीकृत नहीं है। वस्तुतः, साधन-त्रय मानवीय-चेतना के तीन पक्षों के रूप में ही साधना-मार्ग का निर्माण करते हैं। चेतना के इन तीन पक्षों में जैसी पारस्परिक-प्रभावकता और अवियोज्य-सम्बन्ध रहा है, वैसी ही पारस्परिक-प्रभावकता और अवियोज्य-सम्बन्ध इन तीनों पक्षों में भी है।

ज्ञान और क्रिया के सहयोग से मुक्ति- साधना-मार्ग में ज्ञान और क्रिया (विहित आचरण) के श्रेष्ठत्व को लेकर विवाद चला आ रहा है। वैदिक-युग में जहाँ विहित आचरण की प्रधानता रही है, वहाँ औपनिषदिक-युग में ज्ञान पर बल दिया जाने लगा। भारतीय-चिन्तकों के समक्ष प्राचीन समय से ही यह समस्या रही है कि ज्ञान और क्रिया के बीच साधना का यथार्थ तत्त्व क्या है? जैन-परम्परा ने प्रारम्भ से ही साधना-मार्ग में ज्ञान और क्रिया का समन्वय किया है। पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती युग में जब श्रमण-परम्परा देहदण्डन-परक तप-साधना में और वैदिक-परम्परा यज्ञयागपरक-क्रियाकाण्डों में ही साधना की इतिश्री मानकर साधना के मात्र आचरणात्मक-पक्ष पर बल देने लगी थी, तो उन्होंने उसे ज्ञान से समन्वित करने का प्रयास किया था। महावीर और उनके बाद जैन-विचारकों ने भी ज्ञान और आचरण-दोनों से समन्वित साधना-पथ का उपदेश दिया। जैन-विचारकों का यह स्पष्ट निर्देश था कि मुक्ति न तो मात्र ज्ञान से प्राप्त हो सकती है और न केवल सदाचरण से। ज्ञानमार्गी औपनिषदिक एवं सांख्य-परम्पराओं की समीक्षा करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा गया कि 'कुछ विचारक मानते हैं कि पाप का त्याग किए बिना ही, मात्र आर्यतत्त्व (यथार्थता) को जानकर ही, आत्मा सभी दुःखों से छूट जाती है, लेकिन बन्धन और मुक्ति के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले ये विचारक संयम का आचरण नहीं करते हुए केवल वचनों से ही आत्मा

को आश्वासन देते हैं।⁴⁰ सूत्रकृतांग में कहा है कि मनुष्य, चाहे वह ब्राह्मण हो, भिक्षुक हो, अनेक शास्त्रों का जानकार हो, अथवा अपने को धार्मिक प्रकट करता हो, यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है, तो वह अपने कर्मों के कारण दुःखी ही होगा।⁴¹ अनेक भाषाओं एवं शास्त्रों का ज्ञान आत्मा को शरणभूत नहीं होता। मन्त्रादि विद्या भी उसे कैसे बचा सकती है? असद् आचरण में अनुरक्त अपने-आप को पंडित मानने वाले लोग वस्तुतः मूर्ख ही हैं।⁴² आवश्यकनिर्युक्ति में ज्ञान और चारित्र के पारस्परिक-सम्बन्ध का विवेचन विस्तृत रूप में है। उसके कुछ अंश इस समस्या का हल खोजने में हमारे सहायक हो सकेंगे। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि आचरणविहीन अनेक शास्त्रों के ज्ञाता भी संसार-समुद्र से पार नहीं होते। मात्र शास्त्रीय ज्ञान से, बिना आचरण के कोई मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार निपुण चालक भी वायु या गति की क्रिया के अभाव में जहाज को इच्छित किनारे पर नहीं पहुँचा सकता, वैसे ही ज्ञानी आत्मा भी तप-संयमरूप सदाचरण के अभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।⁴³ मात्र ज्ञान लेने से कार्य-सिद्धि नहीं होती। तैरना जानते हुए भी कोई कायचेष्टा नहीं करे, तो डूब जाता है, वैसे ही शास्त्रों को जानते हुए भी जो धर्म का आचरण नहीं करता, वह डूब जाता है।⁴⁴ जैसे चन्दन ढोने वाला चन्दन से लाभान्वित नहीं होता, मात्र भार-वाहक ही बना रहता है, वैसे ही आचरण से हीन ज्ञानी ज्ञान के भार का वाहक मात्र है, इससे उसे कोई लाभ नहीं होता।⁴⁵ ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक-सम्बन्ध को लोक-प्रसिद्ध अंध-पंगु-न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जैसे वन में दावानल लगने पर पंगु उसे देखते हुए भी गति के अभाव में जल मरता है और अन्धा सम्यक् मार्ग न खोज पाने के कारण जल मरता है, वैसे ही आचरणविहीन ज्ञान पंगु के समान है और ज्ञानचक्षुविहीन आचरण अन्धे के समान है। आचरणविहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन आचरण-दोनों निरर्थक हैं और संसाररूपी दावानल से साधक को बचाने में असमर्थ हैं। जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चलता, अकेला अन्धा, अकेला पंगु इच्छित साध्य तक नहीं पहुँचते, वैसे ही मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया से मुक्ति नहीं होती, वरन् दोनों के सहयोग से मुक्ति होती है।⁴⁶ भगवतीसूत्र में ज्ञान और क्रिया में से किसी एक को स्वीकार करने की विचारणा को मिथ्या विचारणा कहा गया है।⁴⁷ महावीर ने साधक की दृष्टि से ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक-सम्बन्ध की एक चतुर्भुजी का कथन इसी संदर्भ में किया है -

1. कुछ व्यक्ति ज्ञानसम्पन्न हैं, लेकिन चारित्र-सम्पन्न नहीं हैं।

2. कुछ व्यक्ति चारित्रसम्पन्न हैं, लेकिन ज्ञान-सम्पन्न नहीं हैं।

3. कुछ व्यक्ति न ज्ञानसम्पन्न हैं, न चारित्रसम्पन्न हैं।

4. कुछ व्यक्ति ज्ञानसम्पन्न भी हैं और चारित्र-सम्पन्न भी हैं।

महावीर ने इनमें से सच्चा साधक उसे ही कहा, जो ज्ञान और क्रिया, श्रुत और शील-दोनों से सम्पन्न है। इसी को स्पष्ट करने के लिए एक निम्न रूपक भी दिया जाता है -

1. कुछ मुद्राएँ ऐसी होती हैं, जिनमें धातु भी खोटी है, मुद्रांकन भी ठीक नहीं है।

2. कुछ मुद्राएँ ऐसी होती हैं, जिनमें धातु तो शुद्ध है, लेकिन मुद्रांकन ठीक नहीं है।

3. कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं, जिनमें धातु अशुद्ध है, लेकिन मुद्रांकन ठीक है।

4. कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं, जिनमें धातु भी शुद्ध है और मुद्रांकन भी ठीक है।

बाजार में वही मुद्रा ग्राह्य होती है, जिसमें धातु भी शुद्ध होती है और मुद्रांकन भी ठीक होता है। इसी प्रकार, सच्चा साधक वही होता है, जो ज्ञान-सम्पन्न भी हो और चारित्र-सम्पन्न भी हो। इस प्रकार, जैन-विचारणा यह बताती है कि ज्ञान और क्रिया-दोनों ही नैतिक-साधना के लिए आवश्यक हैं। ज्ञान और चारित्र-दोनों की समवेत साधना से ही दुःख का क्षय होता है। क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया-दोनों ही एकान्त हैं और एकान्त होने के कारण जैन-दर्शन की अनेकान्तवादी-विचारणा के अनुकूल नहीं हैं।

वैदिक-परम्परा में ज्ञान और क्रिया के समन्वय से मुक्ति - जैन-परम्परा के समान वैदिक-परम्परा में भी ज्ञान और क्रिया-दोनों के समन्वय में ही मुक्ति की सम्भावना मानी गई है। नृसिंहपुराण में भी आवश्यकनिर्युक्ति के समान सुन्दर रूपकों के द्वारा इसे सिद्ध किया गया है। कहा गया है कि जैसे रथहीन अश्व और अश्वहीन रथ अनुपयोगी है, वैसे ही विद्या-विहीन तप और तप-विहीन विद्या निरर्थक है। जैसे दो पंखों के कारण पक्षी की गति होती है, वैसे ही ज्ञान और कर्म-दोनों के सहयोग से मुक्ति होती है।⁴⁸ क्रियाविहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन क्रिया-दोनों निरर्थक हैं,⁴⁹ यद्यपि गीता ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा-दोनों को ही स्वतन्त्र रूप से मुक्ति का मार्ग बताती है। गीता के अनुसार व्यक्ति ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग-तीनों में से किसी एक के द्वारा भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है, जबकि जैन-परम्परा में इनके समवेत में ही मुक्ति मानी गई है।

बौद्ध-विचारणा में प्रज्ञा और शील का सम्बन्ध - जैन-दर्शन के समान बौद्ध-दर्शन भी न केवल ज्ञान (प्रज्ञा) की उपादेयता स्वीकार करता है और न केवल आचरण की। उसकी दृष्टि में भी ज्ञानशून्य आचरण और क्रियाशून्य ज्ञान निर्वाण-मार्ग

में सहायक नहीं हैं। उसने सम्यग्दृष्टि और सम्यक्स्मृति के साथ ही सम्यक्-वाचा, सम्यक्-आजीव और सम्यक्-कर्मन्त को स्वीकार कर इसी तथ्य की पुष्टि की है कि प्रज्ञा और शील के समन्वय में ही मुक्ति है। बुद्ध ने क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया-दोनों को अपूर्ण माना है। जातक में कहा गया है कि आचरणरहित श्रुत से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता।⁵⁰ दूसरी ओर, बुद्ध की दृष्टि में नैतिक-आचरण अथवा कर्म चित्त की एकाग्रता के लिए हैं। वे एक साधन हैं और इसलिए परमसाध्य नहीं हो सकते। मात्र शीलव्रत-परामर्श अथवा ज्ञानशून्य क्रियाएँ बौद्ध-साधना का लक्ष्य नहीं हैं, प्रज्ञा की प्राप्ति ही एक ऐसा तथ्य है, जिससे नैतिक-आचरण बनता है। डॉ. टी.आर.व्ही. मूर्ति ने शान्तिदेव की बोधिचर्यावतार की पंजिका एवं अष्टसहस्रिका से भी इस कथन की पुष्टि के लिए प्रमाण उपस्थित किए हैं।⁵¹ बौद्ध-विचारणा में शील और प्रज्ञा-दोनों का समान रूप से महत्व स्वीकार किया गया है। सुत्तपिटक के ग्रन्थ थेरगाथा में कहा गया है - संसार में शील ही श्रेष्ठ है, प्रज्ञा ही उत्तम है। मनुष्यों और देवों में शील और प्रज्ञा से ही वास्तविक विजय होती है।⁵²

भगवान् बुद्ध ने शील और प्रज्ञा में एक सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। दीघनिकाय में कहा है कि शील से प्रज्ञा प्रक्षालित होती है और प्रज्ञा (ज्ञान) से शील (चारित्र) प्रक्षालित होता है। जहाँ शील है, वहाँ प्रज्ञा है और जहाँ प्रज्ञा है, वहाँ शील है।⁵³ इस प्रकार, बुद्ध की दृष्टि में शीलविहीन प्रज्ञा और प्रज्ञाविहीन शील-दोनों ही असम्यक् हैं। जो ज्ञान और आचरण-दोनों से समन्वित है, वही सब देवताओं और मनुष्यों में श्रेष्ठ है।⁵⁴ आचरण के द्वारा ही प्रज्ञा की शोभा बढ़ती है।⁵⁵ इस प्रकार, बुद्ध भी प्रज्ञा और शील के समन्वय में निर्वाण की उपलब्धि संभव मानते हैं, फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रारम्भिक बौद्धदर्शन शील पर और परवर्ती बौद्धदर्शन प्रज्ञा पर अधिक बल देता रहा है।

तुलनात्मक-दृष्टि से विचार- जैन-परम्परा में साधन-त्रय के समवेत में ही मोक्ष की निष्पत्ति मानी गई है। वैदिक-परम्परा में ज्ञान-निष्ठा, कर्मनिष्ठा और भक्तिमार्ग-ये तीनों ही अलग-अलग मोक्ष के साधन माने जाते रहे हैं और इन आधारों पर वैदिक-परम्परा में स्वतन्त्र सम्प्रदायों का उदय भी हुआ है। वैदिक-परम्परा में प्रारम्भ से ही कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग की धाराएँ अलग-अलग रूप में प्रवाहित होती रही हैं। भागवत-सम्प्रदाय के उदय के साथ भक्तिमार्ग एक नई निष्ठा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार, वेदों का कर्ममार्ग, उपनिषदों का ज्ञानमार्ग और भागवत-सम्प्रदाय का भक्तिमार्ग तथा इनके साथ-साथ ही योगसम्प्रदाय का ध्यान-मार्ग, सभी एक-दूसरे से

स्वतन्त्र रूप में मोक्षमार्ग समझे जाते रहे हैं। सम्भवतः, गीता एक ऐसी रचना अवश्य है, जो इन सभी साधना-विधियों को स्वीकार करती है। यद्यपि गीताकार ने इन विभिन्न धाराओं को समेटने का प्रयत्न तो किया, लेकिन वह उनको समन्वित नहीं कर पाया, यही कारण था कि परवर्ती टीकाकारों ने अपने पूर्व-संस्कारों के कारण गीता को इनमें से किसी एक साधना-मार्ग का प्रतिपादक बताने का प्रयास किया और गीता में निर्देशित साधना के दूसरे मार्गों को गौण बताया। शंकर ने ज्ञान को, रामानुज ने भक्ति को, तिलक ने कर्म को गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय माना।

लेकिन, जैन-विचारकों ने इस त्रिविध साधना-पथ को समवेत रूप में ही मोक्ष का कारण माना और यह बताया कि ये तीनों एक-दूसरे से अलग होकर नहीं, वरन् समवेत रूप में ही मोक्ष को प्राप्त करा सकते हैं। उसने तीनों को समान माना और उनमें से किसी को भी एक के अधीन बनाने का प्रयास नहीं किया। हमें इस भ्रांति से बचना होगा कि श्रद्धा, ज्ञान और आचरण-ये स्वतन्त्र रूप में नैतिक-पूर्णता के मार्ग हो सकते हैं। मानवीय-व्यक्तित्व और नैतिक-साध्य एक पूर्णता है और उसे समवेत रूप में ही पाया जा सकता है।

बौद्ध-परम्परा और जैन-परम्परा-दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण नहीं रखते हैं। बौद्ध परम्परा में भी शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा प्रज्ञा, श्रद्धा और वीर्य को समवेत रूप में ही निर्वाण का कारण माना गया है। इस प्रकार, बौद्ध और जैन-परम्पराएँ न केवल अपने साधना-मार्ग के प्रतिपादन में, वरन् साधन-त्रय के बलाबल के विषय में भी समान दृष्टिकोण रखती हैं।

वस्तुतः, नैतिक-साध्य का स्वरूप और मानवीय प्रकृति-दोनों ही यह बताते हैं कि त्रिविध साधना-मार्ग अपने समवेत रूप में ही नैतिक-पूर्णता की प्राप्ति करा सकता है। यहाँ इस त्रिविध साधना-पथ का मानवीय-प्रकृति और नैतिक-साध्य से क्या सम्बन्ध है, इसे स्पष्ट कर लेना उपयुक्त होगा।

मानवीय-प्रकृति और त्रिविध साधना-पथ - मानवीय-चेतना के तीन कार्य हैं- 1. जानना 2. अनुभव करना और 3. संकल्प करना। हमारी चेतना का ज्ञानात्मक-पक्ष न केवल जानना चाहता है, वरन् वह सत्य को ही जानना चाहता है। ज्ञानात्मक-चेतना निरन्तर सत्य की खोज में रहती है, अतः जिस विधि से हमारी ज्ञानात्मक-चेतना सत्य को उपलब्ध कर सके, उसे ही सम्यक्-ज्ञान कहा गया है। सम्यक्-ज्ञान चेतना के ज्ञानात्मक-पक्ष को सत्य की उपलब्धि की दिशा में ले जाता

है। चेतना का दूसरा पक्ष अनुभूति के रूप में आनन्द की खोज करता है। सम्यग्दर्शन चेतना में राग-द्वेषात्मक जो तनाव है, उन्हें समाप्त कर उसे आनन्द प्रदान करता है। चेतना का तीसरा संकल्पनात्मक-पक्ष शक्ति की उपलब्धि और कल्याण की क्रियान्विति चाहता है। सम्यक्चारित्र संकल्प को कल्याण के मार्ग में नियोजित कर शिव की उपलब्धि करता है। इस प्रकार, सम्यक्-ज्ञान, दर्शन और चारित्र का यह त्रिविध साधना-पथ चेतना के तीनों पक्षों को सही दिशा में निर्देशित कर उनके वांछित लक्ष्य सत्, सुन्दर और शिव अथवा अनन्त ज्ञान, आनन्द और शक्ति की उपलब्धि करता है। वस्तुतः, जीवन के साध्य को उपलब्ध करा देना ही इस त्रिविध साधना-पथ का कार्य है। जीवन का साध्य अनन्त एवं पूर्ण ज्ञान, अक्षय आनन्द और अनन्त शक्ति की उपलब्धि है, जिसे त्रिविध साधना-पथ के तीनों अंगों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। चेतना के ज्ञानात्मक-पक्ष को सम्यक्ज्ञान की दिशा में नियोजित कर ज्ञान की पूर्णता की, चेतना के भावात्मक-पक्ष को सम्यग्दर्शन में नियोजित कर अक्षय आनन्द की और चेतना के संकल्पात्मक-पक्ष को सम्यक्चारित्र में नियोजित कर अनन्त शक्ति की उपलब्धि की जा सकती है। वस्तुतः, जैन आचार-दर्शन में साध्य, साधक और साधना-पथ, तीनों में अभेद माना गया है। ज्ञान, अनुभूति और संकल्पमय चेतना साधक है और यही चेतना के तीनों पक्ष सम्यक् दिशा में नियोजित होने पर साधना-पथ कहलाते हैं और इन तीनों पक्षों की पूर्णता ही साध्य है। साधक, साध्य और साधना-पथ भिन्न-भिन्न नहीं, वरन् चेतना की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। उनमें अभेद माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में और आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में इस अभेद को अत्यन्त मार्मिक शब्दों में स्पष्ट किया है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं कि यह आत्मा ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।⁵⁶ आचार्य हेमचन्द्र इसी अभेद को स्पष्ट करते हुए योगशास्त्र में कहते हैं कि आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, क्योंकि आत्मा इसी रूप में शरीर में स्थित है।⁵⁷ आचार्य ने यह कहकर कि आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रूप में शरीर में स्थित है, मानवीय मनोवैज्ञानिक-प्रकृति को ही स्पष्ट किया है। ज्ञान, चेतना और संकल्प-तीनों सम्यक् होकर साधना-पथ का निर्माण कर देते हैं और यही पूर्ण होकर साध्य बन जाते हैं। इस प्रकार, जैन आचार-दर्शन में साधक, साधना-पथ और साध्य में अभेद है।

मानवीय-चेतना के उपर्युक्त तीनों पक्ष जब सम्यक् दिशा में नियोजित होते हैं, तो वे साधना-मार्ग कहे जाते हैं और जब वे असम्यक् दिशा में या गलत दिशा में

नियोजित होते हैं, तो बन्धन या पतन के कारण बन जाते हैं। इन तीनों पक्षों की गलत दिशा में गति ही मिथ्यात्व और सही दिशा में गति सम्यक्त्व कही जाती है। वस्तुतः, सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए मिथ्यात्व (अविद्या) का विसर्जन आवश्यक है, क्योंकि मिथ्यात्व ही अनैतिकता या दुराचार का मूल है। मिथ्यात्व का आवरण हटने पर सम्यक्त्वरूपी सूर्य का प्रकाश होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ -

1. तत्त्वार्थसूत्र 1/1, 2. उत्तराध्ययन 28/2, 3. (अ) अत्थि सद्धा ततो विरियं पञ्चा च मम विज्जति ।-सुत्तनिपात 28/8, (ब) सच्चवा सील सम्पन्नो (इति भगवा) पञ्चवा सुसमाहितो । अज्झत्तचिन्ती सतिमा ओघं तरति दुत्तरं ॥-सुत्तनिपात 9/22,
4. गीता 4/34, 4/39, 5. साइकोलाजी एन्ड मारल्स, पृ. 180, 6. उत्तराध्ययन, 28/30, 7. उत्तराध्ययन 28/30, 8. तत्त्वार्थसूत्र, 1/1, 9. दर्शनपाहुड, 2,
10. उत्तराध्ययन, 28/2, 11. नवतत्त्वप्रकरण, 1 उद्धृत-आत्मसाधना संग्रह, पृ. 151, 12. उत्तराध्ययन, 28/35, 13. वही, 23/25, 14. सुत्तनिपात, 10/2,
15. वही, 10/4, 16. वही, 10/6, 17. संयुत्तनिकाय, 1/1/59, 18. वही, 4/41/8, 19. अंगुत्तरनिकाय, 3/65, 20. गीता, 4/39, 21. गीता, 10/10, 22. वही, 10/21, 23. विसुद्धिमग्ग, 4/47, 24. उत्तराध्ययन, 28/35,
25. उत्तराध्ययन, 28/29, 26. भक्तपरिज्ञा, 65-66, 27. आचारांगनिर्युक्ति, 221, 28. संयुत्तनिकाय 1/1/33, 29. गीता, 17/28, 30. तैत्तिरीय-उपनिषद् शिक्षावल्ली, 31. दशवैकालिक 4/12, 32. उत्तराध्ययन 28/30, 33.
- व्यवहारभाष्य, 7/217, 34. समयसारटीका, 153, 35. गीता (शां.), अ. 5 पीठिका, 36. समयसारटीका, 155, 37. समयसार, 10, 38. समयसारटीका, 151, 39. प्रवचनसार, चारित्राधिकार, 3, 40. उत्तराध्ययन, 6/9-10, 41.
- सूत्रकृतांग 2/1/7, 42. उत्तराध्ययन, 6/11, 43. आवश्यकनिर्युक्ति, 95-97, 44. वही, 1151-54, 45. वही, 100, 46. वही 101-102, 47. भगवतीसूत्र 8/10/41, 48. नृसिंहपुराण, 61/9/11, 49. उद्धृत दी क्वेस्ट आफ्टर परफेक्शन,
- पृ. 63, 50. जातक, 5/373/127, 51. दी सेन्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म, पृ. 30-31, 52. थेरगाथा, 1/70, 53. दीघनिकाय, 1/4/4, 54. मज्झिमनिकाय, 2/3/5, 55. अंगुत्तरनिकाय तीसरा निपात, पृ. 104, 56.
- समयसार, 277, 57. योगशास्त्र, 4/1

श्रावकाचार

गृहस्थ वर्ग का उत्तरदायित्व

जैन धर्म श्रमण परम्परा का धर्म है। दूसरे शब्दों में वह निवृत्तिमार्गी या सन्यासमार्गी धर्म है। यह बात भी निस्संकोच रूप से स्वीकार की जा सकती है कि वैदिक परम्परा के विपरीत उसमें सन्यास का चरम आदर्श स्वीकार किया गया है किन्तु इस आधारपर यह निष्कर्ष निकाल लेना कि जैनधर्म में गृहस्थ या उपासक वर्ग का महत्वपूर्ण स्थान नहीं है, अनुचित ही होगा। चाहे जैनधर्म के प्रारम्भिक युग में सन्यास को अधिक महत्ता मिलती हो, किन्तु आगे चलकर जैन परम्परा में गृहस्थ धर्म को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। जैन धर्म में जो चतुर्विध संघ व्यवस्था हुई, उसमें साधु - साध्वियों के साथ ही श्रावकों और श्राविकाओं को भी स्थान दिया गया। मात्र यही नहीं, श्रावक और श्राविकाओं को श्रमणों और श्रमणियों के माता-पिता के रूप में स्वीकार किया गया। दूसरे शब्दों में उन्हें साधु - साध्वियों का संरक्षक मान लिया गया। वैदिक परम्परा में भी गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों का मूल बताया गया था, प्रकारान्तर से इसे जैन परम्परा में गृहस्थ वर्ग को श्रमण वर्ग का संरक्षक एवं आधार मानकर स्वीकार कर लिया गया। जैन परम्परा में गृहस्थ उपासक न केवल इसलिए महत्वपूर्ण था कि वह श्रमणों के भोजन, स्थान आदि आवश्यकताओं की पूर्ति करता था अपितु उसे श्रमण साधकों के चरित्र का प्रहरी भी मान लिया गया। कुछ समय पूर्व तक श्रावक वर्ग की महत्ता अक्षुण्ण थी। उसे यह अधिकार प्राप्त था कि यदि कोई साधु या साध्वी श्रमण मर्यादाओं का सम्यग्रूपेण पालन नहीं करता है तो वह उनका वेश लेकर उन्हें श्रमण संघ से पृथक् कर दे। इसी प्रकार मुनि एवं आर्यिका वर्ग में प्रवेश के लिए भी श्रावक संघ की अनुमति आवश्यक थी।

वर्तमान युग में साधु - साध्वियों के आचार में जो शिथिलता प्राप्त होती जा रही है, उसका एकमात्र कारण यही है कि गृहस्थवर्ग मुनि आचार से अवगत न रहने के कारण अपने उपर्युक्त कर्तव्य को भूल गया है। आज हमें इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि जैनधर्म और संस्कृति की रक्षा का दायित्व मुनिवर्ग की अपेक्षा गृहस्थ वर्ग पर ही अधिक है और यदि वह अपने इस दायित्व की-उपेक्षा करेगा, तो

अपनी संस्कृति एवं धर्म की सुरक्षा करने में असफल रहेगा।

यह तो हुआ केवल समाज या संघ व्यवस्था की दृष्टि से श्रावकवर्ग का महत्व एवं उत्तरदायित्व। किन्तु न केवल सामाजिक दृष्टि से अपितु आध्यात्मिक एवं साधनात्मक दृष्टि से भी गृहस्थ का स्थान उतना निम्न नहीं है, जितना कि सामान्यतया मान लिया जाता है। सूत्रकृतांग में स्पष्ट रूप से निर्देश है - 'आरम्भ नो आरम्भ' (गृहस्थ धर्म) का यह स्थान भी आर्य है तथा समस्त दुःखों का अन्त करने वाला मोक्षमार्ग है। यह जीवन भी पूर्णतया सम्यक् एवं साधु है। मात्र यही नहीं, उत्तराध्ययन सूत्र में तो स्पष्ट रूप से यहाँ तक कह दिया है कि चाहे सभी सामान्य गृहस्थों की अपेक्षा श्रमणों को श्रेष्ठ मान लिया जाये किन्तु कुछ गृहस्थ ऐसे भी हैं जो श्रमणों की अपेक्षा संयम के परिपालन में श्रेष्ठ होते हैं। बात स्पष्ट और साफ है कि आध्यात्मिक साधना का सम्बन्ध न केवल वेश से है और न केवल आचार के बाह्य नियमों से, अपितु समाज या संघ - व्यवस्था की दृष्टि में बाह्य आचार - नियमों का पालन आवश्यक है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट रूप से यह बात भी स्वीकार कर ली गयी है कि गृहस्थ जीवन से भी निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मरूदेवी और भरत के उदाहरण लोकविश्रुत हैं। यदि गृहस्थ धर्म से भी परिनिर्वाण या मुक्ति सम्भव है - तो इस विवाद का कोई अधिक मूल्य नहीं रह जाता कि मुनिधर्म और गृहस्थ धर्म में साधना का कौनसा मार्ग श्रेष्ठ है। वस्तुतः आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में श्रेष्ठता और निम्नता का आधार आध्यात्मिक जागरूकता, अप्रमत्तता और निराकुलता हैं, जिसने अपनी विषय वासनाओं और कषायों पर नियन्त्रण पा लिया है, जिसका चित्त निराकुल और शान्त हो गया है, जो अपने कर्तव्यपथ पर पूरी ईमानदारी से चल रहा है फिर चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि, उसकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में न तो वेश महत्वपूर्ण है और न बाह्य आचार, अपितु उसमें महत्वपूर्ण है अन्तरात्मा की निर्मलता और विशुद्धता। अन्तर की निर्मलता ही साधना का मूलभूत आधार है।

गृहस्थ धर्म की श्रेष्ठता का प्रश्न

गृहस्थधर्म और मुनिधर्म में यदि साधना की दृष्टि से हम श्रेष्ठता की बात करें तो भी वस्तुतः गृहस्थ जीवन ही अधिक श्रेष्ठ प्रतीत होगा। वीतरागता की साधना के लिए संन्यास एक निरापद मार्ग है, क्योंकि गृहस्थ जीवन में रहकर वीतरागता की साधना करना अधिक कठिन है। क्योंकि साधक जीवन में विघ्नों से दूर रहकर निर्दोष चरित्र का

पालन करना उतना कठिन नहीं है, जितना कि विघ्नों के बीच रहकर उसका पालन करना। संन्यास मार्ग एक ऐसा मार्ग है, जिसमें अनासक्ति या वीतरागता की साधना के लिए विघ्न - बाधाओं की सम्भावना कम होती है। संन्यासमार्ग की साधना कठोर होते हुए भी सुसाध्य है, जबकि गृहस्थ मार्ग की साधना व्यावहारिक दृष्टि से सुसाध्य प्रतीक होते हुए भी दुःसाध्य है, क्योंकि आध्यात्मिक विकास के लिए जिस अनासक्त चेतना की आवश्यकता है, वह संन्यस्त जीवन में सहज प्राप्त हो जाती है उसमें चित्त विचलन के अवसर अति न्यून होते हैं, जबकि गृहस्थ जीवन में चित्त विचलन के अवसर अत्यधिक हैं। गिरि - कन्दरा में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन उतना कठिन नहीं है, जितना कि नारियों (सुन्दरियों) के मध्य रहकर उसका पालन करना। प्रेमिका वेश्या के घर में चातुर्मास के लिए स्थित होकर ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले स्थूलि भद्र को उन सैकड़ों - हजारों मुनियों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया, जो गिरि - कन्दराओं में रहकर मुनिधर्म की साधना कर रहे थे। क्या विजय सेठ और सेठानी की ब्रह्मचर्य की कठोर साधना की तुलना किसी गृहस्थ जीवन का परित्याग करने वाले मुनि की ब्रह्मचर्य साधना से की जा सकती हैं? राग - द्वेष, आसक्ति और ममत्व के प्रसंगों की उपस्थिति गृहस्थ जीवन में अधिक होती है - उन प्रसंगों में भी जो अपने को निराकुल और नियंत्रित रख सकता है, वह महान है।

संन्यास मार्ग में तो इन प्रसंगों की उपस्थिति के अवसर ही अत्यल्प होते हैं। अतः संन्यास मार्ग निरापद और सरल है। गृहस्थ धर्म से आध्यात्मिक विकास की ओर जाने वाला मार्ग फिसलन भरा है, जिसमें कदम - कदम पर सजगता की आवश्यकता है। यदि साधक एक क्षण के लिए भी वासना के आवेगों में नहीं संभला तो उसका पतन हो जाता है। वासनाओं के बवण्डर के मध्य रहते हुए भी उनसे अप्रभावित रहना सरल नहीं है। अतः कह सकते हैं कि गृहस्थ जीवन की साधना मुनि जीवन की साधना की अपेक्षा अधिक दुःसाध्य है और जो ऐसे साधन - पथ पर चलकर आध्यात्मिक उच्चता को प्राप्त करता है, वह मुनियों की अपेक्षा कई गुना श्रेष्ठ है।

वस्तुतः गृहस्थ धर्म का पालन इसलिए अधिक दुःसाध्य है कि उसमें काजल की कठोरी में रहकर भी अपनी चरित्र रूपी चादर को बेदाग रखना होता है। काजल की कोठरी से बाहर रहकर तो कोई भी चरित्र रूपी चादर को बेदाग रख सकता है, किन्तु कोठरी में रहते हुए उसे बेदाग रख पाना अधिक सजगता और आत्मनियन्त्रण की अपेक्षा रखता है। फिसलन भरे रास्ते में चलकर जो साधना की ऊँचाइयों तक पहुँचता

है, उसकी महत्ता तो कुछ और ही है। संसार और वासना रूपी कर्दम में रहकर भी कमलपत्र के समान अलिप्त रहना निश्चय ही एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

यद्यपि मेरे यह सब कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मैं मुनि जीवन की महत्ता और गरिमा को नकार रहा हूँ, इस विषय वासनारूपी काजल की कोठरी से निकल कर उन पर नियन्त्रण कर लेना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। मुनि जीवन की अपनी साधनागत गरिमा और महत्ता हैं, उसे मैं अस्वीकार नहीं करता। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि जो गृहस्थ जीवन में रहकर भी साधना की उन्हीं आध्यात्मिक ऊँचाइयों को छू लेता है, जिसे एक मुनि छूता है तो वह गृहस्थ मुनि से श्रेष्ठ है। उत्तराध्ययन में गृहस्थ को मुनि की अपेक्षा जो श्रेष्ठ कहा गया है, वह इसी अपेक्षा से कहा गया है।

अपनी अस्मिता को पहचानें

गृहस्थ धर्म की इस महत्ता के प्रतिपादन का एकमात्र उद्देश्य यही है कि हम अपने पद की महिमा को समझें। वर्तमान संदर्भों में इस महत्ता और गरिमा का प्रतिपादन इसलिए आवश्यक है कि आज का श्रावक वर्ग न केवल अपने कर्तव्यों और दायित्वों को भूल बैठा है, अपितु वह अपनी अस्मिता को भी खो बैठा है। आज ऐसा समझा जाने लगा है कि धर्म और संस्कृति का संरक्षण तथा आध्यात्मिकता साधना सभी कुछ साधुओं का काम है। गृहस्थ तो मात्र उपासक है, उसके कर्तव्य की इतिश्री साधु - साध्वियों को दान देने तक ही है। आज हमें इस बात का अहसास करना होगा कि जैन धर्म की संघ - व्यवस्था में हमारा क्या और कितना गरिमायम स्थान है? खाट के चार पायों में अगर एक चरमराता और टूटता है तो दूसरों का अस्तित्व निरापद नहीं रह सकता। यदि श्रावक वर्ग अपने कर्तव्यों दायित्वों एवं अपनी गरिमा को विस्मृत करता है तो संघ के शेष घटकों का अस्तित्व भी निरापद नहीं रह सकता।

आज वास्तविक स्थिति यह है कि हमारा श्रमण और श्रमणी वर्ग भी शिथिलाचार में आकण्ठ डूबाता जा रहा है। यदि कोई उसके अन्दर झाँककर देखता है तो उसके अन्दर रही हुयी सड़ांध से अपना मुँह नफरत से फेर लेता है। आज जिन्हें हम आदर्श और वन्दनीय मान रहे हैं, उनके जीवन में छल, छद्म, दुराग्रह, अहं के पोषण की प्रवृत्तियाँ और वासनायम जीवन के प्रति ललक को देखकर मन पीड़ा से भर उठता है, किन्तु उनके इस पतन का उत्तरदायी दूसरा कोई नहीं, श्रावक वर्ग ही है। या तो हमने उन्हें इस पतन के मार्ग की ओर ढकेला है या फिर कम से कम उनके सहभागी बने हैं।

साधु - साध्वियों में शिथिलाचार हमारे प्रश्रय से बढ़ता है, यह सत्य है कि आज श्रावक, उनमें भी विशेष रूप से सम्पन्न श्रावक वर्ग धर्म के नाम पर होने वाले बाह्याडम्बरों में अधिक रूचि ले लेता है - उनकी और उनके तथाकथित गुरुओं दोनों की रूचि धर्म के नाम पर अपने-अपने अहं का पोषण करने की है। वही साधु और वही श्रावक अधिक प्रतिष्ठित होता है, जो जितनी भीड़ इकट्ठी करता है। जो मजमा जमाने में जितना अधिक कुशल है, वह उतना ही अधिक प्रतिष्ठित है। इस सब में साधना - प्रिय साधु और श्रावक तो कहीं ओझल हो गये हैं। मैं यह सब जो कुछ कह रहा हूँ उसका कारण मुनिवर्ग के प्रति मेरी दुर्भावना नहीं है, अपितु उस यथार्थता को देखकर जो एक पीड़ा और व्यथा है, उसी का प्रकटन है। बाल्याकाल से लेकर जीवन की इस प्रौढावस्था तक मैंने संघ को अति निकट से देखा और परखा है एवं उस निकटता में मैंने जो कुछ अनुभव किया है, उसी यथार्थता की बात कह रहा हूँ। हो सकता है कि इसके कुछ अपवाद हों, लेकिन सामान्य स्थिति यही है। जीवन का दोहरापन आज मुनिवर्ग का यथार्थ बनता जा रहा है, लेकिन इन सबके लिए मैं अपने को और अपने साथ ही गृहस्थ वर्ग को अधिक उत्तदायी मानता हूँ।

आज का गृहस्थ वर्ग न केवल अपने संरक्षक होने के दायित्व को भूला है, अपितु वह स्वयं अपनी अस्मिता को खोकर चारित्रिक पतन की ओर तेजी से गिरता जा रहा है। जब हम ही नहीं संभलेगे तो दूसरों को संभालने की बात क्या करेंगे। आज का गृहस्थ वर्ग जिस पर जैन धर्म और संस्कृति के संरक्षण का दायित्व है, उसका ज्ञान और आचरण दोनों ही दिशाओं में तेजी से पतन हुआ है। आज हमारी स्थिति यह है कि हमें न तो श्रमण जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का बोध है और न हम गृहस्थ जीवन के आवश्यक कर्तव्यों और दायित्वों के सन्दर्भ में ही कोई जानकारी रखते हैं। आगम ज्ञान तो बहुत दूर की बात है, हमें श्रावक-जीवन के सामान्य नियमों का भी बोध नहीं है। दूसरी ओर जिन सप्त व्यसनों से बचना श्रावक-जीवन की सर्वप्रथम भूमिका और आध्यात्मिक साधना का प्रथम चरण है और जिनके आधार पर वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक सुख-शान्ति निर्भर हैं, वे दुर्व्यसन तेजी से समाज में प्रविष्ट होते जा रहे हैं वे जितनी तेजी से और व्याप्त होते जा रहे हैं उतनी तेजी से वे हमारे धर्म और संस्कृति के अस्तित्व के लिए एक बहुत बड़ा खतरा बनते जा रहे हैं। जैन परिवारों में प्रविष्ट होता हुआ मद्यपान और सामिष आहार क्या हमारी सांस्कृतिक गरिमा के मूल पर ही प्रहार नहीं है? किसी भी धर्म और संस्कृति का टिकाव और विकास उसके ज्ञान और चरित्र

के दो पक्षों पर निर्भर करता है, किन्तु आज का गृहस्थ वर्ग इन दोनों ही क्षेत्रों में तेजी से पतन की ओर बढ़ रहा है। आज स्थिति यह है कि धर्म केवल दिखावे में रह गया है। वह जीवन से समाप्त होता जा रहा है। किन्तु हमें यह याद रखना होगा कि धर्म यदि जीवन में नहीं बचेगा तो उसका बाह्य कलेवर बहुत दिनों तक नहीं रह पायेगा। जिस प्रकार शरीर से चेतना के निकल जाने के बाद शरीर सड़ांध मारने लगता है, वही स्थिति आज धर्म की हो रही है। कुछ व्यक्तिगत उदाहरणों को छोड़कर यदि सामान्य रूप से कहूँ तो आज चाहे वह मुनि वर्ग हो या गृहस्थ वर्ग, जीवन से धर्म की आत्मा निकल चुकी है। हमारे पास केवल धर्म का कलेवर शेष बचा है और हम उसे ढो रहे हैं। यह सत्य है कि विगत कुछ वर्षों में धर्म के नाम पर शोर - शराबा बढ़ा है, भीड़ अधिक इकट्ठी होने लगी है, मजमें जमने लगे हैं किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि यह सब धर्म के कलेवर की अन्त्येष्टि की तैयारी से अधिक कुछ नहीं है।

सम्भवतः अब हमें सावधान हो जाना चाहिए, अन्यथा हम अपने अस्तित्व को खो चुके होंगे। जैसा कि मैंने पूर्व में कहा इस सबके लिए अन्तिम रूप से कोई भी उत्तरदायी ठहराया जायेगा तो वह गृहस्थ वर्ग ही होगा। जैनधर्म में गृहस्थ वर्ग की भूमिका दोहरी है। वह साधक भी हैं और साधकों का प्रहरी भी। आज जब हम श्रावक धर्म की प्रासंगिकता की चर्चा करना चाहते हैं तो हमें पहले उस यथार्थ की भूमिका को देख लेना होगा, जहाँ आज का श्रावक वर्ग जी रहा है। श्रावक जीवन के जो आदर्श और नियम हमारे आचार्यों ने प्रस्तुत किये हैं, उनकी प्रासंगिकता तो आज भी उतनी ही है, जितनी उस समय थी, जबकि उनका निर्माण किया गया होगा। क्या सप्त दुर्व्यसनों के त्याग, मार्गानुसारी गुणों के पालन एवं श्रावक के अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों की उपयोगिता और प्रासंगिकता को कभी भी नकारा जा सकता है? वे तो मानव जीवन के शाश्वत मूल्य हैं, उनके अप्रासंगिक होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

सम्यक् - दर्शन : गृहस्थ धर्म का प्रवेशद्वार

श्रावक धर्म की भूमिका को प्राप्त करने के पूर्व सम्यक् दर्शन की प्राप्ति आवश्यक मानी गई है। जैन परम्परा में सम्यक् दर्शन के अर्थ में एक विकास देखा जाता है। सम्यक् दर्शन का प्राथमिक अर्थ आग्रह और व्यामोह से रहित, यथार्थ दृष्टिकोण रहा है वह यथार्थ वीतराग जीवन दृष्टि था। कालान्तर में वह जिनप्रणीत तत्त्वों के प्रति निश्चल श्रद्धा के रूप में प्रचलित हुआ। वर्तमान सन्दर्भों में सम्यक् दर्शन का अर्थ देव, गुरु

और धर्म के प्रति श्रद्धा है। सामान्यतया वीतराग को देव, निर्ग्रन्थ मुनि को गुरु और अहिंसा को धर्म मानने को सम्यक् दर्शन कहा गया है। यह सत्य है कि साधना के क्षेत्र में बिना अटल श्रद्धा या निश्चल आस्था के आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। 'संशयात्मा विनश्यति' की उक्ति सत्य है। जब तक साधक के मन में श्रद्धा का विकास नहीं होता, तब तक वह साधना के क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकता, न केवल धर्म के क्षेत्र में श्रद्धा की आवश्यकता है अपितु हमारे व्यावहारिक जीवन में भी वह आवश्यक है। वैज्ञानिक गवेषणा का प्रारम्भ बिना किसी परिकल्पना (Hypothesis) की स्वीकृति के नहीं होता है। गणित के अनेक सवालों को हल करने के लिए प्रारम्भ में हमें मानकर ही चलना होता है। कोई भी व्यवसायी बिना इस बात पर आस्था रखे कि ग्राहक आयेंगे और माल बिकेगा, अपने व्यवसाय का प्रारम्भ नहीं कर सकता। कोई भी पथिक अपने गन्तव्य को जाने वाले मार्ग के प्रति आस्थावान् हुए बिना उस दिशा में कोई गति नहीं करता। लोकजीवन और साधना सभी क्षेत्रों में आस्था और विश्वास अपेक्षित है, किन्तु हमें आस्था (श्रद्धा) और अन्धश्रद्धा में भेद करना होगा। जैन आचार्यों ने गृहस्थोपासक के लिए जिस सम्यक् श्रद्धा की आवश्यकता बताई है, वह विवेक समन्वित श्रद्धा है। आचार्य समन्तभद्र ने अपने श्रावकाचार में धर्म के नाम पर प्रचलित लौकिक मूढ़ताओं से बचने का स्पष्ट निर्देश किया है। किन्तु वर्तमान सन्दर्भों में हमारा सम्यक् दर्शन स्वयं इन मूढ़ताओं से आक्रान्त होता जा रहा है। आज सम्यक् दर्शन को, जो कि एक आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति से फलित उपलब्धि है, लेन - देन की वस्तु बना दिया गया है। आज हमारे तथाकथित गुरुओं के द्वारा सम्यक्त्व दिया और लिया जा रहा है। कहा जाता है "अमुक गुरु की सम्यक्त्व वोसरा दो (छोड़ दो) और हमारी सम्यक्त्व ग्रहण कर लो" यह तो सत्य है कि गुरुजन साधक को देव, गुरु और धर्म का यथार्थ स्वरूप बता सकते हैं, किन्तु सम्यक्त्व भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे किसी को दिया और लिया जा सकता है। मेरी तुच्छ बुद्धि में यह बात समझ में नहीं आती है कि सम्यक्त्व क्या कोई बाहरी वस्तु है, जिसे कोई दे या ले सकता है। सम्यक्त्व परिवर्तन के नाम पर आज जो साम्प्रदायिक घेराबन्दी की जा रही है, वह मिथ्यात्व के पोषण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। उसके आधार पर श्रावकों में दरार डाली जा रही है और लोगों के मन में यह बात बैठायी जा रही है कि हम ही केवल सच्चे गुरु हैं और हम जो कह रहे हैं, वह वीतराग की वाणी है। सम्यक्त्व के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ हम गुरुडमवाद के दलदल में फँसते चले जा रहे हैं।

आज वीतरागता के प्रति हमारी श्रद्धा कितनी जर्जरी हो चुकी है, इसका प्रमाण यही है कि आज सामान्य मुनिजनों, आचार्यों से लेकर गृहस्थ उपासक तक सभी लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए वीतराग की निष्काम भक्ति को भूलकर तीर्थंकर, देवी-देवताओं की सकाम भक्ति में लगे हुए हैं। आज वीतराग तीर्थंकर देव के स्थान पर पद्मावती, चक्रेश्वरी, भौमियाजी, घंटाकर्ण महावीर और नाकोड़ा भैरव अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। हमारे अधिकांश साधु - साध्वी ही नहीं, आचार्य तक यक्षों और देवियों की साधना में लगे हैं। वीतरागता के उपासक इस धर्म में आज तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना सभी कुछ प्रविष्ट होते जा रहे हैं। हमारे वीतरागता के साधक कहे जाने वाले मुनिजन भी अपनी चमत्कार-शक्ति का बड़े गौरव के साथ बखान करते हैं। जिस धर्म की उत्पत्ति लौकिक मूढ़ताओं और अन्ध-श्रद्धाओं को समाप्त करने के लिए हुई हो, वही आज अन्ध - विश्वासों में आकण्ठ डूबता जा रहा है। हमारी आस्थाएँ वीतरागता के साथ न जुड़कर लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए जुड़ रही हैं। आज महावीर के पालने की अपेक्षा लक्ष्मीजी का स्वप्न महंगा बिकाता है। यदि हमारी आस्थाएँ धर्म के नाम पर लौकिक एषणाओं की पूर्ति तक ही सीमित हैं, तो फिर हमारा वीतराग के उपासक होने का दावा करना व्यर्थ है। आज जब हम गृहस्थ धर्म की प्रासंगिकता की चर्चा करना चाहते हैं तो हमें इस यथार्थ स्थिति को समझ लेना होगा जीवन में या साधना के क्षेत्र में सम्यक् श्रद्धा की कितनी आवश्यकता है यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है, किन्तु श्रद्धा के नाम पर अन्धविश्वासों का जो एक दुश्चक्र हम पर हावी होता जा रहा है, उससे कैसे बचा जाय? यही आज का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। वस्तुतः इस सबका मूल कारण यह है कि आज श्रावक वर्ग को धर्म के यथार्थ स्वरूप का कोई बोध नहीं रह गया है। हमारी श्रद्धा समझपूर्वक स्थिर नहीं हो रही है श्रद्धा का तत्त्व व्यक्तिका आध्यात्मिक विकास कर सकता है लेकिन यह तभी सम्भव है, जब श्रद्धा ज्ञानसम्मत हो और हमारी विवेक की आँखें खुली हो। आज हम उस उक्ति को भूल गये हैं जिसमें कहा गया है 'पण्णा समिम्बए धम्मं' अर्थात् धर्म के स्वरूप की प्रज्ञा के द्वारा समीक्षा करो।

कषाय - जय : गृहस्थ धर्म की साधना की आधार - भूमि

श्रावक धर्म और उसकी प्रासंगिकता की चर्चा करते समय हमें श्रावक - आचार के मूलभूत नियमों की वर्तमान युग में क्या उपयोगिता है ? इस पर विचार कर लेना होगा। जैन धर्म के अनुसार श्रावकत्व की भूमिका को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति को क्रोध, मान, माया और लोभ-इन चार कषायों की अतितीव्र, अनियन्त्रित,

नियन्त्रित और अत्यल्प इन चार अवस्थाओं में से प्रथम दो अवस्थाओं पर विजय—प्राप्ति को अपरिहार्य माना गया है। साधक जब तक अपने क्रोध, मान, माया और लोभ पर नियन्त्रण रखने की क्षमता को विकसित नहीं कर लेता, तब तक वह श्रावकत्व की भूमिका को प्राप्त करने योग्य नहीं होता है। श्रावक धर्म के पालन के लिए उपर्युक्त चतुर्विध कषायों पर नियन्त्रण की क्षमता का विकास आवश्यक है। जब तक व्यक्ति अपने क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार कषायों पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण कर पाने में अक्षम होता है, तब तक वह श्रावक धर्म की साधना नहीं कर सकता। क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण कर लेने की क्षमता का विकास हो जाना ही श्रावक धर्म की उपलब्धि का प्रथम चरण है।

वर्तमान सन्दर्भों में इन चारों अशुभ आवेगों के नियन्त्रण की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जैनगमों के अनुसार क्रोध का तत्त्व पारस्परिक सौहार्द (प्रीति) को समाप्त करता है और सौहार्द के अभाव में एक दूसरे के प्रति सन्देह और आशंका होती है। यह स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन में पारस्परिक अविश्वास और आशंकाओं के कारण असुरक्षा का भाव पनपता है और फलतः हमें अपनी शक्ति का बहुत कुछ अपव्यय करना पड़ता है। आज अन्तर्राष्ट्रिय क्षेत्र में जो शस्त्र—संग्रह और सैन्य—बल बढ़ाने की प्रवृत्ति परिलक्षित हो रही है और जिस पर अधिकांश राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय का 50 प्रतिशत से अधिक व्यय हो रहा है, वह सब इस पारस्परिक अविश्वास का परिणाम है। आज धार्मिक और सामाजिक जीवन में जो असहिष्णुता है, उसके मूल में घृणा, विद्वेष एवं आक्रोश का तत्त्व ही है। यह ठीक है कि व्यक्ति जब तक परिवार, समाज एवं राष्ट्र से जुड़ा है, तब तक उसमें किसी सीमा तक क्रोध या आक्रोश होना आवश्यक है, अन्यथा उसका अस्तित्व ही खतरों में होगा, किन्तु उसे नियन्त्रण में होना चाहिये और अपरिहार्य स्थिति में ही उसका प्रकटन होना चाहिए।

हमारे पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों में दरार का दूसरा महत्वपूर्ण कारण व्यक्ति का अहंकार या घमंड है। एक गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी अस्मिता एवं स्वाभिमान का बोध रखे, किन्तु उसे अपने अहंकार पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। समाज में जो विघटन या टूटना पैदा होती है, उसका मुख्य कारण समाज के कर्णधारों, फिर चाहे वे गृहस्थ हो या मुनि, का अहंकार ही है। अहंकार पारस्परिक विनय एवं सम्मान में भी बाधक होता है। इससे दूसरों के अहं पर चोट पहुँचती है और उसके परिणाम स्वरूप सामाजिक सम्बन्धों में दरार पड़ने लगती है। अहंकार पर चोट

लगते ही व्यक्ति अपना अलग अखाड़ा जमा लेता है, जिसके परिणाम स्वरूप धर्मिक एवं साम्प्रदायिक संघर्ष होते हैं। सभी साम्प्रदायिक अभिनिवेशों के पीछे कुछ व्यक्तियों के अपने अहं के पोषण की भावना के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है।

कपटवृत्ति या दोहरा जीवन वर्तमान सामाजिक जीवन का एक सबसे बड़ा अभिशाप है। झूठे अहं के पोषण के निमित्त अथवा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को साधने के लिए जो छल - छद्म सामाजिक जीवन में बढ़ रहे हैं, उसका मूलभूत कारण कपट - वृत्ति (माया) ही है।

इस प्रकार अनियन्त्रित लोभ संग्रहवृत्ति का विकास करता है और उसके कारण शोषण पनपता है और परिणाम स्वरूप समाज में गरीब और अमीर की खाई बढ़ती जाती है। पूँजीपति और श्रमिकों के मध्य होने वाला वर्ग-संघर्ष इसी लोभवृत्ति या संग्रहवृत्ति का परिणाम है। आज जैन समाज में अपरिग्रह की अवधारणा का कोई अर्थ ही नहीं रह गया है। उसे केवल मुनियों के सन्दर्भ में ही समझा जाने लगा है। जैन धर्म में गृहस्थोपासक के लिए धनार्जन का निषेध नहीं किया गया, पर यह अवश्य कहा गया है कि व्यक्ति को एक सीमा से अधिक संचय नहीं करना चाहिए। उसकी संचयवृत्ति या लोभ पर नियन्त्रण होना चाहिए। आज समाज में जो आर्थिक वैषम्य बढ़ता जा रहा है। उसके पीछे अनियन्त्रित लोभ या संग्रहवृत्ति ही मुख्य है। यदि धनार्जन के साथ ही व्यक्ति की अपने भोग की वृत्ति पर अंकुश होता है और संग्रह-वृत्ति का परिसीमन होता है, तो वह अर्जित धन का प्रवाह लोक मंगल के कार्यों में होता है, जिससे सामाजिक सौहार्द और सहयोग बढ़ता है तथा धनवानों के प्रति अभावग्रस्तों के मन में सद्भाव उत्पन्न होता है। जैन धर्म के इतिहास में ऐसे अनेक श्रावकरत्नों के उदाहरण हैं, जिन्होंने अपनी समग्र सम्पत्ति को समाजहित में समर्पित कर दिया, आज उसी आदर्श के पुनर्जागरण की आवश्यकता है।

संक्षेप में सामाजिक जीवन में जो भी विषमता और संघर्ष वर्तमान में हैं, उन सबके पीछे कहीं न कहीं अनियन्त्रित आवेश, अहंकार छल - छद्म (कपट-वृत्ति) तथा संग्रहवृत्ति हैं। इन्हीं अनियन्त्रित कषायों के कारण सामाजिक जीवन में विषमता और अशान्ति उत्पन्न होती है। आवेश या अनियन्त्रित क्रोध के कारण पारस्परिक संघर्ष, आक्रमण युद्ध एवं हत्याएं होती हैं। आवेशपूर्ण व्यवहार दूसरों के मन में अविश्वास उत्पन्न करता है और फलतः सामान्य जीवन में जो सौहार्द होना चाहिए, वह भंग हो जाता है। गर्व या अहंकार की मनोवृत्ति के कारण ऊँच - नीच का भेदभाव, घृणा और

विद्वेष पनपते हैं। सामाजिक जीवन में जो दरें उत्पन्न होती हैं, उनका आधार अहंकार ही होता है। माया या कपट की मनोवृत्ति भी जीवन को छल - छद्म से युक्त बनाती है। इससे जीवन में दोहरापन आता है तथा अन्तर - बाह्य की एकरूपता समाप्त हो जाती है। फलतः मानसिक एवं सामाजिक शांति भंग होती है। संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण और व्यावसायिक जीवन में अप्रमाणिकता फलित होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि श्रावक जीवन के कषाय चतुष्टय पर जो नियन्त्रण लगाने की बात कही गई है, वह सौहार्द एवं सामञ्जस्यपूर्ण जीवन एवं मानसिक तथा सामाजिक शान्ति के लिये आवश्यक है। उसकी प्रासंगिकता कभी भी नकारी नहीं जा सकती है।

सप्त दुर्व्यसन - त्याग और उसकी प्रासंगिकता

सप्त दुर्व्यसनों का त्याग गृहस्थ-धर्म की साधना का प्रथम चरण है। उनके त्याग को गृहस्थ-आचार के प्राथमिक नियम या मूल गुणों के रूप में स्वीकार किया गया है। वसुनन्दि-श्रावकचार में सप्त दुर्व्यसनों के त्याग का विधान किया है। आज भी दुर्व्यसन - त्याग, गृहस्थ-धर्म का प्राथमिक एवं अनिवार्य चरण माना जाता है। सप्त दुर्व्यसन निम्न हैं -

1. द्यूत-क्रीड़ा (जुआ)
2. मांसाहार
3. मद्यपान
4. वेश्यागमन
5. परस्त्रीगमन
6. शिकार और
7. चौर्य-कर्म

उपर्युक्त सप्त दुर्व्यसनों के सेवन से व्यक्ति का कितना चारित्रिक पतन होता है, इसे हर कोई जानता है।

1. द्यूत-क्रीड़ा :- वर्तमान युग में सट्टा, लाटरी आदि द्यूत-क्रीड़ा के विविध रूप प्रचलित हो गये हैं। इनके कारण अनेक परिवारों का जीवन संकट में पड़ जाता है अतः इस दुर्व्यसन के त्याग को कौन अप्रासंगिक कह सकता है। द्यूत-क्रीड़ा के त्याग की प्रासंगिकता के सम्बन्ध में कोई भी विवेकशील मनुष्य दो मत नहीं हो सकता। वस्तुतः वर्तमान युग में द्यूत-क्रीड़ा के जो विविध रूप हमारे सामने उभर कर आये हैं, उनका आधार केवल मनोरंजन नहीं है, अपितु उनके पीछे बिना किसी श्रम के आर्थोपार्जन की दुष्टवृत्ति है। सट्टे के व्यवसाय का प्रवेश जैन परिवारों में सर्वाधिक हुआ है। व्यक्ति इस प्रकार के धन्दे में अपने को नियोजित कर लेता है, तो श्रमपूर्वक अर्थोपार्जन के प्रति

उसकी निष्ठा समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में चोरी, ठगी आदि दूसरी बुराइयाँ पनपती है। आज इसके प्रकट-अप्रकट विविध रूप हमारे समक्ष आ रहे हैं। उनसे सतर्क रहना आवश्यक है, अन्यथा हमारी भावी पीढ़ी में श्रमपूर्वक अर्थोपार्जन की निष्ठा समाप्त हो जावेगी। यद्यपि इस दुर्गुण का प्रारम्भ एक मनोरंजन के साधन के रूप में होता है, किन्तु आगे चलकर यह भयंकर परिणाम उपस्थित करता है। जैन समाज के सम्पन्न परिवारों में और विवाह आदि के प्रसंगों पर इसका जो प्रचलन बढ़ता जा रहा है, उसके प्रति हमें एक सजग दृष्टि रखनी होगी, अन्यथा इसके दुष्परिणामों को भुगतना होगा। आज का युवावर्ग जो इन प्रवृत्तियों में अधिक रस लेता है, इसके दुष्परिणामों को जानते हुए भी अपनी भावी पीढ़ी को इससे रोक पाने में असफल रहेगा।

2. मांसाहार :- विश्व में यदि शाकाहार का पूर्ण समर्थक कोई धर्म है, तो वह मात्र जैन धर्म है। जैनधर्म में गृहस्थोपासक के लिए मांसाहार सर्वथा त्याज्य माना गया है। किन्तु आज समाज में मांसाहार के प्रति एक ललक बढ़ती जा रही है और जैन परिवारों में उसका प्रवेश हो गया है। अतः इसकी प्रासंगिकता पर चर्चा करना अति आवश्यक है।

मांसाहार के निषेध के पीछे मात्र हिंसा और अहिंसा का प्रश्न ही नहीं, अपितु अन्य दूसरे भी कारण हैं। यह सत्य है कि मांस का उत्पादन बिना हिंसा के सम्भव नहीं है और हिंसा क्रूरता के बिना सम्भव नहीं है। यह सही है कि मानवीय आहार के अन्य साधनों में भी किसी सीमा तक हिंसा जुड़ी हुई है, किन्तु मांसाहार के निमित्त जो हिंसा या वध किया जाता है, उसके लिए वध-कर्ता का अधिक क्रूर होना अनिवार्य है। क्रूरता के कारण दया, करुणा एवं आत्मीयता जैसे कोमल गुणों का हास होता है और समाज में भय, आतंक एवं हिंसा का ताण्डव प्रारम्भ हो जाता है। यह अनुभूत सत्य है कि वे सभी देश एवं कौमें, जो मांसाहारी हैं और हिंसा जिनके धर्म का अंग मान ली गई है, उनमें होने वाले हिंसक ताण्डव को देखकर आज भी दिल दहल उठता है। मुस्लिम राष्ट्रों में आज मनुष्य के जीवन का मूल्य गाजर और मूली से अधिक नहीं रह गया है। केवल व्यक्तिगत हितों के लिए ही धर्म और राजनीति के नाम पर वहाँ जो कुछ हो रहा है, वह हम सभी जानते हैं। यदि हम यह मानते हैं कि मानव-जीवन से क्रूरता समाप्त हो और कोमल गुणों का विकास हो, तो हमें उन कारणों को भी दूर करना होगा, जिनसे जीवन में क्रूरता आती है। मांसाहार और क्रूरता पर्यायवाची हैं - यदि दया, करुणा, वात्सल्य का विकास करना है, तो मांसाहार का त्याग अपेक्षित है।

दूसरे, मांसाहार की निरर्थकता को मानव-शरीर की संरचना के आधार पर

ही सिद्ध किया जा सकता है। मानव-शरीर की संरचना उसे निरामिष प्राणी ही सिद्ध करती है। मांसाहार मानव के लिए कितना हानिकारक है, यह बात अनेक वैज्ञानिक अनुसंधानों से प्रमाणित हो चुकी है। इस लघु निबन्ध में उस सबकी चर्चा कर पाना तो सम्भव नहीं है, किन्तु यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि मांसाहार शारीरिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है और मनुष्य स्वभावतः एक शाकाहारी प्राणी है।

मांसाहार के समर्थन में सबसे बड़ा तर्क यह दिया जाता है कि बढ़ती हुई मानव-जाति की आबादी को देखते हुए भविष्य में मांसाहार के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रहेगा, जिससे मानव जाति की क्षुधा को शान्त किया जा सके। किन्तु उसके विपरित कृषि के क्षेत्र में भी ऐसे अनेक वैज्ञानिक प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं जो स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करते हैं कि मनुष्य को अभी शताब्दियों तक निरामिष भोजी बनाकर जिलाया जा सकता है। अनेक आर्थिक सर्वेक्षणों में यह भी प्रमाणित हो चुका है कि शाकाहार मांसाहार की अपेक्षा अधिक सुलभ और सस्ता है। अतः मनुष्य की स्वाद-लोलुप्ता के अतिरिक्त और कोई तर्क ऐसा नहीं है, जो मांसाहार का समर्थक हो सके। शक्तिदायक आहार के रूप में मांसाहार का समर्थन एक खोखला दावा है। यह सिद्ध हो चुका है कि मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी अधिक शक्ति सम्पन्न होते हैं, और उनमें अधिक काम करने की क्षमता होती है। शेर आदि मांसाहारी प्राणी शाकाहारी प्राणियों पर जो विजय प्राप्त कर लेते हैं, उसका कारण उनकी शक्ति नहीं बल्कि उनके नख, दांत आदि क्रूर शारीरिक अंग ही हैं।

जैन समाज के लिए आज यह विचारणीय प्रश्न है कि वह समाज में बढ़ती जा रही सामिष भोजन के लिए जो ललक हैं, उसे कैसे रोके ? आज आवश्यकता इस बात की है कि हमें मांसाहार और शाकाहार के गुण-दोषों की समीक्षा करते हुए तुलनात्मक विवरण से युक्त ऐसा साहित्य प्रकाशित करना होगा, जो आज के युवक को तर्क-संगत रूप से यह अहसास करवा सके कि मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार एक उपयुक्त भोजन है। दूसरे समाज में जो मांसाहार के प्रति ललक बढ़ती जा रही है, उसका कारण समाज नियंत्रण का अभाव तथा मांसाहारी समाज से बढ़ता हुआ धनिष्ठ परिचय है, जिस पर किसी सीमा तक अंकुश लगाना आवश्यक है।

3. मद्यपान :- तीसरा दुर्व्यसन मद्यपान माना गया है और गृहस्थोपासक को इसके त्याग का स्पष्ट निर्देश दिया गया है। बुद्ध ने तो इस दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिए अपने पंचशीलों में अपरिग्रह के स्थान पर मद्यपान-निषेध को स्थान दिया था। यह एक ऐसी

बुराई है, जो मानव समाज के गरीब और अमीर दोनों ही वर्गों में हावी है। जैन परम्परा में मद्यपान का निषेध न केवल इसलिए किया गया है कि वह हिंसा से उत्पादित है, अपितु इसलिए कि इससे मानवीय विवेक कुण्ठित होता है और जब मानवीय विवेक ही कुण्ठित हो जाएगा तो दूसरी सारी बुराइयाँ व्यक्ति के जीवन में स्वाभाविक रूप से प्रविष्ट हो जावेंगी। आर्थिक और चारित्रिक सभी दुराचरणों के मूल में नशीले पदार्थों का सेवन है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि मादक द्रव्यों के सेवन से मनुष्य अपनी मानसिक चिन्ताओं को भूल कर अपने तनावों को कम करता है, किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है। तनाव के कारण जीवित रखकर केवल क्षण भर के लिए अपने विवेक को खोकर विस्मृति के क्षणों में जाना, तनावों के निराकरण एवं परिमार्जन का सार्थक उपाय नहीं है। मद्यपान को भी सभी दुर्गुणों का द्वार कहा गया है। वस्तुतः उसकी समस्त बुराइयों पर विचार करने के लिए एक स्वतंत्र निबन्ध आवश्यक होगा। यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि सारी बुराइयाँ विवेक के कुण्ठित होने पर पनपती हैं और मद्यपान विवेक को कुण्ठित करता है। अतः मनुष्य के मानवीय गुणों को जीवित रखने के लिए इसका त्याग आवश्यक है।

मनुष्य और पशु के बीच यदि कोई विभाजक रेखा है तो वह विवेक ही है और जब विवेक ही समाप्त हो जायेगा तो मनुष्य और पशु में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा। मादक द्रव्यों का सेवन मनुष्य को मानवीय स्तर से गिराकर उसे पाशविक स्तर पर पहुँचा देता है।

यह भी सुविदित तथ्य है कि जब यह दुर्व्यसन गले लग जाता है तो अपनी अति पर पहुँचाए बिना समाप्त नहीं होता। वह न केवल विवेक को ही समाप्त करता है अपितु आर्थिक और शारीरिक दृष्टि से व्यक्तिको जर्जर बना देता है। आज जैन समाज के सम्पन्न परिवारों में यह दुर्व्यसन भी प्रवेश कर चुका है। मैं ऐसे अनेक परिवारों को जानता हूँ जो धर्म के क्षेत्र में अग्रणी श्रावक माने जाते हैं किन्तु इस दुर्व्यसन से मुक्त नहीं हैं। आज हमें इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना होगा कि समाज को इससे किस प्रकार बचाया जाए। जैन समाज ने जो चारित्रिक गरिमा, आर्थिक सम्पन्नता तथा समाज में प्रतिष्ठा अर्जित की थी उसका मूलभूत आधार इन दुर्व्यसनों से मुक्त रहना ही था। इन दुर्व्यसनों के प्रवेश के साथ हमारी चारित्रिक उच्चता और सामाजिक प्रतिष्ठा धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही हैं और अब एक दिन ऐसा भी आएगा जब हम अपनी आर्थिक सम्पन्नता से हाथ धो बैठेंगे। यदि हम सजग नहीं हुए तो भविष्य हमें क्षमा नहीं

करेगा ।

4. वेश्यागमन :- श्रावक के सप्त दुर्व्यसन त्याग के अन्तर्गत वेश्यागमन के त्याग का भी विधान किया गया है। यह सुनिश्चित सत्य है कि वेश्यागमन न केवल समाजिक दृष्टि से अपितु आर्थिक एवं शारीरिक-स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अवांछनीय माना गया है। उसके अनौचित्य पर यहाँ कोई विशेष चर्चा करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। सामाजिक सदाचार और पारिवारिक सुख-शान्ति के लिए वेश्यागमन की प्रवृत्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है। यद्यपि इस प्रवृत्ति के जो दूसरे रूप सामने आ रहे हैं, वे उसकी अपेक्षा अधिक चिन्तनीय हैं, यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि चाहे खुले रूप में वेश्यावृत्ति पर अंकुश लगा हो, किन्तु छद्म-रूप में यह प्रवृत्ति बढ़ी ही है। जैन समाज के सम्पन्न वर्ग में इन छद्म रूपों के प्रति ललक बढ़ती जा रही है, जिस पर अंकुश लगाना आवश्यक है।

5. परस्त्रीगमन :- परस्त्रीगमन परिवार एवं समाज व्यवस्था का घातक है। इसके परिणाम स्वरूप न केवल एक ही परिवार का पारिवारिक जीवन दूषित एवं अशांत बनता है, अपितु अनेक परिवारों के जीवन अशान्त बन जाते हैं। वेश्यावृत्ति की अपेक्षा यह अधिक दोष-पूर्ण है। क्योंकि इसमें छल-छद्म और जीवन का दोहरापन भी जुड़ जाता है। अतः सामाजिक दृष्टि से यह बहुत बड़ा अपराध है। आज कामवासना की तृप्ति का यह छद्म रूप अधिक फैलता जा रहा है। पाश्चात्य देशों की वासनात्मक उच्छृंखला का प्रभाव हमारे देश में भी हुआ है। क्लबों और होटलों के माध्यम से यह विकृति अधिक तेजी से व्याप्त होती जा रही है। जैन समाज का भी कुछ सम्पन्न एवं धनी वर्ग इसकी गिरफ्त में आने लगा है। यद्यपि अभी समाज का बहुत बड़ा भाग इस दुर्गुण से मुक्त है किन्तु धीरे-धीरे फैल रही इस विकृति के प्रति सजग होना आवश्यक है।

6. शिकार :- मनोरंजन के निमित्त अथवा मांसाहार के लिए जंगल के प्राणियों का वध करना शिकार कहा जाता है। यह व्यक्ति को क्रूर बनाता है। यदि मनुष्य को मानवीय कोमल गुणों से युक्त बनाये रखना है तो इस वृत्ति का त्याग अपेक्षित है। आज शासन द्वारा भी वन्य प्राणियों के संरक्षण के लिए शिकार की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जा रहा है अतः इस प्रवृत्ति के त्याग का औचित्य निर्विवाद है। आज हम इस बात को गौरव से कह सकते हैं कि जैन समाज इस दुर्गुण से मुक्त है, किन्तु आज सौन्दर्य-प्रसाधनों - जिनका उपभोग समाज में धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है, इस निमित्त अव्यक्त रूप से हो रही हिंसा के प्रति सजग रहना आवश्यक है। क्योंकि उनका उत्पादन उपभोक्ताओं के

निमित्त ही होता है और यदि हम उसका उपभोग करते हैं तो उस हिंसा एवं क्रूरता से अपने को बचा नहीं सकते हैं। सौन्दर्य प्रसाधनों के निर्माण एवं परीक्षण के निमित्त हिंसा के जो क्रूरतम रूप अपनाए जाते हैं वे जैन पत्र-पत्रिकाओं में बहुचर्चित रहे हैं अतः उन सब पर यहाँ विचार करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। किन्तु इस सन्दर्भ में हमें सजग अवश्य रहना चाहिए कि हम इस क्रूरता के भागी न बनें।

6. चोरी :- दूसरों की सम्पत्ति या दूसरों के अधिकार की वस्तुओं को उनकी बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी है। अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह और संचय को भी चोरी कहा जा सकता है। जैनाचार्यों ने व्यावसायिक अप्रमाणिकता, कर-अपवंचन तथा राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध कार्य करना आदि को भी चोरी के अन्तर्गत माना है। यद्यपि सामान्यतया जैन परिवार इस दुर्व्यसन से मुक्त कहे जा सकते हैं किन्तु जैनाचार्यों ने इसकी जो सूक्ष्म व्याख्या की है, उस आधार पर आज का गृहस्थ वर्ग इस दुर्व्यसन से कितना मुक्त है, यह कहना कठिन है। व्यावसायिक अप्रमाणिकता के इस युग में इसकी प्रासंगिकता को नकारा तो नहीं जा सकता किन्तु वर्तमान युग में कौन इससे कितना बच सकेगा इस पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है।

गृहस्थ जीवन की व्यावहारिक नीति

गृहस्थ-जीवन में कैसे जीना चाहिए, इस सम्बन्ध में थोड़ा निर्देश आवश्यक है। गृहस्थ उपासक का व्यावहारिक जीवन कैसा हो इस सम्बन्ध में जैन आगमों में यत्र-तत्र बिखरे हुए कुछ निर्देश मिल जाते हैं। लेकिन बाद में जैन विचारकों ने कथा-साहित्य, उपदेश-साहित्य, एवं आचार सम्बन्धी साहित्य में इस सन्दर्भ में एक निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत की है। यह एक स्वतंत्र शोध विषय है। हम अपने विवेचन को आचार्य नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार, आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र तथा पंडित आशाधरजी के सागारधर्माभूत तक ही सीमित रखेंगे।

सभी विचारकों की यही मान्यता है कि जो व्यक्तिजीवन के सामान्य व्यवहारों में कुशल नहीं हैं, वह आध्यात्मिक जीवन की साधना में आगे नहीं बढ़ सकता। धर्मिक या आध्यात्मिक होने के लिए व्यावहारिक या सामाजिक होना पहली शर्त है। व्यवहार से ही परमार्थ साधा जा सकता है। धर्म की प्रतिष्ठा के पहले जीवन में व्यवहारपटुता एवं सामाजिक जीवन जीने की कला का आना आवश्यक है। जैनाचार्यों ने इस तथ्य को बहुत पहले ही समझ लिया था। अतः अणुव्रत-साधना के पूर्व ही इन योग्यताओं का सम्पादन आवश्यक है।

आचार्य हेमचन्द्र ने इन्हें “मार्गानुसारी” गुण कहा है। धर्म-मार्ग का अनुसरण करने के लिए इन गुणों का होना आवश्यक है। उन्होंने योगशास्त्र के द्वितीय एवं तृतीय प्रकाश में श्रावक-धर्म का विवेचन किया है - (1). न्याय एवं नीति पूर्वक धनोपार्जन करना। (2). समाज में जो ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध शिष्ट - जन हैं, उनका यथोचित सम्मान करना, उनसे शिक्षा ग्रहण करना और उनके आचार की प्रशंसा करना। (3). समान कुल और आचार-विचार वाले, स्वधर्मी किन्तु भिन्न गोत्रोत्पन्न जनों की कन्या के साथ विवाह करना। (4). चोरी, परस्त्रीगमन, असत्य भाषण आदि पाप कर्मों का ऐहिक-पारलौकिक कटुक विपाक जानकर, पापाचार का त्याग करना। (5). अपने देश के कल्याणकारी आचार-विचार एवं संस्कृति का पालन करना तथा संरक्षण करना। (6). दूसरों की निन्दा न करना। (7). ऐसे मकान में निवास करना जो न खुला और न अधिक गुप्त हो, जो सुरक्षा वाला भी हो और जिसमें अव्याहत वायु एवं प्रकाश आ सके। (8). सदाचारी जनों की संगति करना। (9). माता-पिता का सम्मान करना, उन्हें सब प्रकार से सन्तुष्ट रखना। (10). जहाँ वातावरण शान्तिप्रद न हो, जहाँ निराकुलता के साथ जीवन-यापन करना कठिन हो, ऐसे ग्राम या नगर में निवास न करना। (11). देश, जाति एवं कुल के विरुद्ध कार्य न करना, जैसे मदिरापान आदि नहीं करना। (12). देश और काल के अनुसार वस्त्राभूषण धारण करना। (13). आय से अधिक व्यय न करना और अयोग्य क्षेत्र में व्यय न करना, आय के अनुसार वस्त्र पहनना। (14). धर्म-श्रवण की इच्छा रखना, अवसर मिलने पर श्रवण करना, शास्त्रों का अध्ययन करना, विरुद्ध अर्थ से बचना, वस्तुस्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करना और तत्त्वज्ञ बनना आदि बुद्धि के आठ गुणों को प्राप्त करना। (15). धर्मश्रवण करके जीवन को उत्तरोत्तर उच्च और पवित्र बनाना। (16). अजीर्ण होने पर भोजन न करना, यह स्वास्थ्य-रक्षा का मूल मंत्र है। (17). समय पर प्रमाणोपेत भोजन करना, स्वाद के वशीभूत हो अधिक न खाना। (18). धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करना कि जिससे किसी में बाधा उत्पन्न न हो। धनोपार्जन के बिना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता और गृहस्थ काम पुरुषार्थ का भी सर्वथा त्यागी नहीं हो सकता, तथापि धर्म को बाधा पहुँचा कर अर्थ-काम का सेवन नहीं करना चाहिए। (19). अतिथि, साधु और दीन जनों को यथा योग्य दान देना। (20). आग्रहशील न होना। (21). सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य आदि गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना। (22). अयोग्य देश और अयोग्य काल में गमन न करना। (23). देश, काल,

वातावरण और स्वकीय सामर्थ्य का विचार करके ही कोई कार्य प्रारम्भ करना । (24). आचारवृद्ध और ज्ञानवृद्ध पुरुषों को अपने घर आमन्त्रित करना, आदरपूर्वक बिठलाना, सम्मानित करना और उनकी यथोचित सेवा करना । (25). माता-पिता, पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि आश्रितों का यथायोग्य भरण-पोषण करना, उनके विकास में सहायक बनना । (26). दीर्घदर्शी होना, किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व ही उसके गुणावगुण पर विचार कर लेना । (27). विवेक शील होना । जिसमें हित-अहित, कृत्य-अकृत्य का विवेक नहीं होता, उस पशु के समान पुरुष को अन्त में पशुचात्पाप करना पड़ता है । (28). कृतज्ञ होना । उपकारी के उपकार को विस्मरण कर देना उचित नहीं । (29). अहंकार से बचकर विनम्र होना । (30). लज्जाशील होना । (31). करुणाशील होना । (32). सौम्य होना । (33). यथाशक्ति परोपकार करना । (34). काम, क्रोध, मोह, मद, और मात्सर्य, इन आन्तरिक रिपुओं से बचने का प्रयत्न करना और (35). इन्द्रियों को उच्छृंखल न होने देना । इन्द्रियविजेता गृहस्थ ही धर्म की आराधना करने की पात्रता प्राप्त करता है ।

आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रवचनसारोद्धार में भिन्न रूप से श्रावक के 21 गुणों का उल्लेख किया है और यह माना है कि इन 21 गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति ही अणुव्रतों की साधना का पात्र होता है । आचार्य द्वारा निर्देशित श्रावक के 21 गुण निम्न हैं:- (1). अशुद्रपन (विशाल हृदयता), (2). स्वस्थता, (3). सौम्यता, (4). लोकप्रियता, (5). अक्रूरता, (6). पापभीरुता, (7). अशठता, (8). सुदक्षता (दानशील), (9). लज्जाशीलता, (10). दयालुता, (11). गुणानुराग, (12). प्रियसम्भाषण एवं सुपक्षयुक्त, (16). नम्रता, (17). विशेषज्ञता, (18). वृद्धानुगामी, (19). कृतज्ञ, (20). परहितकारी (परोपकारी) और (21). लब्धलक्ष्य (जीवन के साध्य का ज्ञाता) ।

पंडित आशधरजी ने अपने ग्रंथ सागर-धर्माभूत में निम्न 17 गुणों का निर्देश किया है - (1). न्यायपूर्वक धन का अर्जन करने वाला, (2). गुणीजनों को मानने वाला, (3). सत्यभाषी, (4). धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) का परस्पर विरोधरहित सेवन करने वाला, (5). योग्य स्त्री, (6). योग्य स्थान (मुहल्ला), (7). योग्य मकान, (8). लज्जाशील, (9). योग्य आहार, (10). योग्य आचरण, (11). श्रेष्ठ पुरुषों की संगति, (12). बुद्धिमान, (13). कृतज्ञ, (14). जितेन्द्रिय, (15). धर्मोपदेश श्रवण करने वाला, (16). दयालु और (17). पापों से डरने वाला - ऐसा व्यक्ति

सागारधर्म (ग्रहस्थ धर्म) का आचरण करें। पंडित आशाधरजी ने जिन गुणों का निर्देश दिया है उनमें से अधिकांश का निर्देश दोनों पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा किया जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचन से जो बात अधिक स्पष्ट होती है, वह यह है कि जैन आचार-दर्शन मनुष्य जीवन के व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा करके नहीं चलता। जैनाचार्यों ने जीवन के व्यवहारिक पक्ष को गहराई से परखा है और इतना सुसंस्कृत बनाने का प्रयास किया है कि जिसके द्वारा व्यक्ति इस जगत में भी सफल सफल जीवन जी सकता है। यही नहीं, इन सद्गुणों में से अधिकांश का संबंध हमारे सामाजिक जीवन से है। वैयक्तिक जीवन में इनका विकास सामाजिक जीवन के मधुर संबंधों का सृजन करता है। ये वैयक्तिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। जैनाचार्यों के अनुसार ये आध्यात्मिक साधना के प्रवेशद्वार हैं। साधक इनका योग्य रीति से आचरण करने के बाद ही अणुव्रतों और महाव्रतों की साधना की दिशा में आगे बढ़ सकता है।

श्रावक के बारह (12) व्रतों की प्रासंगिकता

जैनधर्म के श्रावक के निम्न बारह व्रत हैं -

- (1). अहिंसा व्रत
- (2). सत्य व्रत
- (3). अचौर्य व्रत
- (4). स्व पत्नी संतोष व्रत
- (5). परिग्रह-परिमाण व्रत
- (6). दिक्-परिमाण व्रत
- (7). उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत
- (8). अनर्थदण्ड विरमण व
- (9). सामायिक व्रत
- (10). देशावकासिक व्रत
- (11). प्रोषधोपवास व्रत
- (12). अतिथि संविभाग व्रत

(1). अहिंसा अणुव्रत :- गृहस्थोपासक संकल्पपूर्वक त्रसप्राणियों (चलने-फिरने वाले प्राणियों) की हिंसा का त्याग करता है। हिंसा के चार रूप हैं -1. आक्रामक (संकल्पी), 2. सुरक्षात्मक (विरोधजा), 3. औद्योगिक (उद्योगजा), 4. जीवन-

यापन के अन्य कर्तव्यों में हाने वाली (आरम्भजा)। हिंसा के ये चारों रूप भी दो वर्गों में विभाजित किये गये हैं - 1. हिंसा की जाती है और 2. हिंसा करनी पड़ती है। इससे आक्रामक हिंसा की जाती है, जबकि सुरक्षात्मक, औद्योगिक और आरम्भजा हिंसा करनी पड़ती है। सुरक्षात्मक, औद्योगिक और आरम्भजा हिंसा में हिंसा का निर्णय तो होता है, किन्तु वह निर्णय विवशता में लेना होता है, अतः उसे स्वतंत्र ऐच्छिक निर्णय नहीं कह सकते हैं। इन स्थितियों में हिंसा की नहीं जाती, अपितु करनी पड़ती है। सुरक्षात्मक हिंसा केवल सुरक्षात्मक दृष्टि से ही करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त हिंसा का एक रूप वह है जिसमें हिंसा हो जाती है, जैसे- कृषिकार्य करते हुए सावधानी के बावजूद हो जाने वाली त्रस-हिंसा। जीवनरक्षण एवं आजीविकोपार्जन में होने वाली हिंसा से उसका व्रत दूषित नहीं माना गया है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि जैनधर्म में अहिंसा का पालन जिस सूक्ष्मता के साथ किया जाता है, वह उसे अव्यावहारिक बना देता है किन्तु यदि हम गृहस्थ उपासक के अहिंसा अणुव्रत के उपर्युक्तविवेचन को देखते हैं तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अहिंसा की जैन अवधारणा किसी भी स्थिति में अप्रासंगिक और अव्यावहारिक नहीं है। वह न तो व्यक्ति या राष्ट्र के आत्म-सुरक्षा के प्रयत्न में बाधक है और न उसकी औद्योगिक प्रगति में। उसका विरोध है तो मात्र आक्रामक हिंसा से और आज कोई भी विवेकशील प्राणी या राष्ट्र आक्रामक हिंसा का समर्थक नहीं हो सकता है।

गृहस्थ उपासक के अहिंसाणुव्रत के जो पांच अतिचार (दोष) बताये गये हैं वे भी पूर्णतया व्यावहारिक और प्रासंगिक हैं। इन अतिचारों की प्रासंगिक व्याख्या निम्न है -

1. बन्धन :- प्राणियों को बन्धन में डालना। आधुनिक सन्दर्भ में अधीनस्थ कर्मचारियों को निश्चित समयावधि से अधिक रोककर कार्य लेना अथवा किसी की स्वतंत्रता का अपहरण करना भी इसी कोटि में आता है।
2. वध :- अंगोपांग का छेदन और घातक प्रहार करना।
3. वृत्तिच्छेद :- किसी की आजीविका को छीनना या उसमें बाधा डालना।
4. अतिभार :- प्राणी की सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना या कार्य लेना।
5. भक्त - पान निरोध :- अधीनस्थ पशुओं एवं कर्मचारियों की समय पर एवं आवश्यक भोजन-पानी की व्यवस्था न करना। उपर्युक्त अनैतिक आचरणों की प्रासंगिकता आज भी यथावत है। शासन ने शनैः शनैः इनकी प्रासंगिकता के आधार पर

इन्हें रोकने हेतु कुछ नियम बनाये हैं जबकि जैनाचार्यों ने दो हजार वर्ष पूर्व ही इन नियमों की व्यवस्था कर दी थी।

2. सत्याणुव्रत :- गृहस्थ को निम्न पाँच कारणों से असत्य-भाषण का निषेध किया गया है -

1. वर-कन्या के सम्बन्ध में असत्य जानकारी देना।
2. पशु आदि के क्रय-विक्रय हेतु असत्य जानकारी देना।
3. भूमि आदि के स्वामित्व के सम्बन्ध में असत्य जानकारी देना।
4. किसी की धरोहर दबाने या अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को सिद्ध करने हेतु असत्य बोलना।
5. झूठी साक्षी देना।

इस अणुव्रत के पाँच अतिचार या दोष निम्न हैं -

1. अविचारपूर्वक बोलना या मिथ्या दोषारोपण करना।
2. गोपनीयता भंग करना।
3. स्वपत्नी या मित्र के गुप्त रहस्यों को प्रकट करना।
4. मिथ्या-उपदेश अर्थात् लोगों को बहकाना।
5. कूट लेखकरण अर्थात् झूठे दस्तावेज तैयार करना, नकली मुद्रा (मोहर) लगाना या जाली हस्ताक्षर करना।

उपर्युक्त सभी निषेधों की प्रासंगिकता आज भी निर्विवाद है। वर्तमान युग में भी ये सभी दूषित प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं तथा शासन और समाज इन पर रोक लगाना चाहता है।

3. अस्तेयाणुव्रत :- वस्तु के स्वामी की अनुमति के बिना किसी वस्तु का ग्रहण करना चोरी है। गृहस्थ साधक को इस दूषित प्रवृत्ति से बचने का निर्देश दिया गया है। इसकी विस्तृत चर्चा हम सप्त दुर्व्यसन के संदर्भ में कर चुके हैं, अतः यहाँ केवल इसके निम्न अतिचारों की प्रासंगिकता की चर्चा करेंगे -

1. चोरी की वस्तु खरीदना।
2. चौर्यकर्म में सहयोग देना।
3. शासकीय नियमों का अतिक्रमण तथा कर अपवंचन करना।
4. माप-तौल में अप्रमाणिकता रखना।

5. वस्तुओं में मिलावट करना ।

उपर्युक्त पाँचों दुष्प्रवृत्तियाँ आज भी अनुचित एवं शासन द्वारा दण्डनीय मानी जाती हैं अतः इनका निषेध अप्रासंगिक या अव्यावहारिक नहीं हैं । वर्तमान युग में ये दुष्प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं, अतः इन नियमों का पालन अपेक्षित है ।

4. स्वपत्नी संतोषव्रत :- गृहस्थोपासक की काम-प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने हेतु इस व्रत का विधान किया गया है । यह यौन सम्बन्धों को नियन्त्रित एवं परिष्कारित करता है, और इस संदर्भ में सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ करता है । स्वपत्नी के अतिरिक्त अन्यत्र यौन सम्बन्ध रखना जैन श्रावक के लिये निषिद्ध है । पारिवारिक एवं सामाजिक शान्ति एवं सुव्यवस्थ की दृष्टि से इस व्रत की उपयोगिता निर्विवाद है । यह व्रत पति-पत्नी के मध्य एक-दूसरे के प्रति आस्था जागृत करता है और उनके पारस्परिक प्रेम एवं समर्पण भाव को सुदृढ़ करता है । जब भी इस व्रत का भंग होता है, पारिवारिक जीवन में अशांति एवं दरार पैदा हो जाती है । इस व्रत के निम्न पाँच या चार अतिचार या दोष माने गये हैं—

1. अल्पवय की विवाहित स्त्री से अथवा समय विशेष के लिए ग्रहण की गई स्त्री से अर्थात् वेश्या आदि से संभोग करना ।

2. अविवाहित स्त्री — जिसमें परस्त्री और वेश्या भी समाहित हैं, से यौन सम्बन्ध स्थापित करना ।

3. अप्राकृतिक साधनों से काम-वासना को सन्तुष्ट करना, जैसे-हस्त मैथुन, गुदा मैथुन, समलिंगी मैथुन आदि ।

4. परविवाहकरण अर्थात् स्व-सन्तान के अतिरिक्त दूसरों के विवाह सम्बन्ध करवाना । वर्तमान संदर्भ में इसकी एक व्याख्या यह भी हो सकती है कि एक पत्नी के होते हुए दूसरा विवाह करना ।

5. काम-भोग की तीव्र अभिलाषा करना ।

उपर्युक्त पांच निषेधों में कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे अव्यावहारिक और वर्तमान संदर्भों में अप्रासंगिक कहा जा सके ।

5. परिग्रह परिमाण व्रत:- इस व्रत के अन्तर्गत गृहस्थ उपासक से यह अपेक्षा की गई है कि वह अपनी सम्पत्ति अर्थात् जमीन-जायदाद, बहुमूल्य धातुएँ, धन-धान्य, पशु एवं अन्य वस्तुओं की एक सीमा रेखा निश्चित करे और उसका अतिक्रमण नहीं करें । व्यक्ति में संग्रह की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और किसी सीमा तक गृहस्थ-जीवन में संग्रह आवश्यक भी है, किन्तु यदि संग्रह-वृत्ति को नियन्त्रित नहीं किया जावेगा तो

समाज में गरीब और अमीर की खाई और गहरी होगी और वर्ग संघर्ष अपरिहार्य हो जावेगा। परिग्रह परिमाणव्रत या इच्छा परिमाणव्रत इसी संग्रह वृत्ति को नियंत्रित करता है और आर्थिक वैषम्य का समाधान प्रस्तुत करता है। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कोई सीमा रेखा नियत नहीं की गई है, उसे व्यक्ति के स्वविवेक पर छोड़ दिया गया था, किन्तु आधुनिक संदर्भ में हमें व्यक्ति की आवश्यकता और राष्ट्र की सम्पन्नता के आधार पर सम्पत्ति या परिग्रह की कोई अधिकतम सीमा निर्धारित करनी होगी, यही एक ऐसा उपाय है जिससे गरीब और अमीर के बीच की खाई को फटा जा सकता है। यह भय निरर्थक है कि अनासक्ति और अपरिग्रह के आदर्श से आर्थिक प्रगति प्रभावित होगी। जैन धर्म अर्जन का उसी स्थिति में विरोधी है, जबकि उसके साथ हिंसा और शोषण की बुराईयाँ जुड़ी हैं। हमारा आदर्श है - सौ हाथों से इकट्ठा करो और हजार हाथों से बाँट दो। गृहस्थ अर्थोपार्जन करे, किन्तु वह न तो संग्रह के लिए हो और न स्वयं के भोग के लिये, अपितु उसका उपयोग लोक-मंगल के लिये और दीन-दुःखियों की सेवा में हो; वर्तमान संदर्भ में इस व्रत की उपयोगिता निर्विवाद है। यदि आज हम इसे स्वेच्छा से नहीं अपनाते हैं तो या तो शासन हमें इसके लिए बाध्य करेगा या फिर अभावग्रस्त वर्ग छीन लेगा, अतः हमें समय रहते सम्भल जाना चाहिये।

6. दिक् परिमाण व्रत :- तृष्णा असीम है, धन के लोभ में मनुष्य कहाँ-कहाँ नहीं भटकता है। राज्य की तृष्णा ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया, तो धन-लोभ में व्यावसायिक उपनिवेश बने। अर्थ-लोलुपता तथा विषय-वासनाओं की पूर्ति के निमित्त आज भी व्यक्ति देश-विदेश में भटकता है। दिक् परिमाणव्रत मनुष्य की इसी भटकन को नियन्त्रित करता है। गृहस्थ उपासक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आर्थोपार्जन एवं विषय-भोग का क्षेत्र सीमित करे। इसीलिए उसे विविध दिशाओं में अपने आवागमन का क्षेत्र मर्यादित कर लेना होता है। यद्यपि वर्तमान संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि इससे व्यक्ति का कार्यक्षेत्र सीमित हो जावेगा किन्तु जो व्यक्ति वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से अवगत है, वे भली प्रकार जानते हैं कि आज कोई भी राष्ट्र विदेशी व्यक्ति को अपने यहाँ पैर जमाने देना नहीं चाहता है, दूसरे यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय शोषण को समाप्त करना चाहते हैं तो हमें इस बात से सहमत होना होगा कि व्यक्ति के धनोपार्जन की गतिविधि का क्षेत्र सीमित हो। अतः इस व्रत को अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता है।

7. उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत :- व्यक्ति की भोगावृत्ति पर अंकुश लगाना ही इस व्रत का मूल उद्देश्य है। इस व्रत के अन्तर्गत श्रावक को अपने दैनिक जीवन के

उपभोग की प्रत्येक वस्तु की संख्या, मात्रा आदि निर्धारित करनी होती है, जैसे- वह कौन सा मंजन करेगा, किस प्रकार के चावल, दाल, सब्जी, फल-मिष्ठान्न आदि का उपभोग करेगा, उनकी मात्रा क्या होगी, उसके वस्त्र, जूते, शय्या आदि किस प्रकार के और कितने होंगे ? वस्तुतः इस व्रत के माध्यम से उसकी भोग-वृत्ति को संयमित कर उसके जीवन को सात्विक और सादा बनाने का प्रयास किया गया है, जिसकी उपयोगिता को कोई भी विचारशील व्यक्ति अस्वीकार नहीं करेगा। आज जब मनुष्य उदाम भोग-वासना में आकण्ठ डूबता जा रहा है, इस व्रत का महत्व स्पष्ट है।

जैन आचार्यों ने उपभोग-परिमाणव्रत के माध्यम से यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि गृहस्थ उपासक को किन साधनों के द्वारा अपनी आजीविका का उपार्जन करना चाहिए और किन साधनों से आजीविका का उपार्जन नहीं करना चाहिए। गृहस्थ उपासक के लिए निम्नलिखित पन्द्रह प्रकार के व्यवसायों से आजीविका अर्जित करना निषिद्ध माना गया है -

1. अङ्गारकर्म-जैन आचार्यों ने इसके अन्तर्गत व्यक्ति को अग्नि प्रज्ज्वलित करके किये जाने वाले सभी व्यवसायों को निषिद्ध बताया है, जैसे- कुम्भकार, स्वर्णकार, लौहकार आदि के व्यवसाय। किन्तु मेरी दृष्टि में इसका तात्पर्य जंगल में आग लगाकर कृषि योग्य भूमि तैयार करना है।
2. वनकर्म-जंगल कटवाने का व्यवसाय।
3. शकटकर्म-बैलगाड़ी, रथ आदि बनाकर बेचने का व्यवसाय।
4. भाटकर्म-बैल, अश्व आदि पशुओं को किराये पर चलने का व्यवसाय।
5. स्फोटिकर्म-खान खोदने का व्यवसाय।
6. दन्तवाणिज्यकर्म-हाथी-दाँत आदि हड्डी का व्यवसाय। उपलक्षण से चमड़े तथा सींग आदि का व्यवसाय भी इसमें सम्मिलित हैं।
7. लाक्षा-वाणिज्यकर्म-लाख का व्यवसाय।
8. रस-वाणिज्यकर्म-मद्य, मांस, मधु आदि का व्यवसाय।
9. विष-वाणिज्यकर्म-विभिन्न प्रकार के विषों का व्यवसाय।
10. केश-वाणिज्यकर्म-बालों एवं रोमयुक्त चमड़े का व्यवसाय।
11. यन्त्रपीडनकर्म-यन्त्र, साँचे, कोल्हू आदि का व्यवसाय। उपलक्षण से अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार भी इसी में सम्मिलित है।
12. नीलाञ्जनकर्म-बैल आदि पशुओं को नपुसंक बनाने का व्यवसाय।

13. दवाग्निदापनकर्म-जंगल में आग लगाने का व्यवसाय ।
14. सरहद-तडाग-शोषणकर्म-तालाब, झील और सरोवर आदि को सुखाना ।
15. असती-जन पोषणताकर्म-व्यभिचार-वृत्ति के लिए वेश्या आदि को नियुक्त कर उनके द्वारा धनोपार्जन करवाना । उपलक्षण से दुष्कर्मों के द्वारा आजीविका का अर्जन करना भी इसी में सम्मिलित है ।

आधुनिक सन्दर्भ में उपर्युक्त निषिद्ध व्यवसायों की सूची में परिमार्जन की आवश्यकता प्रतीत होती है । आज व्यवसायों के ऐसे बहुत से रूप सामने आये हैं, जो अधिक अनैतिक और हिंसक हैं । अतः इस सन्दर्भ में पर्याप्त विचार-विमर्श करके निषिद्ध व्यवसायों की एक नवीन तालिका बनायी जानी चाहिए ।

8. अनर्थ-दण्ड-विरमण व्रत :- मानव अपने जीवन में अनेक ऐसे पापकर्म करता है, जिनके द्वारा उसका अपना कोई हित साधन नहीं होता । इन निष्प्रयोजन किये जाने वाले पाप कर्मों से गृहस्थ उपासक को बचाना इस व्रत का मुख्य उद्देश्य है । निष्प्रयोजन हिंसा और असत्य-सम्भाषण की प्रवृत्तियाँ मनुष्य में सामान्य रूप से पायी जाती हैं । जैसे-स्नान में आवश्यकता से अधिक जलका अपव्यय करना, भोजन में जूठन डालना, सम्भाषण में अपशब्दों का प्रयोग करना, स्वास्थ्य के लिए हानिकर मादक द्रव्यों का सेवन करना, अश्लील और कामवर्द्धक साहित्य पढ़ना आदि । निरर्थक प्रवृत्तियाँ अविवेकी और अनुशासनहीन जीवन की द्योतक हैं । इस व्रत के अन्तर्गत गृहस्थ उपासक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अशुभचिन्तन, पापकर्मोपदेश, हिंसक उपकरणों के दान तथा प्रमादाचरण से बचे ।

इस व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार माने गये हैं -

1. कामवासना को उत्तेजित करने वाली चेष्टाएँ करना ।
2. हाथ, मुँह, आँख आदि से अभद्र चेष्टाएँ करना ।
3. अधिक वाचाल होना या निरर्थक बातें करना ।
4. अनावश्यक रूप से हिंसा के साधनों का संग्रह करना और उन्हें दूसरों को देना ।
5. आवश्यकता से अधिक उपभोग सामग्री का संचय करना ।

यदि हम उपर्युक्त व्रत और उसके दोषों के सन्दर्भ में विचार करें तो वर्तमान युग में इसकी सार्थकता स्पष्ट हो जाती है । मानव-समाज में आज भी ये सभी चारित्रिक विकृतियाँ विद्यमान हैं और एक सभ्य समाज के निर्माण के लिए इनका परिमार्जन आवश्यक है ।

श्रावक के उपर्युक्त पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का बहुत कुछ सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन से है और हमने जब उनकी प्रासंगिता की कोई चर्चा की है तो वह सामाजिक दृष्टि से ही की है। गृहस्थ उपासक के शेष चार शिक्षाव्रतों में सामायिक, देशावकासिक, प्रौषधोपवास का सम्बन्ध विशिष्ट रूप से वैयक्तिक जीवन से है। यद्यपि अतिथि-संविभागव्रत की व्याख्या पुनः सामाजिक सन्दर्भ में की जा सकती है।

9. सामायिक व्रत :- सामायिक समभाव की साधना है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय में चित्तवृत्ति का समत्व ही सामायिक है। आज के युग में जब मनुष्य मानसिक विक्षोभ और तनावों की स्थिति में जी रहा है तब सामायिक व्रत की साधना की उपयोगिता सुस्पष्ट हो जाती है। वर्तमान में मात्र वेश परिवर्तन करके कुछ समय के लिए बाह्य हिंसक प्रवृत्तियों से दूर हो जाना सामायिक का बाह्य रूप तो हो सकता है, किन्तु वह उसकी अन्तरात्मा नहीं है। आज हमारी सामायिक की साधना में समभावरूपी अन्तरात्मा मृतप्राय होती जा रही है और वह एक रूढ़ क्रिया मात्र बन कर रह गयी है। सामायिक में मानसिक तनावों के निराकरण और चित्तवृत्ति को शान्त और निराकुल बनाने के लिए कोई उपयुक्त पद्धति विकसित की जाये, यह आज के युग की महती आवश्यकता है।

10. देशावकासिक व्रत :- इस व्रत का मुख्य उद्देश्य आंशिक रूप से गृहस्थ-जीवन से निवृत्ति प्राप्त करना है। मनुष्य स्वाभाविक रूप से परिवर्तन प्रिय है। घर-गृहस्थी के कौलाहलपूर्ण और अशान्त जीवन से निवृत्ति लेकर एक शान्त जीवन का अभ्यास एवं आस्वाद करना ही इसका लक्ष्य है। वैसे भी हम सप्ताह में एक दिन अवकाश मनाते हैं। देशावकासिक व्रत इसी साप्ताहिक अवकाश का अध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में उपयोग है और इस दृष्टि से इसकी सार्थकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

11. प्रौषधोपवास व्रत :- यह व्रत भी मुख्य रूप से निवृत्तिपरक जीवन की साधना के निमित्त है। उपवासपूर्वक विषयवासनाओं पर नियन्त्रण रखना ही इस व्रत का मूल उद्देश्य है। इसे हम एक दिन के लिए ग्रहण किया हुआ श्रमण-जीवन भी कह सकते हैं। इसकी सार्थकता वैयक्तिक साधनात्मक जीवन की दृष्टि से ही आँकी जा सकती है।

12. अतिथि-संविभाग व्रत :- अतिथि-संविभाग व्रत गृहस्थ के सामाजिक दायित्व का सूचक है। अपने और अपने परिजनों के उदरपोषण के साथ-साथ गृहस्थ पर निवृत्त साधकों और समाज के असहाय एवं अभावग्रस्त व्यक्तियों के भरण-पोषण का दायित्व भी है। प्रस्तुत व्रत का उद्देश्य गृहस्थ में सेवा और दान की वृत्ति को जागृत करना है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। हमारा जीवन पारस्परिक सहयोग और सहभागिता के आधार पर ही चलता है। दूसरों के सुख-दुःख में सहभागी बनना और अभावग्रस्तों, पीड़ितों और दीन-दुःखियों की सेवा करना- यह गृहस्थ का अनिवार्य धर्म है। यद्यपि आज इस प्रवृत्ति को, भिक्षावृत्ति को प्रोत्साहन देने वाली मानकर अनुपयुक्त कहा जाता है, किन्तु जब तक समाज में अभावग्रस्त, पीड़ित और रोगी व्यक्ति हैं- सेवा और सहकार की आवश्यकता अपरिहार्य रूप से बनी रहेगी और यदि शासन इस दायित्व को नहीं सम्भालता है तो यह प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह दान और सेवा के मूल्यों को जीवित बनाये रखे। यह प्रश्न मात्र दया या करुणा का नहीं है, अपितु दायित्व बोध का है।

श्रावक के दैनिक षट्कर्म

श्रावक जीवन के आवश्यक षट्कर्म इस प्रकार है -

1. **देवपूजा** - तीर्थंकरों का पूजन, उनके आदर्श स्वरूप का चिन्तन एवं गुणगान।
2. **गुरु-सेवा** - श्रावक का दूसरा कर्तव्य गुरु की सेवा एवं उनका विनय करना है। भक्तिपूर्वक गुरु का वन्दन करना, उनका सम्मान करना और उनके उपदेशों को श्रवण करना।
3. **स्वाध्याय** - आत्मस्वरूप का चिन्तन और मनन करना। इसके साथ ही सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन भी स्वाध्याय है।
4. **संयम** - संयम का अर्थ है अपनी वासनाओं और तृष्णाओं में कमी करना। श्रावक का कर्तव्य है कि वह वासनाओं और तृष्णाओं पर संयम रखे।
5. **तप** - तप श्रावक की दैनिक चर्या का पाचवाँ कर्म है। श्रावक को यथाशक्य उपवास, रस-परित्याग स्वादजय आदि के रूप में प्रतिदिन तप करना चाहिए।
6. **दान** - श्रावक का छठा दैनिक आवश्यक कर्म दान है। प्रत्येक श्रावक को प्रतिदिन श्रमण (मुनि), स्वधर्मी बन्धुओं और असहाय एवं दुखीजनों को कुछ न कुछ दान अवश्य करना चाहिए।

श्रावक की दिनचर्या :- आचार्य हेमचन्द्र ने श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हुए योगशास्त्र में लिखा है कि श्रावक ब्राह्ममुहूर्त में उठकर धर्म चिन्तन करे, तत्पश्चात् पवित्र होकर अपने गृह-चैत्य में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करे, फिर गुरु की सेवा में उपस्थित होकर उनकी सेवाभक्ति करे। तत्पश्चात् धर्मस्थान से लौटकर आजीविका के स्थान में जाकर इस प्रकार धनोपार्जन करे कि उसके व्रत-नियमों में

बाधा न पहुँचे। इसके बाद मध्याह्नकालीन साधना करे और फिर भोजन करके शास्त्रवेत्ताओं के साथ शास्त्र के अर्थ का विचार करे। पुनः संध्या समय देव, गुरु की उपासना एवं प्रतिक्रमण आदि षट् आवश्यक क्रिया करे, फिर स्वाध्याय करके अल्प निद्रा ले। (योगशास्त्र 3/121-131)

गृहस्थ के विकास की भूमिकाएँ

जैनदर्शन निवृत्ति-परक है, लेकिन गृही-जीवन से समग्र रूप में तत्काल निवृत्त हो जाना जन-साधारण के लिए सुलभ नहीं होता। अतः निवृत्ति की दिशा में विभिन्न स्तरों का निर्माण आवश्यक है, जिससे व्यक्ति क्रमशः अपना नैतिक विकास करता हुआ साधना के अन्तिम आदर्श को प्राप्त कर सके। जैन-विचारणा में गृही-जीवन में साधना का विकास क्रम कैसे आगे बढ़ता है, इसका सुन्दर चित्रण हमें “श्रावकप्रतिमा” की धारणा में मिलता है। श्रावक प्रतिमाएँ गृही-जीवन में की जानेवाली साधना की विकासोन्मुख श्रेणियाँ (भूमिकाएँ) हैं, जिन पर क्रमशः चढ़ता हुआ साधक अपनी आध्यात्मिक प्रगति कर जीवन के परमादर्श “स्वस्वरूप” को प्राप्त कर लेता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों विचारणाओं में श्रावक प्रतिमाएँ (भूमिकाएँ) म्यारह हैं।

श्वेताम्बर सम्मत उपासक भूमिकाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं - (1) दर्शन, (2) व्रत, (3) सामायिक, (4) प्रोषध, (5) नियम, (6) ब्रह्मचर्य, (7) सच्चित्त्याग, (8) आरम्भत्याग, (9) प्रेष्यपरित्यग, (10) उद्दिष्टभक्त त्याग और (11) श्रमणभूता दिगम्बर सम्मत क्रम एवं नाम इस प्रकार हैं - (1) दर्शन, (2) व्रत, (3) सामायिक, (4) प्रोषध, (5) सच्चित्त्याग, (6) रात्रिभोजन एवं दिवामैथुन विरति, (7) ब्रह्मचर्य, (8) आरम्भत्याग, (9) परिग्रहत्याग, (10) अनुमति त्याग और (11) उद्दिष्ट-त्याग।

म्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप

1. दर्शन-प्रतिमा :- साधक की अध्यात्म-मार्ग की यथार्थता के सम्बन्ध में दृढ़ निष्ठा एवं श्रद्धा होना ही दर्शनप्रतिमा है। विशुद्धि की प्रथम शर्त है क्रोध, मान, माया और लोभ, इस कषाय-चतुष्क की तीव्रता में मन्दता। जब तक इन कषायों का अनन्तानुबन्धी रूप समाप्त नहीं होता, दर्शनविशुद्धि नहीं होती। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में मानवीय विवेक को अपहरित कर लेने वाले क्रोधादि संवेगों के तीव्र आवेग ही प्रज्ञा-शक्ति को कुण्ठित कर देते हैं। अतः जब तक इन संवेगों या तीव्र आवेगों पर विजय प्राप्त नहीं की जाती, हमारी विवेकशक्ति या प्रज्ञा सम्यक् रूप से अपना कार्य नहीं

कर सकती। दर्शनप्रतिमा में साधक इन कषायों की तीव्रता को कम कर सम्यग्दर्शन अर्थात् यथार्थ दृष्टिकोण प्राप्त करता है।

2. व्रत-प्रतिमा :- दृष्टिकोण की विशुद्धि के साथ जब साधक सम्यक् आचरण के क्षेत्र में चारित्र्यविशुद्धि के लिए आगे आता है तो वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अपनी गृहस्थ मर्यादाओं के अनुरूप आंशिक रूप से पालन करना प्रारम्भ करता है। वह गृहस्थ जीवन के 5 अणुव्रतों और 3 गुणव्रतों का निर्दोषरूप से पालन करना प्रारम्भ करता है।

3. सामायिक-प्रतिमा :- साधना का अर्थ मात्र त्याग ही नहीं वरन् कुछ प्राप्ति भी हैं। सामायिक-प्रतिमा में साधक 'समत्व' प्राप्त करता है। 'समत्व' के लिए किया जाने वाला प्रयास सामायिक कहलाता है। यद्यपि समत्व एक दृष्टि है, एक विचार है लेकिन वह ऐसा विचार नहीं जो आचरण में प्रकट न होता हो। उसे जीवन के आचरणात्मक पक्ष में उतारने के लिए सतत प्रयास अनिवार्य है।

4. प्रोषधोपवास-प्रतिमा :- साधना की इस कक्षा में गृहस्थ उपासक गृहस्थी के झंझटों में से कुछ ऐसे अवकाश के दिन निकालता है, जब वह गृहस्थी के उत्तरादायित्वों से मुक्त होकर मात्र आध्यात्मिक चिन्तन-मनन कर सके। वह गुरु के समीप या धर्मस्थान (उपासनागृह) में रहकर आध्यात्मिक साधना में ही उस दिवस को व्यतीत करता है। प्रत्येक मास की दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा इन दिनों में गृहस्थी के समस्त क्रियाकलापों से अवकाश पाकर उपवाससहित धर्मस्थान या उपासना-गृह में निवास करते हुए आत्मसाधना में रत रहना गृहस्थ की प्रोषधोपवास प्रतिमा है।

5. नियम-प्रतिमा :- इसे कायोत्सर्ग प्रतिमा एवं दिवामैथुनविरत प्रतिमा भी कहा जाता है। इसमें पूर्वोक्त प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए पाँच विशेष नियम लिये जाते हैं - (1) स्नान नहीं करना, (2) रात्रि-भोजन नहीं करना, (3) धोती की एक लांग नहीं लगाना, (4) दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा रात्रि में मैथुन की मर्यादा निश्चित करना, (5) अष्टमी, चतुर्दशी आदि किसी पर्व दिन में रात्रिपर्यन्त देहासक्ति त्याग कर कायोत्सर्ग करना वस्तुतः इस प्रतिमा में कामासक्ति, भोगासक्ति अथवा देहासक्ति कम करने का प्रयास किया जाता है।

6. ब्रह्मचर्य-प्रतिमा :- जब गृहस्थ साधक नियम-प्रतिमा की साधना के द्वारा कामासक्ति पर विजय पाने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है तो वह विकास की इस

कक्षा में मैथुन से सर्वथा विरत होकर ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार निवृत्ति की दिशा में एक और चरण बढ़ाता है। इस प्रतिमा में वह ब्रह्मचार्य की रक्षा के निमित्त 1. स्त्री के साथ एकान्त का सेवन नहीं करना, 2. स्त्री-वर्ग से अति परिचय या सम्पर्क नहीं रखना, 3. श्रृंगार नहीं करना, 4. स्त्री-जाति के रूप-सौन्दर्य सम्बन्धी तथा कामवर्धक वार्तालाप नहीं करना, 5. स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठना आदि नियमों का भी पालन करता है।

7. सचित्त आहारवर्जन-प्रतिमा :- पूर्वोक्त प्रतिमाओं के नियमों का यथावत् पालन करते हुए इस भूमिका में आकर गृहस्थ साधक अपनी भोगासक्ति पर विजय की एक और मोहर लगा देता है और सभी प्रकार की सचित्त वस्तुओं के आहार का त्याग कर देता है एवं उष्ण जल तथा अचित्त आहार का ही सेवन करता है। साधना की इस कक्षा तक आकर गृहस्थ उपासक अपने वैयक्तिक जीवन की दृष्टि से अपनी वासनाओं एवं आवश्यकताओं का पर्याप्त रूप से परिसीमन कर लेता है, फिर भी पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन करने की दृष्टि से गार्हस्थ्यिक कार्य एवं व्यवसाय आदि करता है, जिनके कारण वह उद्योगी एवं आरम्भी हिंसा से पूर्णतया बच नहीं पाता है।

8. आरम्भत्याग-प्रतिमा :- साधना की इस भूमिका में आने के पूर्व गृहस्थ उपासक का महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह अपने समग्र पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को अपने उत्तराधिकारी पर डाल दे और स्वयं निवृत्त होकर सारा समय धर्माधना में लगाए है। इस भूमिका में रहकर गृहस्थ उपासक यद्यपि स्वयं व्यवसाय आदि कार्यों में भाग नहीं लेता है और न स्वयं कोई आरम्भ ही करता है, फिर भी वह अपने पुत्रादि को यथावसर व्यावसायिक एवं पारिवारिक कार्यों में मार्गदर्शन देता रहता है।

9. परिग्रह-विरत-प्रतिमा :- गृहस्थ उपासक को जब संतोष हो जाता है कि उसकी सम्पत्ति का उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उचित रूप से उपयोग हो रहा है अथवा वह योग्य हाथों में है तो वह उस सम्पत्ति पर से अपने स्वामित्व के अधिकार का भी परित्याग कर देता है और इस प्रकार निवृत्ति की दिशा में एक कदम आगे बढ़कर परिग्रह से विरत होता जाता है। फिर भी इस अवस्था में वह पुत्रादि को व्यावसायिक एवं पारिवारिक कार्यों में उचित मार्गदर्शन देता रहता है। इस प्रकार परिग्रह से विरत हो जाने पर भी वह अनुमति-विरत नहीं होता। श्वेताम्बर परम्परा में परिग्रहविरत प्रतिमा के

स्थान पर भूतक प्रेष्ठारम्भ वर्जन प्रतिमा है जिसमें गृहस्थ उपासक स्वयं आरम्भ करने एवं दूसरे से करवाने का परित्याग कर देता है, लेकिन अनुमति-विरत नहीं होता है।

11. श्रमणभूत-प्रतिमा :- इस अवस्था में गृहस्थ उपासक की अपनी समस्त चर्या साधु के समान होती है। उसकी वेशभूषा भी लगभग वैसी ही होती है। वह भिक्षाचर्या द्वारा ही जीवन-निर्वाह करता है और लिए चुने हुए भोजन का त्याग कर देता है।

श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से वह साधु से इस अर्थ में भिन्न होता है कि 1. पूर्वांग के कारण कुटुम्ब के लोगों या परिचित जनों के यहाँ ही भिक्षार्थ जाता है। 2. केश-लुञ्चन के स्थान पर मुण्डन करवा सकता है 3. साधु के समान विभिन्न ग्राम एवं नगरों में कल्पानुसार विहार नहीं करता है। अपने निवास नगर में ही रह सकता है।

दिगम्बर परम्परा में इसके दो विभाग हैं - 1. क्षुल्लक और 2. ऐलक।

क्षुल्लक :- यह दिगम्बर मुनि के आचार-व्यवहार से निम्न बातों में भिन्न होता है - 1. दो वस्त्र (अधोवस्त्र और उत्तरीय) रखता है, 2. केशलोच करता है या मुण्डन करवाता है, 3. विभिन्न घरों से माँग कर भिक्षा करता है।

ऐलक :- आचार और चर्या में यह मुनि का निकटवर्ती होता है। यह एक कमण्डलु और मोरपिच्छी रखता है, केशलुञ्चन करता है, यह दिगम्बर मुनि से केवल एक बात में भिन्न होता है कि लोकलज्जा के नहीं छूट पाने के कारण गुह्यांग को ढँकने के लिए मात्र लंगोटी (चेल-वस्त्र) रखता है। शेष सब बातों में इसकी चर्या दिगम्बर मुनि के समान ही होती है। इस प्रकार यह अवस्था गृही-साधना की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है।

जैन धर्म के श्रावक आचार की उपर्युक्त समीक्षा करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन श्रावकों के लिए प्रतिपादित आचार के नियम वर्तमान सामाजिक सन्दर्भों में भी प्रासंगिक सिद्ध होते हैं। श्रावक-आचार के विधि-निषेधों में यूगानुकूल जो छोटे-मोटे परिवर्तन अपेक्षित हैं, उन पर विचार किया जा सकता है और युगानुकूल श्रावक धर्म की आचार-विधि आगमिक नियमों को यथावत् रखते हुए बनायी जा सकती है। आज हमारा दुर्भाग्य यही है कि हम जैन मुनि के आचार नियमों पर तो अभी भी गम्भीर चर्चाएँ करते हैं, किन्तु श्रावक धर्म की आचार-विधि पर कोई गम्भीरता पूर्वक विचार नहीं करते। आज यह मान लिया गया है कि आचार सम्बन्धी विधि-निषेध मुनियों के सन्दर्भ में ही है। गृहस्थों की आचार-विधि है या होनी चाहिए, इस

बात पर हमारा कोई लक्ष्य नहीं जाता। यद्यपि कभी-कभी जमीकन्द खाना चाहिए या नहीं खाना चाहिए, ऐसे छोटे-छोटे प्रश्न उठा लिये जाते हैं, किन्तु श्रावक-आचार की मूलभूत दृष्टि क्या हो ? और उसके लिए युगानुकूल सर्वसामान्य आचार विधि क्या हो ? इस बात पर हमारी कोई दृष्टि नहीं जाती। यह एक शुभ संकेत है कि अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् ने इस प्रश्न को लेकर एक विचार-गोष्ठी आयोजित की। यद्यपि यह एक प्रारम्भिक बिन्दु है किन्तु मुझे विश्वास है कि यह प्राथमिक प्रयास भी कभी बृहद् रूप लेगा और हम अपने श्रावक वर्ग को एक युगानुकूल आचार-विधि दे पाने में सफल होंगे।

श्रमणाचार

जैन-दर्शन में श्रमण-जीवन का स्थान— जैन-परम्परा सामान्यतया श्रमण-परम्परा है, इसलिए उसमें श्रमण-जीवन को प्रधान माना गया है। बृहदकल्पसूत्र के अनुसार, प्रथमतः प्रत्येक आगन्तुक को यतिधर्म का ज्ञान कराना चाहिए और यदि वह उसके पालन में असमर्थता प्रकट करे, तो गृहस्थधर्म का उपदेश करना चाहिए।

जैन-धर्म में श्रमण का तात्पर्य — जैन-परम्परा में श्रमण-जीवन का तात्पर्य पापविरति है। जैन-परम्परा के अनुसार, श्रमण-जीवन में व्यक्ति को बाह्य-रूप से समस्त पापकारी (हिंसक) प्रवृत्तियों से बचना होता है, साथ ही आन्तरिक-रूप से उसे समस्त रागद्वेषात्मक-वृत्तियों से ऊपर उठना होता है। श्रमण-जीवन का तात्पर्य 'श्रमण' शब्द की व्याख्या से ही स्पष्ट हो जाता है। प्राकृत-भाषा में श्रमण के लिए 'समण' शब्द का प्रयोग होता है। 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं — 1. श्रमण, 2. समन और 3. शमन।

1. "श्रमण" शब्द श्रम धातु से बना है। इसका अर्थ है—परिश्रम या प्रयत्न करना, अर्थात् जो व्यक्ति अपने आत्म-विकास के लिए परिश्रम करता है, वह श्रमण है।

2. समन शब्द के मूल में सम् है, जिसका अर्थ है—समत्वभाव। जो व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखता है, वह श्रमण कहलाता है।

3. शमन शब्द का अर्थ है—अपनी वृत्तियों को शांति रखना, अथवा मन और इन्द्रियों पर संयम रखना, अतः जो व्यक्ति अपनी वृत्तियों को संयमित रखता है, वह श्रमण है।

वस्तुतः, जैन-परम्परा में श्रमण शब्द का मूल तात्पर्य समत्वभाव की साधना ही है। भगवान् महावीर ने कहा है कि कोई केवल मुंडित होने से श्रमण नहीं होता, वरन् जो समत्व की साधना करता है, वही श्रमण होता है। श्रमण शब्द की व्याख्या में बताया गया है कि जो समत्वबुद्धि रखता है तथा जो सुमना होता है, वही श्रमण है। सूत्रकृतांग में भी श्रमण—जीवन की स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध है। जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता, किसी प्रकार की सांसारिक-कामना नहीं करता, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मैथुन और परिग्रह के विकार से रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि जितने भी कर्मादान और आत्मा के पतन के हेतु हैं, सबसे निवृत्त रहता है, इसी प्रकार जो इन्द्रियों का विजेता है, मोक्षमार्ग का सफल यात्री है, शरीर के मोह-ममत्व से रहित है, वह श्रमण कहलाता है।

श्रमणत्व ग्रहण करने की प्रतिज्ञा के द्वारा भी श्रमण—जीवन के अर्थ को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। जैन-परम्परा में श्रमण-संस्था में प्रविष्ट होने का इच्छुक साधक गुरु के समक्ष सर्वप्रथम यह प्रतिज्ञा करता है कि 'हे पूज्य! मैं समत्वभाव को स्वीकार करता हूँ और सम्पूर्ण सावद्य-क्रियाओं का परित्याग करता हूँ। जीवन-पर्यन्त इस प्रतिज्ञा का पालन करूँगा। मन-वचन और काय से न तो कोई अशुभ प्रवृत्ति करूँगा, न करवाऊँगा और न करनेवाले का अनुमोदन करूँगा। मैं पूर्व में की हुई ऐसी समग्र अशुभ प्रवृत्तियों की निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं स्वयं को उनसे विलग करता हूँ।

जैन-विचारणा के अनुसार, साधना के दो पक्ष हैं— आन्तरिक और बाह्य। श्रमणजीवन आन्तरिक-साधना की दृष्टि से समत्व की साधना है, रागद्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठना है और बाह्यरूप से वह हिंसक-प्रवृत्तियों से निवृत्ति है। तथ्य यह है कि समभाव की उपलब्धि प्राथमिक है, जबकि सावद्य-व्यापारों से दूर होना द्वितीय है। जब तक विचारों में समत्व नहीं

आता, तब तक साधक अपने को सावद्य-क्रियाओं से भी पूर्णतया निवृत्त नहीं रख सकता, अतः समत्व की साधना ही श्रमण-जीवन का मूल आधार है।

जैनधर्म में श्रमण-जीवन के लिए आवश्यक योग्यताएँ

श्रमण का जीवन एक उच्चस्तरीय नैतिकता एवं आत्मसंयम का जीवन है। श्रमण-संस्था पवित्र बनी रहे, इसलिए श्रमण-संस्था में प्रविष्ट होने के लिए कुछ नियमों का होना आवश्यक माना गया है। सामान्यतया, जैन-विचारधारा श्रमण-संस्था में प्रवेश के द्वारा बिना किसी वर्ण एवं जाति के भेद के सभी के लिए खुला रखती है। महावीर के समय में निम्नतम से निम्नतम जाति के लोगों को भी श्रमण-संस्था में प्रवेश दिया जाता था। यह बात उत्तराध्ययनसूत्र के हरिकेशीबल के अध्याय से स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि प्राचीन-काल में सभी जाति के लोगों को श्रमण-संस्था में प्रवेश दीया जाता था, किन्तु कुछ लोगों को श्रमण-संस्था में प्रवेश के लिए अयोग्य मान लिया था। निम्न व्यक्ति श्रमण-संस्था में प्रवेश के लिए अयोग्य माने गये थे- 1. आठ वर्ष से कम उम्र का बालक, 2. अति-वृद्ध, 3. नपुंसक, 4. क्लीव, 5. जड़ (मूर्ख), 6. असाध्य रोग से पीड़ित, 7. चोर, 8. राज-अपराधी, 9. उन्मत्त (पागल), 10. अंधा, 11. दास, 12. दुष्ट, 13. मूढ़ ज्ञानार्जन के अयोग्य, 14. ऋणी, 15. कैदी, 16. भयार्त, 17. अपहरण करके लाया गया, 18. जुगुडित-जाति, कर्म अथवा शरीर से दूषित, 19. गर्भवती स्त्री, 20. ऐसी स्त्री, जिसकी गोद में बच्चा दूध पीता हो। यद्यपि स्थानांगसूत्र में श्रमण-दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों में नपुंसक, असाध्यरोगी एवं भयार्त का ही उल्लेख है, तथापि टीकाकारों ने उपर्युक्त प्रकार के व्यक्तियों को श्रमण-दीक्षा के अयोग्य माना है। इतना ही नहीं, परवर्ती टीकाकारों ने उसमें जाति को भी आधार बनाने का प्रयास किया है। जुगुडित शब्द की व्याख्या में मातंग, मछुआ, बसोड़, दर्जी, रंगरेज आदि जातियों के लिए भी श्रमण-दीक्षा वर्जित बताई गई। यद्यपि कुछ परवर्ती आचार्यों ने इनमें से कुछ जातियों को श्रमण-संस्था में प्रवेश देना स्वीकार किया है और वर्तमान परम्परा में भी रंगरेज, दर्जी आदि जातियों के व्यक्तियों को श्रमण-संस्था में प्रवेश दिया जाता है, फिर भी यह सत्य है

कि मध्यवर्ती युग में कुछ जातियाँ श्रमण-दीक्षा के लिए वर्जित मानी गई थी। संभवतः, ऐसा ब्राह्मण-परम्परा के प्रभाव के कारण हुआ हो, ताकि श्रमण-संस्था को लोगों में होने वाली टीका-टिप्पणी से बचाया जा सके। 'धर्म संग्रह' के अनुसार श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने वाले में निम्न योग्यताएँ होनी चाहिए— 1. आर्य देश समुत्पन्न, 2. शुद्धजातिकुलान्वित, 3. क्षीणप्रायाशुभकर्मा, 4. निर्मलबुद्धि, 5. विज्ञातसंसारनैर्गुण्य, 6. विरक्त, 7. मंदकषाय, 8. अल्पहास्यादि, 9. कृतज्ञ, 10. विनीत, 11. राजसम्मत, 12. अद्रोही, 13. सुन्दर, सुगठित एवं पूर्ण शरीर, 14. श्रद्धावान्, 15. स्थिर-विचार और 16. स्व-इच्छा से दीक्षा के लिए तत्पर।

जैन श्रमणों के प्रकार

जैन-परम्परा में श्रमणों का वर्गीकरण उनके आचार-नियम तथा साधनात्मक-योग्यता के आधार पर किया गया है। आचरण के नियमों के आधार पर श्वेताम्बर-परम्परा में दो प्रकार के साधु माने गए हैं — (1) जिनकल्पी और (2) स्थविरकल्पी। जिनकल्पी मुनि सामान्यतया नग्न एवं पाणिपात्र होते हैं तथा एकाकी विहार करते हैं, जबकि स्थविरकल्पी मुन सवस्त्र, सपात्र एवं संघ में रहकर साधना करते हैं। स्थानांगसूत्र में साधनात्मक-योग्यता के आधार पर श्रमणों का वर्गीकरण इस प्रकार है — (1) पुलाक — जो श्रमण-साधना की दृष्टि से पूर्ण पवित्रता को प्राप्त नहीं हुए हैं। (2) बकुश — वे, जिन साधकों में थोड़ा कषाय-भाव एवं आसक्ति होती है। (3) कुशील — जो साधु भिक्षु-जीवन के प्राथमिक-नियमों का पालन करते हुए भी द्वितीयक-नियमों का समुचित रूप से पालन नहीं करते हैं। ये सभी वास्तविक साधु-जीवन से निम्न श्रेणी के साधक हैं। (4) निर्ग्रन्थ-जिनकी मोह और कषाय की ग्रन्थियाँ क्षीण हो चुकी हैं। (5) स्नातक-जिनके समग्र घातीकर्म क्षय हो चुके हैं। ये दोनों उच्चकोटि के श्रमण हैं।

जैन श्रमण के मूलगुण

जैन-परम्परा में श्रमण-जीवन की कुछ आवश्यक योग्यताएँ मानी हैं, जिन्हें मूलगुणों के नाम से जाना जाता है। दिगम्बर-परम्परा के मूलाचार-सूत्र में श्रमण के 28 मूलगुण माने गए हैं — 1-5. पाँच महाव्रत, 6-10. पाँच इन्द्रियों का संयम, 11-15. पाँच समितियों का परिपालन, 16-21. छह

आवश्यक कृत्य, 22. केशलोच, 23. नग्नता, 24. अस्नान, 25. भूशयन, 26. अदन्तधावन, 27. खड़े रहकर भोजन ग्रहण करना और 28. एकभुक्ति-एक समय भोजन करना।

श्वेताम्बर-परम्परा में श्रमण के 28 मूलगुण माने गए हैं। श्वेताम्बर-परम्परा का वर्गीकरण दिगम्बर-परम्परा के वर्गीकरण से थोड़ा भिन्न है। श्वेताम्बर-ग्रन्थों के आधार पर श्रमण के 27 मूलगुण इस प्रकार हैं - 1-5. पंचमहाव्रत, 6. अरात्रिभोजन, 7-11. पांचों इन्द्रियों का संयम, 12. आन्तरिक-पवित्रता, 13. भिक्षु-उपाधि की पवित्रता, 14. क्षमा, 15. अनासक्ति, 16. मन की सत्यता, 17. वचन की सत्यता, 18. काया की सत्यता, 19-24. छह प्रकार के प्राणियों का संयम, अर्थात् उनकी हिंसा न करना, 25. तीन गुप्ति, 26. सहनशीलता, 27. संलेखना। समवायांग की सूची इससे किंचित् भिन्न है। समवायांग के अनुसार 27 गुण इस प्रकार हैं - 1-5. पंच महाव्रत, 6-10. पंच इन्द्रियों का संयम, 11-15. चार कषायों का परित्याग, 16. भावसत्य, 17. करणसत्य, 18. योगसत्य, 19. क्षमा, 20. विरागता, 21-24. मन, वचन और काया का निरोध, 25. ज्ञान, दर्शन और चारित्र से संपन्नता, 26. कष्ट-सहिष्णुता और 27. मरणान्त कष्ट का सहन करना। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जहाँ दिगम्बर-परम्परा में 28 मूलगुणों में आचरण के बाह्य तथ्यों पर अधिक बल दिया गया है, वहाँ श्वेताम्बर में आन्तरिक-विशुद्धि को अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। मनोशुद्धि मूलतः दोनों परम्पराओं में स्वीकृत है।

पंच महाव्रत

पंच महाव्रत श्रमण-जीवन के मूलभूत गुणों में माने गए हैं। जैन-परम्परा में पंच महाव्रत ये हैं - 1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अस्तेय, 4. ब्रह्मचर्य और 5. अपरिग्रह। ये पांचों व्रत गृहस्थ और श्रमण - दोनों के लिए विहित हैं, अन्तर यह है कि श्रमण-जीवन में उनका पालन पूर्ण रूप से करना होता है, इसलिए महाव्रत कहे जाते हैं। गृहस्थ-जीवन में उनका पालन आंशिक रूप से होता है, इसलिए गृहस्थ-जीवन के संदर्भ में अणुव्रत कहे जाते हैं। श्रमण इन पांचों महाव्रतों का पालन पूर्ण रूप से करता है। सामान्य स्थिति में इनके परिपालन के लिए अपवाद नहीं माने गए हैं। श्रमण केवल विशेष

परिस्थितियों में ही इन नियमों के परिपालन में अपवादमार्ग का आश्रय ले सकते हैं। समान्यतया, इन पंच महाव्रतों का पालन मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदन इन 3X3 नव कोटियों सहित करना होता है।

अहिंसा-महाव्रत

श्रमण को सर्वप्रथम स्व और पर की हिंसा से विरत होना होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दूषित मनोवृत्तियों के द्वारा आत्मा के स्वगुणों का विनाश करना स्व-हिंसा है। दूसरे प्राणियों को पीड़ा एवं हानि पहुँचाना पर-हिंसा है। श्रमण का पहला कर्तव्य स्व-हिंसा से विरत होना है, क्योंकि स्व-हिंसा से विरत हुए बिना पर की हिंसा से बचा नहीं जा सकता। श्रमण-साधक को जगत् के सभी त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा से भी विरत होना होता है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि भिक्षुजगत् में जितने भी प्राणी हैं, उनकी हिंसा जानकर अथवा अनजाने में न करे, न कराए और न हिंसा करनेवाले का अनुमोदन ही करे। भिक्षु प्राणवध क्यों न करे, इसके प्रतिउत्तर में कहा गया है कि हिंसा से, दूसरे का घात करने के विचार से, न केवल दूसरे को पीड़ा पहुँचती है, वरन् उससे आत्म-गुणों का भी घात होता है और आत्मा कर्म-मल से मलिन होती है। अहिंसा-महाव्रत के परिपालन में श्रमण-जीवन और गृहस्थ-जीवन में प्रमुख रूप से अंतर यह है कि जहाँ गृहस्थ-साधक केवल त्रस-प्राणियों की संकल्पी हिंसा का त्याग करता है, वहाँ श्रमण साधक त्रस और स्थावर, सभी प्राणियों की सभी प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है। हिंसा के चार प्रकार हैं - 1. आरम्भी, 2. उद्योगी, 3. विरोधी और 4. संकल्पी, में से गृहस्थ केवल संकल्पी-हिंसा का त्यागी होता है और श्रमण चारों ही प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है। श्रमण-जीवन में अहिंसा-महाव्रत का परिपालन किस प्रकार होना चाहिए, इसकी संक्षिप्त रूपरेखा दशवैकालिकसूत्र में मिलती है। उसमें कहा गया है कि समाधिवंत संयमी साधु तीन करण एवं तीन योग से पृथ्वी आदि सचित मिट्टी के ढेले आदि न तोड़े, न उन्हें पीसे, सजीव पृथ्वी पर एवं सचित धूलि से भरे हुए आसन पर नहीं बैठे, यदि उसे

बैठना हो, तो अचित्त भूमि पर आसन आदि को यतना से प्रमार्जित करके बैठे। संयमी साधु सचित्त जल, वर्षा, ओले, बर्फ और ओस के जल को भी नहीं पीए, किन्तु जो तपा हुआ या सौवीर आदि सचित्त धोवन (पानी) को ही ग्रहण करे। किसी प्रकार की अग्नि को साधु उत्तेजित नहीं करे, छुए नहीं, सुलगाए नहीं तथा उसको बुझाए भी नहीं। इसी प्रकार, साधु किसी प्रकार की हवा नहीं करे तथा गरम पानी, दूध या आहार आदि को फूंक से ढंडा भी न करे। साधु तृणों, वृक्षों तथा उनके फल, फूल, पत्ते आदि को तोड़े नहीं, काटे नहीं, लता-कुंजों में बैठे नहीं। इसी प्रकार, साधु त्रास-प्राणियों में भी किसी जीव की मन, वचन और काय से हिंसा न करे। पूर्णरूपेण हिंसा से बचने के लिए साधु को यही निर्देश दिया गया है कि वह प्रत्येक कार्य का संपादन करते समय जाग्रत रहे, ताकि किसी प्रकार की हिंसा सम्भव न हो।

अहिंसा-महाव्रत के सम्यक् पालन के लिए पांच भावनाओं का विधान है - 1. ईर्यासमिति - चलते-फिरते अथवा बैठते-उठते समय सावधानी रखना, 2. वचन-समिति-हिंसक अथवा किसी के मन को दुःखाने वाले वचन नहीं बोलना, 3. मन-समिति -मन में हिंसक-विचारों को स्थान नहीं देना, 4. एषणा-समिति - अदीन होकर ऐसा निर्दोष आहार प्राप्त करने का प्रयास करना, जिसमें श्रमण के लिए कोई हिंसा न की गई हो, 5. निक्षेपणा-समिति - साधु-जीवन के पात्रादि उपकरणों को सावधानीपूर्वक प्रमार्जन करके उपयोग में लेना अथवा उन्हें रखना और उठाना।

अहिंसा महाव्रत के अपवाद

सामान्यतया, अहिंसा-महाव्रत के सन्दर्भ में मूल-आगमों में अधिक अपवादों का कथन नहीं है। मूल-आगमों में अहिंसाव्रत सम्बन्धी जो अपवाद हैं, उनमें त्रास जीवों की हिंसा के संदर्भ में कोई अपवाद नहीं है, केवल वनस्पति एवं जल आदि को परिस्थितिबश छूने अथवा आवागमन की स्थिति में उनकी होने वाली हिंसा के अपवादों का उल्लेख है। यद्यपि निशीथघूर्णि आदि परवर्ती ग्रन्थों में मुनिसंघ या साध्वी-संघ के रक्षणार्थ सिंह आदि हिंसक-प्राणियों एवं दुराचारी मुनष्यों की हिंसा करने सम्बन्धी

अपवादों का भी उल्लेख है। वस्तुतः परवर्ती-साहित्य में जिन अधिक अपवादों का उल्लेख है, उनके पीछे संघ (समुदाय) की रक्षा का प्रश्न जुड़ा हुआ है। इसी आधार पर धर्म-प्रभावना के निमित्त होने वाली जल, वनस्पति एवं पृथ्वी सम्बन्धी हिंसा को भी स्वीकृति प्रदान कर दी गई।

सत्य-महाव्रत

असत्य का सम्पूर्ण त्याग श्रमण का दूसरा महाव्रत है। श्रमण मन, वचन एवं काय तथा कृत-कारित-अनुमोदन की नवकोटियों सहित असत्य से विरत होन की प्रतिज्ञा करता है। श्रमण को मन, वचन और काय - तीनों से सत्य पर आरुढ़ होना चाहिए। मन, वचन और काय में एकरूपता का अभाव ही मृषावाद है। इसके विपरीत, मन, वचन और काय की एकरूपता ही सत्य-महाव्रत का पालन है। सत्य-महाव्रत के संदर्भ में वचन की सत्यता पर भी अधिक बल दिया गया है। साधारण रूप में सत्य-महाव्रत से असत्य भाषण का वर्जन समझा जाता है। जैन-आगमों में असत्य के चार प्रकार कहे गए हैं - 1. होते हुए नहीं कहना, 2. नहीं होते हुए उसका अस्तित्व बताना, 3. वस्तु कुछ है और उसे कुछ और बताना, 4. हिंसाकारी, पापकारी और अप्रिय वचन बोलना। उपर्युक्त चारों प्रकार का असत्य भाषण श्रमण के लिए वर्जित है।

श्रमण साधक को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, इसका विस्तृत विवेचन दशवैकालिकसूत्र के सुवाक्यशुद्धि नामक अध्ययन में है। जैन-आगमों के अनुसार, भाषा चार प्रकार की होती है - 1. सत्य, 2. असत्य, 3. मिश्र और 4. व्यावहारिक। इनमें असत्य और मिश्र भाषा का व्यवहार श्रमण के लिए वर्जित है। इतना ही नहीं, सत्य और व्यावहारिक-भाषा भी यदि पाप और हिंसा की संभावना से युक्त है, तो उसका व्यवहार भी श्रमण के लिए वर्जित है। श्रमण केवल अहिंसक एवं निर्दोष सत्य तथा व्यावहारिक-भाषा बोल सकता है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि प्रज्ञावान् भिक्षु अवक्तव्य (न बोलने योग्य) सत्य भाषा भी न बोले। इसी प्रकार, वह भाषा जो थोड़ी सत्य और थोड़ी असत्य (नरो वा कुंजरो वा) है, ऐसी मिश्र भाषा का व्यवहार भी वाक्संयमी साधु न करे। बुद्धिमान भिक्षु केवल असत्य-अमृषा (व्यावहारिक) भाषा तथा सत्य भाषा को भी पापरहित,

अकर्कश तथा संदेहरहित होने पर ही विचारपूर्वक बोले। इसी प्रकार, साधु निश्चयकारी वचन भी बोले, क्योंकि अघटित भविष्य के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जो कथन भूत और वर्तमान के संदर्भ में संदेहरहित हो, उसी के विषय में निश्चयात्मक-भाषा बोले। जिन शब्दों से दूसरे प्राणियों के हृदय में ठेस पहुँचे, ऐसे हिंसक एवं कठोर शब्दों को, चाहे वे सत्य ही क्यों न हों, भिक्षु न बोले। इसी प्रकार, भिक्षु पारिवारिक-सम्बन्धों के सूचक शब्द, जैसे - हे माता, हे पुत्र आदि तथा अपमानजनक शब्द, जैसे - हे मूर्ख आदि का भी प्रयोग न करे। जिस भाषा में हिंसा की संभावना हो, ऐसी भाषा का प्रयोग भी न करे। काम, क्रोध, लोभ, भय एवं हास्य के वशीभूत होकर पापकारी, निश्चयकारी, दूसरों के मन को दुःखाने वाली भाषा, चाहे वह मनोविनोद में ही क्यों न कही गई हो, का बोलना भिक्षु के लिए सर्वथा घृजित है। श्रमण को स्वार्थ अथवा परार्थ, क्रोध अथवा भय के वशीभूत होकर असत्य न तो स्वयं बोलना चाहिए और न किसी को असत्य बोलने के लिए प्रेरित ही करना चाहिए, क्योंकि असत्य वचन अविश्वास का कारण है। इस प्रकार, जैन-परम्परा में असत्य और अप्रिय-सत्य-दोनों का निषेध है। इस सम्पूर्ण विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन-आचार्यों की दृष्टि में भाषा सम्बन्धी सत्य का स्थान अहिंसा के बाद है, उन्होंने सत्य को अहिंसक बनाने का प्रयास किया है। सत्य अहिंसक बना रहे, इसलिए संभाषण के क्षेत्र में विशेष सतर्कता रखने का निर्देश है। निश्चयकारी-भाषा का निषेध मात्र इसीलिए किया गया है कि वह अहिंसा और अनेकान्त की कसौटी पर खरी नहीं उतरती।

लेकिन, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जैन-आचार्यों की दृष्टि में सत्य का मूल्य अधिक नहीं है, अथवा उन्होंने सत्य की अवहेलना की है। जैन-आचार्यों ने सत्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, उनकी दृष्टि में सत्य तो भगवान् है (तं सच्चं भगवं), वही समग्र लोक में सारभूत है। महावीर स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सत्य में मन की स्थिरता करो, जो सत्य का वरण करता है, वह बुद्धिमान समस्त पापकर्मों का क्षय कर देता है। सत्य की आज्ञा में विचरण करने वाला साधक इस संसार से पार हो जाता है।

सत्य-महाव्रत के पालन के लिए पाँच भावनाओं का विधान है -

1. विचारपूर्वक बोलना चाहिए, बिना विचारे बोलने से असत्य सम्भव है, 2. क्रोध का त्याग करके बोलना चाहिए, क्योंकि क्रोध की अवस्था में विवेक कुण्ठित हो जाता है और इसलिए असत्य बोलने की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं, 3. लोभ का त्याग करके बोलना चाहिए, क्योंकि लोभ के वशीभूत होकर असत्य बोलना सम्भव है, 4. भय का त्याग करके बोलना चाहिए, क्योंकि भय के कारण असत्य बोलना सम्भव है, 5. हास्य का त्याग करके बोलना चाहिए, क्योंकि हास्य के प्रसंग में भी असत्य भाषण की संभावनाएँ रहती हैं। जो श्रमण उपर्युक्त पाँचों भावनाओं का ध्यान रखते हुए बोलता है, तब ही यह कहा जा सकता है कि उसने सत्य-महाव्रत स्वीकार किया है, क्रियान्वित किया है और जिनों की आज्ञा के अनुसार उसका पालन किया है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन-विचारकों ने भाषा-सम्बन्धी विवेक के लिए काफी गहराई से विचार किया है।

सत्य-महाव्रत के अपवाद

सत्य-महाव्रत के सन्दर्भ में मूल-आगमों के जिन अपवादों का उल्लेख मिलता है, उनमें प्रमुखतया सत्य को अहिंसक बनाए रखने का दृष्टिकोण ही परिलक्षित होता है। मूल-आगमों के अनुसार, जिन परिस्थितियों में सत्य और अहिंसा में विरोध खड़ा हो और उनमें किसी एक का पालन ही सम्भव हो, ऐसी स्थिति में अहिंसा के व्रत की रक्षा के लिए सत्य के सन्दर्भ में अपवाद को स्वीकार किया गया है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि यदि भिक्षु मार्ग में जा रहा हो और सामने से कोई शिकारी व्यक्ति आकर उससे पुछे कि - श्रमण ? क्या तुमने किसी मनुष्य अथवा पशु आदि को इधर आते देखा है ? इस प्रसंग में, प्रथम तो भिक्षु उसके प्रश्न की उपेक्षा करके मौन रहे। यदि मौन रहने जैसी स्थिति न हो, अथवा मौन रहने का अर्थ स्वीकृति लगाए जाने की सम्भावना हो, तो जानता हुआ भी यह कह दे कि मैं नहीं जानता। यहाँ यह स्पष्ट रूप से अपवादमार्ग की उल्लेख है। निशीथचूर्णि में भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन है। बृहदकल्पभाष्य में गीतार्थ के द्वारा नवदीक्षित भिक्षुओं को संयम में स्थिर रखने के लिए भी सत्य-महाव्रत के कुछ अपवादों को स्वीकार किया गया है, यद्यपि उस

प्रसंग में गीतार्थ द्वारा आचरण सम्बन्धी शिथिलता को दबाने का ही प्रयास परिलक्षित होता है। वस्तुतः, जैन-परम्परा का बुनियादी दृष्टिकोण यह नहीं हो सकता की व्यक्ति अपनी कमजोरियों को दबाने के लिए असत्य का आश्रय ले। आचारांगसूत्र के उक्त सन्दर्भ में भी हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि ग्रन्थकार का मूलभूत दृष्टिकोण अहिंसा-महाव्रत की रक्षा है। उसमें भी प्रथमतः साधक को अपने आत्म बल को जाग्रत रखते हुए मोन रहने का ही निर्देश है। महावीर के जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जहाँ उन्होंने सम्भावित आपत्ति को सहन किया, लेकिन असत्य भाषण नहीं करते हुए मौन रहकर ही अहिंसा-महाव्रत की मर्यादा का पालन किया। वस्तुतः, आगमिक-दृष्टिकोण यह है कि यथा सम्भव सत्य और अहिंसा-दोनों का ही पूर्णतया पालन किया जाए, लेकिन यदि साधक में इतना आत्मबल नहीं है कि वह मौन रहकर दोनों का ही पालन कर सके, तो ऐसी स्थिति में उनके लिए अपवाद-मार्ग का उल्लेख है। आचार्य शीलांक ने आचारांग के उक्त सन्दर्भ के समान ही अपनी सूत्रकृतांगवृत्ति में सत्य के अपवाद के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से कहा है कि जो प्रवचना की बुद्धि से रहित, मात्र संयम की रक्षा के लिए एवं कल्याण-भावना से बोला जाता है, वह सत्य दोषरूप नहीं है।

अस्तेय-महाव्रत

श्रमण का यह तीसरा महाव्रत है। सामान्यतया, भिक्षु को बिना स्वामी के आज्ञा के एक तिनका भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। भिक्षु अपनी जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं को तभी ग्रहण कर सकता है, जबकि वे उनके स्वामी के द्वारा उसे दी गई हो। अदत्त वस्तु का न लेना ही श्रमण का अस्तेय-महाव्रत है। अस्तेय-महाव्रत का पालन भी श्रमण को मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदन की नव-कोटियों सहित करना चाहिए। श्रमण के लिए सामान्य नियम यही है कि अपनी आवश्यकताओं को पूर्ति भिक्षा के द्वारा ही करे। न केवल नगर अथवा गाँव में वरन् जंगल में भी यदि उसे किसी वस्तु की आवश्यकता हो, तो बिना दिये स्वयं ही ग्रहण न करे। भोजन, वस्त्र, निवास, शय्या एवं औषध आदि सभी उनके स्वामी की अनुमति तथा उनके द्वारा प्रदत्त किए

जाने पर ही ग्रहण करना चाहिए।

जैन-दृष्टिकोण के अनुसार, अस्तेय-महाव्रत का पालन करना इसलिए आवश्यक है कि चौर्यकर्म भी एक प्रकार की हिंसा है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि अर्थ या सम्पत्ति प्राणीयों का बाह्य-प्राण है, क्योंकि इस पर उनका जीवन आधारित रहता है, इसलिए किसी की वस्तु का हरण उसके प्राणों के हनन के समान है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी कहा गया है कि यह अदत्तादान (चोरी), संताप, मरण एवं भयरूपी पातकों का जनक है, दूसरे के धन के प्रति लोभ उत्पन्न करता है। यह अपयश का कारण और अनार्य-कर्म है, साधुजन इसकी सदैव निन्दा करते हैं, इसीलिए दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि श्रमण छोटी अथवा बड़ी, सचित्त अथवा अचित्त कोई भी वस्तु, चाहे वह दाँत साफ करने का तिनका ही क्यों न हो, बिना दिए न ले। न स्वयं उसे ग्रहण करे, न अन्य के द्वारा ही उसे ले और न लेने वाले का अनुमोदन ही करे।

अस्तेय-महाव्रत के सम्यक् परिपालन के लिए आचारांगसूत्र में पाँच भावनाओं का विधान है - 1. श्रमण विचारपूर्वक परिमित परिमाण में ही वस्तुओं की याचना करे, 2. याचित आहारादि वस्तुओं का उपभोग न करे, 3. श्रमण अपने लिए निश्चित परिमाण में ही वस्तुओं की याचना करे, 4. श्रमण को जब भी कोई आवश्यकता हो, उस वस्तु की मात्रा का परिमाण निश्चित करके ही याचना करे, 5. अपने सहयोगी श्रमणों के लिए भी विचारपूर्वक परिमित परिमाण में ही वस्तु की याचना करे। कुछ आचार्यों ने अस्तेय-महाव्रत के पालन के लिए इन पाँचों बातों को भी आवश्यक माना है - 1. हमेशा निर्दोष स्थान पर ही ठहरना चाहिए, 2. स्वामी की आज्ञा से ही आहार अथवा ठहरने का स्थान ग्रहण करना चाहिए, 3. ठहरने के लिए जितना स्थान ग्रहस्थ ने दिया है, उससे अधिक का उपयोग नहीं करना चाहिए, 4. गुरु की आज्ञा के पश्चात् ही आहार आदि का उपभोग करना चाहिए, 5. यदि किसी स्थान पर पूर्व में कोई श्रमण ठहरा हो, तो उसकी आज्ञा को प्राप्त करके ही ठहरना चाहिए।

अस्तेय महाव्रत के अपवाद

अस्तेय-महाव्रत के सन्दर्भ में जिन अपवादों का उल्लेख है, उनका

सम्बन्ध आवास से है। व्यवहारसूत्र में कहा गया है कि यदि भिक्षु-संघ लम्बा विहार कर किसी अज्ञात ग्राम में पहुँचता है और उसे ठहरने के लिए स्थान नहीं मिल रहा हो तथा बाहर वृक्षों के नीचे ठहरने से भयंकर शील की वेदना अथवा जंगली पशुओं के उपद्रव की सम्भावना हो, तो ऐसी स्थिति में वह बिना आज्ञा प्राप्त किए भी योग्य स्थान पर ठहर जाए और उसके बाद आज्ञा प्राप्त करने का प्रयास करे।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

यह श्रमण का चतुर्थ महाव्रत है। जैन-आगमों में अहिंसा के बाद ब्रह्मचर्य का ही महत्वपूर्ण स्थान है। कहा गया है कि जो दुख दुष्कर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता है, उसे देव, दानव और यक्ष आदि सभी नमस्कार करते हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है, यम और नियमरूप प्रधान गुणों से युक्त है। ब्रह्मचर्य का पालन करने से मनुष्य का अन्तःकरण प्रशस्त, गम्भीर और स्थिर हो जाता है। ब्रह्मचर्य साधुजनों द्वारा आचरित मोक्ष का मार्ग है। पाँचों महाव्रतों में अत्यन्त (निरपवाद) पालन किया जाने वाला है। ब्रह्मचर्य भंग होने पर सभी व्रत तत्काल भंग हो जाते हैं। सभी व्रत-नियम, शील, तप, गुण आदि दही के समान मथित हो जाते हैं, चूर-चूर हो जाते हैं, खंडित हो जाते हैं, उनका विनाश हो जाता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में श्रमण के लिए ब्रह्मचर्य-महाव्रत को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। अब्रह्मचर्य आसक्ति और मोह का कारण होने से आत्मा के पतन का महत्वपूर्ण कारण है, अतः आत्मविकास के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। जैन-श्रमण के लिए समस्त प्रकार का मैथुन त्रिकरण और त्रियोग से वर्जित है। ब्रह्मचर्य की साधना में जितनी आंतरिक-सावधानी रखना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक सावधानी बाह्य-जीवन एवं संयोगों के लिए भी आवश्यक है। क्योंकि उच्चकोटि का श्रमण भी निमित्त के मिलने पर बीजरूप में रही हुई वासना के द्वारा कब पतन के मार्ग पर चला जाएगा, यह कहना कठिन है, अतः ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधक को अपने बाह्य-जीवन में उपस्थित होने वाले अवसरों के प्रति भी सदैव जाग्रत रहना आवश्यक है। उत्तरार्ध

ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त निम्न बातों से बचने का निर्देश किया गया है — 1. स्त्री, पशु और नपुंसक जिस स्थान पर रहते हों, भिक्षु वहाँ न ठहरे, 2. भिक्षु श्रृंगार-रसोत्पादक स्त्री-कथा न करे, 3. भिक्षु स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे (उनका स्पर्श भी न करे), 4. स्त्रियों के अंगोपांग विषय-बुद्धि से न देखे, 5. आसपास से आते हुए स्त्रियों के कुंजन, गायन, हास्य, क्रन्दित शब्द, रुदन और विरह से उत्पन्न विलाप को न सुने, 6. गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोगों (रति-क्रीड़ाओं) का स्मरण न करे, 7. पुष्टिकारक (गरिष्ठ) भोजन न करे, 8. मर्यादा से अधिक भोजन न करे, 9. शरीर का श्रृंगार न करे, 10. इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति न रखे।

मूलाचार में अब्रह्मचर्य के दस कारणों का उल्लेख है — 1. विपुलाहार, 2. शरीर श्रृंगार, 3. गन्ध माल्य धारण, 4. गाना-बजाना, 5. उच्च शय्या, 6. स्त्री-संसर्ग, 7. इन्द्रियों के विषयों का सेवन, 8. पूर्वरति स्मरण, 9. काम भोग की सामग्री का संग्रह और 10. स्त्री सेवा। तत्त्वार्थसूत्र में इनमें से पांच का ही उल्लेख है। वस्तुतः उपर्युक्त प्रसंगों का उल्लेख ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त ही किया गया है। सामान्य नियम तो यह है कि भिक्षु को जहाँ भी अपने ब्रह्मचर्य-महाव्रत के खंडन की संभावना प्रतीत हो, उन सभी स्थानों का उसे परित्याग कर देना चाहिए। जैन आचार-दर्शन में श्रमण एवं श्रमणी के पारस्परिक-व्यवहार के नियमों का प्रतिपादन करने भी प्रमुख रूप से यही दृष्टिकोण रहा है कि साधक का ब्रह्मचर्यव्रत अक्षुण्ण रह सके। श्रमण और श्रमणी के पारस्परिक-व्यवहार के संदर्भ में ये नियम उल्लेखनीय हैं— 1. उपाश्रय अथवा मार्ग में अकेला मुनि किसी श्रमणी अथवा स्त्री के साथ न बैठे, न खड़ा रहे और न उनसे कोई बात-चीत ही करे, 2. अकेला श्रमण दीन में भी किसी अकेली साध्वी या स्त्री को अपने आवासस्थान पर न आने दे, 3. यदि श्रमण-समुदाय के पास ज्ञान प्राप्ति के निमित्त से कोई साध्वी या स्त्री आई हो, तो किसी प्रौढ़ गृहस्थ-उपासक एवं उपासिका की उपस्थिति में ही उसे ज्ञानार्जन कराए, 4. प्रवचन-काल के अतीरिक्त श्रमण अपने आवासस्थान पर साध्वीयों एवं स्त्रीयों को ठहरने न दे, 5. श्रमण एक दिन की बालिका का भी स्पर्श न करे (साध्वीयों के संदर्भ में यह निषेध बालक अथवा पुरुष के लिए समझना चाहिए), 6. जहाँ

गुरु अथवा वरिष्ठ मुनि शयन करते हो, उसी स्थान पर शयन करे, एकान्त में नहीं सोए।

इस प्रकार, जैन आचार-विधि में जहाँ ब्रह्मचर्य-पालन को इतना अधिक महत्व दिया गया है, वहाँ उसकी रक्षा के लिए भी कठोरतम नियमों एवं मर्यादाओं का विधान है। आचारांगसूत्र में ब्रह्मचर्य-महाव्रत की पांच भावनाएँ कही गई हैं -1. निर्ग्रन्थ स्त्री सम्बन्धी बातें न करे, क्योंकि ऐसा करने से उसके चित्त की शांति भंग होकर धर्म से भ्रष्ट होना सम्भव है, 2. स्त्रियों के अंगोपांग को विषय-बुद्धि से न देखे, 3. पूर्व में की हुई कामक्रीड़ा का स्मरण न करे, 4. मात्रा से अधिक एवं कामोद्दिपक आहार न करे, 5. स्त्री, मादापशु एवं नंसुपक के आसन एवं शय्या का उपयोग करे। जो श्रमण उपर्युक्त सावधानियों को रखते हुए ब्रह्मचर्य-महाव्रत का पालन करता है, उसके सम्बन्ध में ही यह कहा जा सकता है कि वह संसार के सभी दुखों से छुटकर वीतराग-अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मचर्यव्रत के अपवाद

सामान्यतया, ब्रह्मचर्यव्रत में कोई भी अपवाद स्वीकार नहीं किया गया है। ब्रह्मचर्य-महाव्रत का निरपवाद रूप से पालन करना ही अपेक्षित है। मूल-आगमों में ब्रह्मचर्य के खण्डन करने के लिए किसी भी अपवाद-नियम को उल्लेख उपलब्ध नहीं है। ब्रह्मचर्य-महाव्रत के सन्दर्भ में जिन अपवादों का उल्लेख मूल-आगमों में पाया जाता है, उनका सम्बन्ध मात्र ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा के नियमों से है। सामान्यरूप से श्रमण के लिए स्त्री स्पर्श वर्जित है, लेकिन अपवादरूप में वह नदी में डूबती हुई, अथवा क्षिप्तचित्त भिक्षुणी को पकड़ सकता है। इसी प्रकार, रात्री में सर्पदंश की स्थिति हो और अन्य कोई उपचार का मार्ग न हो, तो श्रमण स्त्री से और साध्वी पुरुष से अवमार्जन आदि स्पर्श सम्बन्धी चिकित्सा कराए, तो वह कल्थ है, साथ ही साधु या साध्वी के पैर में काँटा लग जाए और अन्य किसी भी तरह निकालने की स्थिति न हो, तो वे परस्पर एक-दूसरे से निकलवा सकते हैं।

अपरिग्रह-महाव्रत

यह श्रमण का पाँचवाँ महाव्रत है। श्रमण को समस्त बाह्य (स्त्री,

संपत्ति, पशु आदि) तथा आभ्यन्तर (क्रोध, मान आदि) परिग्रह का त्याग करना होता है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि श्रमण को सभी प्रकार के परिग्रह का, चाहे वह अल्प हो या अधिक हो, चाहे वह जीवनयुक्त (शिष्य आदि पर ममत्व रखना अथवा माता-पिता की आज्ञा के बिना किसी को शिष्य बनाकर अपने पास रखना जीवन युक्त परिग्रह है) हो अथवा निर्जीव वस्तुओं का हो, त्याग कर देना होता है। श्रमण मन, वचन और काय-तीनों से ही न परिग्रह रखे, न रखवाए और न परिग्रह रखने का अनुमोदन करे। परिग्रह या संचय करने की वृत्ति आन्तरिक-लोभ की ही घोटक है, इसलिए जो श्रमण किसी प्रकार का संग्रह करता है, वह श्रमण न होकर गृहस्थ ही है।

जैन-आगमों के अनुसार, परिग्रह का वास्तविक अर्थ बाह्य-वस्तुओं का संग्रह नहीं वरन् आन्तरिक-मूर्च्छाभाव या आसक्ति ही है। तत्त्वार्थसूत्र में मूर्च्छा या आसक्ति को ही परिग्रह कहा गया है। यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर-दोनों परम्पराएँ परिग्रह की दृष्टि से आसक्ति को ही प्रमुख तत्त्व स्वीकार करती हैं, तथापि श्रमण-जीवन में बाह्य-वस्तुओं की दृष्टि से भी परिग्रह के सम्बन्ध में विचार किया गया है। दिगम्बर-परम्परा श्रमण के बाह्य-परिग्रह को ही अत्यन्त सीमित करने का प्रयास करती है, जबकि श्वेताम्बर-परम्परा श्रमण के बाह्य-परिग्रह की दृष्टि से अधिक लोच पूर्ण दृष्टिकोण रखती है। यही कारण है कि श्वेताम्बर-परम्परा में श्रमण के बाह्य-परिग्रह के सन्दर्भ में परवर्तीकाल में काफी परिवर्द्धन एवं विकास देखा जाता है।

जैन-आगमों में परिग्रह दो प्रकार माना गया है-1. बाह्य परिग्रह और 2. आभ्यन्तरिक-परिग्रह। बाह्य-परिग्रह में इन वस्तुओं का समावेश होता है - 1. क्षेत्र (खुली भूमि), 2. वस्तु (भवन), 3. हिरण्य (रजत), 4. स्वर्ण, 5. धन (सम्पत्ति), 6. धान्य, 7. द्विपद (दास-दासी), 8. चतुष्पद (पशु आदि) और 9. कुप्य (घर-गृहस्थी का सामान)। जैन-श्रमण उक्त सब परिग्रहों को परित्याग करता है। इतना ही नहीं, उसे चौदह प्रकार के आभ्यन्तरिक-परिग्रह का भी त्याग करना होता है, जैसे - 1. मिथ्यात्व, 2. हास्य, 3. रति, 4. अरति, 5. भय, 6. शोक, 7. जुगुप्सा, 8. स्त्रीवेद, 9.

पुरुषवेद, 10. नंपुसकवेद, 11. क्रोध, 12. मान, 13. माया और 14. लोभ। यद्यपि श्रमण के लिए सभी प्रकार का आभ्यन्तर एवं बाह्य-परिग्रह त्याज्य है, तथापि भिक्षु-जीवन की आवश्यकताओं की दृष्टि से श्रमण को कुछ वस्तुएँ रखने की अनुमति है। बाह्य-परिग्रह की दृष्टि से श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं में किंचित मतभेद है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार, श्रमण की आवश्यक वस्तुओं (उपधि), को तीन भागों में बाटा जा सकता है - 1. ज्ञानोपधि (शास्त्र-पुस्तक आदि), 2. संयमोपधि (मोर के पंरों से बनी पिच्छि), 3. शौचोपधि (शरीर-शुद्धि के लिए जल ग्रहण करने का पात्र या कमण्डलु)। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार, मुनि को वस्त्र आदि अन्य सामाग्री के रखने का निषेध है।

श्वेताम्बर-परम्परा के मूल-आगमों के अनुसार, भिक्षु चार प्रकार की वस्तुएँ रख सकता है - 1. वस्त्र, 2. पात्र, 3. कम्बल और 4. रजोहरण। आचारांगसूत्र के अनुसार स्वथ्य मुनि एक वस्त्र रख सकता है, साध्वियों का चार वस्त्र रखने का विधान है। इसी प्रकार, मुनि एक से अधिक पात्र नहीं रख सकता। आचारांग में मुनि के वस्त्रों के नाप के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट वर्णन नहीं है, यद्यपि साध्वी के चार वस्त्रों में एक दो हाथ का, दो तीन हाथ के और एक चार हाथ का होना चाहिए। प्रश्न-व्याकरणसूत्र में मुनि के लिए चौदह प्रकार के उपकरणों का विधान है- 1. पात्र-जो कि लकड़ी, मिट्टी अथवा तुम्बी का हो सकता है, 2. पात्रबन्ध-पात्रों को बाधने का कपड़ा, 3. पात्र स्थापना-पात्र रखने का कपड़ा, 4. पात्र-केसरीका-पात्र पोछने का कपड़ा, 5. पटल-पात्र ढँकने का कपड़ा, 6. रजस्ताण, 7. गोच्छक, 8-10. प्रच्छादक-ओढ़ने की चादर, मुनि विभिन्न नापों की तीन चादरें रख सकता है, इसलिए ये तीन उपकरण माने गये हैं, 11. रजोहरण, 12. मुखवस्त्रिका, 13. मात्रक और 14. चोलपट्ट। ये चौदह वस्तुएँ रखना श्वेताम्बर-मुनि के लिए आवश्यक है, क्योंकि इनके अभाव में वह संयम का पालन समुचित रूप से नहीं कर सकता। बृहदकल्पभाष्य एवं परवर्ती ग्रन्थों में उपर्युक्त सामग्रीयों के अतिरिक्त भी चिलमिलिका (पदी), दण्ड, छाता, पादप्रोक्षण, सूचिका (सुई) आदि अनेक वस्तुओं के रखने की अनुमति है। विस्तार-भय उन सब की चर्चा में जाना आवश्यक नहीं है। वस्तुतः, ऐसा प्रतीत होता है कि जब एक

बार मुनि आवश्यक उपकरणों में अहिंसा एवं संयम की रक्षा करने के लिए वृद्धि कर दी गई, तो परवर्ती आचार्यगण न केवल संयम की रक्षा के लिए, वरन् अपनी सुख-सुविधाओं के लिए भी मुनि के उपकरणों में वृद्धि करते रहे हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो कमजोरियों के दबाने तथा भोजन-वस्त्र की प्राप्ति के निमित्त भी उपकरण रखे जाने लगे। परतीर्थिक-उपकरण, गुलिका, खोल आदि इसके उदाहरण हैं।

वस्तुतः, जैन-श्रमण के लिए जिस रूप में आवश्यक सामग्री रखने का विधान है, उसमें संयम की रक्षा ही प्रमुख है। उसके उपकरण धर्मोपकरण कहे जाते हैं, अतः मुनि को वे ही वस्तुएं अपने पास रखनी चाहिए, जिनके द्वारा वह संयम-यात्रा का निर्वाह कर सके। इतना ही नहीं, उसे उन उपकरणों पर तो क्या, अपने शरीर पर भी महत्व नहीं रखना चाहिए। अपरिग्रह-महाव्रत के लिए जीन पांच भावनाओं का विधान किया गया है, वे पांचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति का निषेध करती हैं। मुनि को इन्द्रियों के विषयों में आसक्त और कषायों के वंशीभूत नहीं होना चाहिए, यही उसकी अपरिग्रह-वृत्ति है।

अपरिग्रह-महाव्रत के अपवाद

सामान्यतया, दिगम्बर-मुनि के पूर्वोक्त तीन तथा श्वेताम्बर-मुनि के लिए पूर्व निर्दिष्ट चौदह उपकरणों के रखने का ही विधान है। विशेष परिस्थितियों में वह उनसे अधिक उपकरण भी रख सकता है, उदाहरणार्थ -- भिक्षु सेवा भाव की दृष्टि से अतीरिक्त पात्र रख सकता है, अथवा विष-निवारण के लिए स्वर्ण घिसकर उसका पानी रोगी को देने के लिए वह स्वर्ण को ग्रहण भी कर सकता है। इसी प्रकार, अपवादीय-स्थिति में वह छत्र, चर्म-छेदन आदि अतिरिक्त वस्तुएं रख सकता है तथा वृद्धावस्था एवं बीमारी के कारण एक स्थान पर अधिक समय तक ठहर भी सकता है। वर्तमानकाल में जैन-श्रमणों द्वारा रखे जाने वाली पुस्तक, लेखनी, कागज, मसि आदि वस्तुएं भी अपरिग्रह-व्रत का अपवाद ही हैं। प्राचीन ग्रन्थों में पुस्तक रखना प्रायश्चित्त योग्य अपराध था।

रात्रिभोजन-परित्याग

रात्रिभोजन-परित्याग दिगम्बर-परम्परा के अनुसार श्रमण का मूलगुण

है। श्वेताम्बर-परम्परा में रात्रि-भोजन-परित्याग का उल्लेख छठवें महाव्रत के रूप में भी हुआ है। दशवैकालिकसूत्र में इसे छठवाँ महाव्रत कहा गया है। मुनि सम्पूर्ण रूप से रात्रि-भोजन का परित्याग करता है। रात्रि-भोजन का निषेध अहिंसा के महाव्रत की रक्षा एवं संयम की रक्षा - दोनों ही दृष्टि से आवश्यक माना गया है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि मुनि सूर्य के अस्त हो जाने पर सभी प्रकार के आहारादि के भोग की इच्छा मन से भी न करे। सभी महापुरुषों ने इसे नित्य-तप का साधन कहा है। यह एक समय भोजन की वृत्ति संयम के अनुकूल है, क्योंकि रात्रि में आहार करने से अनेक सूक्ष्म जीवों की हिंसा की सम्भावना रहती है। रात्रि में पृथ्वी पर ऐसे सूक्ष्म, त्रस एवं स्थावर जीव व्याप्त रहते हैं कि रात्रि-भोजन में उनकी हिंसा से बचा नहीं जा सकता है। यही कारण है कि निर्ग्रन्थ मुनियों के लिए रात्रि-भोजन का निषेध है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने रात्रि-भोजन के विषय में दो आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। प्रथम तो यह कि दिन की अपेक्षा रात्रि में भोजन के प्रति तीव्र आसक्ति रहती है और रात्रि-भोजन करने से ब्रह्मचर्य-महाव्रत का निर्विघ्न पालन संभव नहीं होता। दूसरे, रात्रि-भोजन में भोजन के पकाने अथवा प्रकाश के लिए जो अग्नि या दीपक प्रज्वलित किया जाता है, उसमें भी उनके जन्तु आकर जल जाते हैं तथा भोजन में भी गिर जाते हैं, अतः रात्रि-भोजन हिंसा से मुक्त नहीं है।

गुप्ति एवं समिति

पूर्वोक्त महाव्रतों के रक्षण एवं उनकी परिपुष्टि करने के लिए जैन-परम्परा में पांच समितियों और तीन गुप्तियों का विधान है। इन्हें अष्ट-प्रवचनमाता भी कहा जाता है। ये आठ गुण श्रमण-जीवन का संरक्षण उसी प्रकार करते हैं, जैसे माता अपने पुत्र का करती है, इसीलिए इन्हें माता कहा गया है। इनमें तीन गुप्तियाँ श्रमण-साधना का निषेधात्मक-पक्ष प्रस्तुत करती हैं और पांच समितियाँ विधेयात्मक-पक्ष प्रस्तुत करती हैं।

तीन गुप्तियाँ

गुप्ति शब्द गोपन से बना है, जिसका अर्थ है-खींच लेना, दूर कर लेना। गुप्ति शब्द का दूसरा अर्थ ढँकने वाला या रक्षा-कवच भी है। प्रथम

अर्थ के अनुसार मन, वचन और काया को अशुभ प्रवृत्तियों से हटा लेना गुप्ति है और दूसरे अर्थ के अनुसार, आत्मा की अशुभ से रक्षा करना गुप्ति है। गुप्तियाँ तीन हैं - 1. मनोगुप्ति, 2. वचन-गुप्ति और 3. काय-गुप्ति।

1. मनोगुप्ति - मन को अप्रशस्त, कुत्सित एवं अशुभ विचारों से दूर रखना मनोगुप्ति है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार, श्रमण सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ की हिंसक-प्रवृत्तियों में जाते हुए मन को रोकें, यही मनोगुप्ति है। श्रमण को दूषित वृत्तियों में जाते हुए मन को रोककर मनोगुप्ति का अभ्यास करना चाहिए।

2. वचनगुप्ति - असत्य, कर्कश, अहितकारी एवं हिंसाकारी भाषा का प्रयोग नहीं करना वचनगुप्ति है। नियमसार के अनुसार, स्त्री-कथा, राजकथा, चोर-कथा, भोजन-कथा आदि वचन की अशुभ प्रवृत्ति एवं असत्य वचन का परिहार वचनगुप्ति है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि श्रमण अशुभ प्रवृत्तियों में जाते हुए वचन का विरोध करे।

3. कायगुप्ति - नियमसार के अनुसार, बन्धन, छेदन, मारण, आकुचन तथा प्रसारण आदि शारीरिक-क्रियाओं से निवृत्ति कायगुप्ति है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार श्रमण उठने, बैठने, लेटने, नाली आदि लांघन तथा पाँचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति में शरीर की क्रियाओं का नियमन करे।

उत्तराध्ययनसूत्र में मुनि-जीवन के लिए इन तीन गुप्तियों का विधान अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति होने के लिए है। श्रमण-साधक इन तीनों गुप्तियों के द्वारा अपने को अशुभ प्रवृत्तियों से दूर रखे, यही इसका हार्द है। संक्षेप में, राग-द्वेष आदि से निवृत्ति मनोगुप्ति है, असत्य वचन से निवृत्ति एवं मौन वचनगुप्ति है और शारीरिक-क्रियाओं से निवृत्ति तथा कायोत्सर्ग कायगुप्ति है।

पाँच समितियाँ

समिति शब्द की व्याख्या सम्यक्-प्रवृत्ति के रूप में की गई है। समिति श्रमण-जीवन की साधना का विधायक-पक्ष है। उत्तराध्ययनसूत्र में अनुसार, समितियाँ आचरण की प्रवृत्ति के लिए हैं। श्रमण-जीवन में शरीर-धारण के लिए अथवा संयम के निर्वाह के लिए जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनको विवेकपूर्वक संपादित करना ही समिति है। समितियाँ पाँच

हैं - 1. ईर्या (गमन), 2. भाषा, 3. एषणा (याचना), 4. आदानभण्डनिक्षेपण और 5. उच्चारदि-प्रतिस्थापन।

1. **ईर्या-समिति** - प्राणियों की रक्षा करते हुए सावधानीपूर्वक आवागमन की क्रिया करना ईर्या-समिति है। श्रमण के लिए यह आवश्यक है कि उसकी आवागमन की क्रिया इस प्रकार हो, जिसमें यथासंभव प्राणीहिंसा न हो। सामान्य रूप से श्रमण को चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलना चाहिए तथा दिन में ही चलना चाहिए, सूर्यास्त के पश्चात् नहीं, क्योंकि यदि वह सामने देखकर नहीं चलेगा और रात्रि में आवागमन की क्रिया करेगा, तो उसमें प्राणीहिंसा की सम्भावना रहेगी। मुनि के लिए चलते समय बातचीत करना, पढ़ना, चिंतन करना आदि क्रियाएँ भी निषिद्ध हैं। यदि वह उपर्युक्त क्रियाएँ करते हुए चलेगा, तो वह सावधानीपूर्वक आवागमन नहीं कर सकेगा। कहा गया है कि मुनि को चलते समय पाँचों इन्द्रियों के विषयों तथा पाँचों प्रकार के स्वाध्यायों को छोड़कर, मात्र चलने की क्रिया में ही लक्ष्य रखकर चलना चाहिए। आचारांगसूत्र में इसकी विस्तार से चर्चा है। नीचे उसी आधार पर कुछ प्रमुख नियम प्रस्तुत हैं-

1. चलते समय सावधानीपूर्वक सामने की भूमि को देखते हुए चलना चाहिए।

2. चलते समय हाथ-पैरों को आपस में टकराना नहीं चाहिए।

3. भय और विस्मय तजकर चलना चाहिए।

4. भाग-दौड़ न करके मध्यम गति से चलना चाहिए।

5. चलते समय पाँवों को एक-दूसरे से अधिक अन्तर पर रखकर नहीं चलना चाहिए।

6. हरी वनस्पति, तृण-पल्लव आदि से एक हाथ दूर चलना चाहिए।

7. प्राणियों, वनस्पति और जल जीवों की हिंसा की संभावना से युक्त छोटे रास्ते से न चलकर, इनसे रहित लम्बे मार्ग से ही जाना चाहिए।

8. यदि वर्षा के कारण मार्ग में छोटे-छोटे जीव-जन्तु और वनस्पति उत्पन्न हो गई हो, अंकुर फुट निकले हों, तो मुनि भ्रमण रोककर चातुर्मास-अवधि तक एक ही स्थान पर रहे।

9. वर्षा-ऋतु के पश्चात् भी यदि मार्ग जीव-जन्तु और वनस्पति से

रहित न हो, तो मुनि भ्रमण प्रारम्भ न करे।

10. सदैव निरापद मार्गों से ही गमन करना चाहिए। जिन मार्गों में चोर, स्लेच्छ एवं अनार्य लोगों का भय की सम्भावना हो, अथवा जिस मार्ग में युद्धस्थल पड़ता हो, उन मार्गों का परित्याग करके गमन करना चाहिए।

11. यदि प्रसंगवशात् मार्ग में सिंह आदि हिंसक पशु या चोर, डाकू आदि दिखाई दें, तो भयभीत होकर न पेड़ों पर चढ़ना चाहिए, न पानी में कूदना चाहिए और न उन्हें मारने के लिए शस्त्र आदि की मन में इच्छा ही करना चाहिए, वरन् शांतिपूर्वक निर्भय होकर गमन करना चाहिए।

12. दिगम्बर-परम्परा के अनुसार, मुनि को मार्ग में चलते समय यदि धूप से छाया में या छाया से धूप में जाना पड़े, तो अपने शरीर का मोरपिच्छि से प्रमार्जन करके ही जाना चाहिए।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन-मुनि को आवागमन की क्रिया इस प्रकार संपादित करनी चाहिए कि उसमें किसी भी प्रकार की हिंसा की संभावना न हो। ईर्या-समिति की इस समग्र विवेचना में प्रमुख दृष्टि अहिंसा-महाव्रत की रक्षा ही है। हाँ, जैन-परम्परा यह भी स्वीकार करती है कि यदि आवागमन की क्रिया आवश्यक हो और उस स्थिति में अहिंसा का पूर्ण पालन संभव न हो, तो अपवाद-मार्ग का आश्रय लिया जा सकता है।

2. भाषा-समिति — विवेकपूर्ण भाषा का प्रयोग करना भाषा-समिति है। मुनि को सदोष, कर्मबन्ध कराने वाली, कर्कश, निष्ठुर, अनर्थकारी, जीवों का आघात और परिताप देनेवाली भाषा नहीं बोलनी चाहिए, वरन् घबराए बिना, विवेकपूर्वक, समभाव रखते हुए, सावधानीपूर्वक बोलना चाहिए। मुनि को अपेक्षा, प्रमाण, नय और निक्षेप से युक्त हित, मित, मधुर एवं सत्य भाषा बोलना चाहिए। वस्तुतः वाणी का विवेक सामाजिक-जीवन की महत्वपूर्ण मर्यादा है। बर्के का कथन है कि संसार को दुःखमय बनाने वाली अधिकांश दृष्टताएं शब्दों से ही उत्पन्न होती हैं। वाणी का विवेक श्रमण और गृहस्थ-दोनों के लिए आवश्यक है। श्रमण तो साधना की उच्च भूमिका पर स्थित होता है, अतः उसे तो अपनी वाणी के प्रति बहुत ही सावधान रहना चाहिए। मुनि कैसी भाषा बोले और कैसी भाषा न बोले,

इसकी विस्तृत चर्चा सत्य-महाव्रत के संदर्भ में की जा चुकी है।

3. एषणा-समिति — एषणा का सामान्य अर्थ आवश्यकता या चाह होता है। साधक गृहस्थ हो या मुनि, जब तक शरीर का बन्धन है, जैविक-आवश्यकताएँ उसके साथ लगी रहती हैं, जीवन धारण करने के लिए आहार, स्थान आदि की आवश्यकताएँ बनी रहती हैं। मुनि को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति याचना के द्वारा किसी प्रकार करना चाहिए, इसका विवेक रखना ही एषणा-समिति है। एषणा का एक अर्थ खोज या गवेषणा भी है। इस अर्थ की दृष्टि से आहार, पानी, वस्त्र एवं स्थान आदि विवेकपूर्वक प्राप्त करना एषणा-समिति है। मुनि को निर्दोष भिक्षा एवं आवश्यक वस्तुएँ ग्रहण करनी चाहिए। मुनि की आहार आदि ग्रहण करने की वृत्ति कैसी होनी चाहिए, इसके संबंध में कहा गया है कि जिस प्रकार भ्रमर विभिन्न वृक्षों के फूलों को कष्ट नहीं देते हुए अपना आहार ग्रहण करता है, उसी प्रकार मुनि भी किसी को कष्ट नहीं देते हुए थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करे। मुनि की भिक्षाविधि को इसीलिए मधुकरी या गोचरी कहा जाता है। जिस प्रकार भ्रमर फूलों को बिना कष्ट पहुँचाएँ उसका रस ग्रहण कर लेता है; या गाय घास को ऊपर-ऊपर से थोड़ा खाकर अपना निर्वाह करती है, वैसे ही भिक्षुक को भी दाता को कष्ट न हो, यह ध्यान रखकर अपनी आहार आदि आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए।

भिक्षा के निषिद्ध स्थान — मुनि के निम्न स्थानों पर भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए — 1. राजा का निवासस्थान, 2. गृहपति का निवासस्थान, 3. गुप्तचरों के मंत्रणा-स्थल तथा 4. वेश्याओं के निवासस्थान के निकट का सम्पूर्ण क्षेत्र, क्योंकि इन स्थानों पर भिक्षावृत्ति के लिए जाने पर या तो गुप्तचर के संदेह में पकड़े जाने का भय होता है, अथवा लोकापवाद का कारण होता है।

भिक्षा के हेतु जाने का निषिद्ध काल — जब वर्षा हो रही हो, कोहरा पड़ रहा हो, आंधी चल रही हो, मक्खी-मच्छर आदि सूक्ष्म जीव उड़ रहे हों, तब मुनि भिक्षा के लिए न जाए। इसी प्रकार, विकाल में भी भिक्षा के हेतु जाना निषिद्ध है। जैन-आगमों के अनुसार, भिक्षुक दिन के प्रथम प्रहर में ध्यान करे, दूसरे प्रहर में स्वाध्याय करे और तीसरे प्रहर में भिक्षा के हेतु

नगर अथवा गाँव में प्रवेश करे। इस प्रकार, भिक्षा का काल मध्याह्न 12 से 3 बजे तक माना गया है। शेष समय भिक्षा के लिए विकाल माना गया है।

भिक्षा की गमनविधि - मुनि ईर्यासमिति का पालन करते हुए व्याकुलता, लोलुपता एवं उद्वेग से रहित होकर वनस्पति, जीव, प्राणी आदि से बचते हुए मन्द-मन्द गति से विवेकपूर्वक भिक्षा के लिए गमन करे। सामान्यतया, मुनि अपने लिए बनाया गया, खरीदा गया, संशोधित एवं संस्कारित कोई भी पदार्थ अथवा भोजन ग्रहण नहीं करे।

4. आदान-भण्ड निक्षेपण-समिति - मुनि के काम में आने वाली वस्तुओं को सावधानीपूर्वक उठाना या रखना, जिससे किसी भी प्राणी की हिंसा न हो, आदान-निक्षेपण-समिति है। मुनि को वस्तुओं के उठाने-रखने आदि में काफ़ी सजग रहना चाहिए। मुनि सर्वप्रथम वस्तु को अच्छी तरह देखे, फिर उसे प्रमार्जित करे और उसके पश्चात् उसे उपयोग में ले।

5. मलमूत्रादिप्रतिस्थापना-समिति - आहार के साथ निहार लगा ही हुआ है। मुनि को शारीरिक-मलों को इस प्रकार और ऐसे स्थानों पर डालना चाहिए, जिससे न व्रत भंग हो और न लोग ही घृणा करें। मुनि के लिए परिहार्य वस्तुएँ निम्न हैं - मल, मूत्र, कफ, नाक एवं शरीर का मैल, अपथ्य आहार, अनावश्यक पानी, अनुपयोगी वस्त्र एवं मुनि का मृत शरीर। भिक्षुक इन सब परिहार्य वस्तुओं का विवेकपूर्वक उचित स्थानों पर ही डाले।

परिहार के हेतु निषिद्ध स्थान - परिहार के हेतु निषिद्ध स्थान दो दृष्टियों से माने गए हैं - (1) व्रतभंग की दृष्टि से और (2) लोकापवाद की दृष्टि से। व्रतभंग की दृष्टि से मुनि नाली, पाखाने, जीवजन्तुयुक्त प्रदेश, हरी घास, कंदमूलादि वनस्पति से युक्त प्रदेश, खदान और नई फोड़ी हुई भूमि पर मल-मूत्र आदि का विसर्जन न करे, क्योंकि ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र आदि का विसर्जन करने से जीव-हिंसा होती है और साधु का अहिंसा-महाव्रत भंग होता है। लोकापवाद की दृष्टि से भोजन पकाने का स्थान, गाय-बैल आदि पशुओं के स्थान, देवालय, नदी के कनारे, तालाब, स्तूप, श्मशान, सभागृह, उद्यान, उपवन, प्याऊ, किला, नगर के दरवाजे, नगर के मार्ग तथा वह स्थान जहाँ तीन-चार रास्ते मिलते हों,

मनुष्यों का आवागमन होता हो, गाँव के अति निकट हो, ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र आदि का विसर्जन नहीं करना चाहिए। मुनि को मल-मूत्र आदि अशुचि का विसर्जन करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वह इस प्रकार डाला जाए कि जिससे शीघ्र ही सूख जाए और उसमें कृमि की उत्पत्ति की संभावना न रहे। सामान्यतया, इस हेतु कंकरीली, कठोर, अधित और खुली हुई धूपयुक्त भूमि को चुनना चाहिए। उसे ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र आदि का विसर्जन नहीं करना चाहिए कि उसके मल-मूत्र आदि को दूसरे मनुष्यों को उठाना पड़े। इस प्रकार, उसे मल-मूत्र आदि के विसर्जन में काफी सावधानी और विवेक रखना चाहिए।

इन्द्रियसंयम

जैन आचार-दर्शन में इन्द्रियसंयम श्रमण-जीवन का अनिवार्य कर्तव्य माना गया है। यदि मुनि इन्द्रियों पर संयम नहीं रखेगा, तो वह नैतिक-जीवन में प्रगति नहीं कर सकेगा, क्योंकि आधिकांश पतित आचरणों का अवलम्बन व्यक्ति अपने इन्द्रिय-सुखों की प्राप्ति के लिए ही करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसका सविस्तार विवेचन है कि किस प्रकार व्यक्ति इन्द्रिय-सुखों के पीछे अपने आचरण से पतित हो जाता है। इन्द्रिय-संयम का यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों को अपने विषयों के ग्रहण करने से रोक दिया जाए, वरन् यह है कि हमारे मन में इन्द्रियों के विषयों के प्रति जो रागद्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं, उनका नियमन किया जाए। उत्तराध्ययनसूत्र एवं आचारांगसूत्र में इसका पर्याप्त स्पष्टीकरण किया गया है। संक्षेप में, श्रमण (मुनि) का यह कर्तव्य माना गया है कि वह अपनी पांचो इन्द्रियों पर संयम रखे और जहाँ भी संयम-मार्ग से पतन की संभावना हो, वहाँ इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति का संयम करे। जिस प्रकार कछुआ संकट की स्थिति में अपने अंगों का समाहरण कर लेता है, उसी प्रकार मुनि भी संयम के पतन के स्थानों में इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति का समाहरण करे। जो मुनि जल में कमल के समान इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति को करते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता, वह संसार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।

परीषह

परीषह शब्द का अर्थ है - कष्टों को समभावपूर्वक सहन करना। यद्यपि तपश्चर्या में भी कष्टों को सहन किया जाता है, लेकिन तपश्चर्या और परीषह में अन्तर है। तपश्चर्या में स्वेच्छा से कष्ट सहन किया जाता है, जबकि परीषह में स्वेच्छा से कष्ट सहन नहीं किया जाता, वरन् मुनि-जीवन के नियमों का परिपालन करते हुए आकस्मिक रूप से यदि कोई संकट उपस्थित हो जाता है, तो उसे सहन किया जाता है। कष्ट-सहिष्णुता मुनि-जीवन के लिए आवश्यक है, क्योंकि यदि वह कष्ट-सहिष्णु नहीं रहता है, तो वह अपने नैतिक-पथ से कभी भी विचलित हो जाएगा।

जैन-मुनि के जीवन में आने वाले कष्टों का विवेचन उत्तराध्ययन और समवायांग में है। जैन-परम्परा में 22 परीषह माने गए हैं -

1. क्षुधा-परीषह - भूख से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी भिक्षु नियम-विरुद्ध आहार ग्रहण न करे, वरन् समभावपूर्वक भूख की वेदना सहन करे।

2. तृषा-परीषह - प्यास से व्याकुल होने पर भी मुनि नियम के प्रतिकूल सचित्त जल न पीए, वरन् प्यास की वेदना सहन करे।

3. शीत-परीषह - वस्त्राभाव या वस्त्रों की न्यूनता के कारण शीत-निवारण न हो, तो भी आग में तपकर, अथवा मुनि-मर्यादा के विरुद्ध शय्या को ग्रहण कर उस शीत की वेदना का निवारण नहीं करे।

4. उष्ण-परीषह - ग्रीष्म-ऋतु में गर्मी के कारण शरीर में व्याकुलता हो, तो भी स्नान या पंखे आदि के द्वारा हवा करके गर्मी को शांत करने का यत्न न करे।

5. दंश-मशक-परीषह - डांस, मच्छर आदि के काटने के कारण दुःख उत्पन्न हो, तो भी उन पर क्रोध न करे, उन्हें त्रास न दे, वरन् उपेक्षाभाव रखे।

6. अचेल-परीषह - वस्त्रों के अभाव एवं न्यूनता की स्थिति में मुनि वस्त्राभाव की चिन्ता न करे और न मुनि - मर्यादा के विरुद्ध वस्त्र ग्रहण ही करे।

7. अरति-परीषह - मुनि-जीवन में सुख-सुविधाओं का अभाव है, इस प्रकार का विचार न करे। संयम में अरुचि हो, तो भी मन लगाकर उसका पालन करे।

8. स्त्री-परीषह - स्त्री-संग को आसक्ति, बन्धन और पतन का कारण जानकर स्त्री-संसर्ग की इच्छा न करे और उनसे दूर रहे। साष्टि वयों के संदर्भ में यहाँ पुरुष-परीषह समझना चाहिए।

9. चर्या-परीषह - पदयात्रा में कष्ट होने पर भी चातुर्मास-काल को छोड़कर गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक न रुकता हुआ सदैव भ्रमण करता रहे। मुनि के लिए एक स्थान पर मर्यादा से अधिक रुकना निषिद्ध है।

10. निषद्या-परीषह - स्वाध्याय आदि के हेतु एकासन में बैठना पड़े, अथवा बैठने के लिए विषम भूमि उपलब्ध हो, तो भी मन में दुःखित न होकर उस कष्ट को सहन करे।

11. शय्या-परीषह - ठहरने अथवा सोने के लिए विषम भूमि हो तथा तृण, पराल आदि भी उपलब्ध न हों, तो उस कष्ट को सहन करे और श्मशान, शून्यगृह या वृक्षमूल में ही ठहर जाए।

12. आक्रोश-परीषह - यदि कोई भिक्षु को कठोर एवं कर्कश शब्द कहे, अथवा अपशब्द कहे, तो भी उन्हें सहन कर उसके प्रति क्रोध न करे।

13. वध-परीषह - यदि कोई मुनि को लकड़ी आदि से मारे, अथवा अन्य प्रकार से उसका वध या ताड़न करे, तो भी उस पर समभाव रखे।

14. याचना-परीषह - भिक्षावृत्ति में सम्मान को ठेस लगती है तथा आवश्यक वस्तुएँ सुलभता से प्राप्त नहीं होती हैं, ऐसा विचार कर मन में दुःखी न हो, वरन् मुनि-मर्यादा का पालन करते हुए भिक्षावृत्ति करे।

15. अलाभ-परीषह - वस्त्र, पात्र आदि सामग्री अथवा आहार प्राप्ति नहीं होने पर भी मुनि समभाव रखे और तदजन्य अभाव के कष्ट को सहन करे।

16. रोग-परीषह - शरीर में व्याधि उत्पन्न होने पर भी भिक्षु

चिकित्सा के सम्बन्ध में अधीर न होकर उस रोग की वेदना को समभावपूर्वक सहन करे।

17. तृण-परीषह - तृण आदि की शय्या में सोने से तथा मार्ग में नंगे पैर चलने से तृण या कांटे आदि के चुभने की वेदना को समभाव से सहन करे।

18. मल-परीषह - वस्त्र या शरीर पर पसीने एवं धूल आदि के कारण मैल जम जाए, तो भी उद्विग्न न होकर उसे सहन करे।

19. सत्कार-परीषह - जनता द्वारा मान-सम्मान के प्राप्त होने पर भी प्रसन्न या खिन्न न होकर समभाव रखे।

20. प्रज्ञा-परीषह - भिक्षु के बुद्धिमान होने के कारण लोग आकर उससे विवादादि करें, तो भी खिन्न होकर यह विचार नहीं करे कि इससे तो अज्ञानी होना अच्छा था।

21. अज्ञान-परीषह - यदि भिक्षु की बुद्धि मन्द हो और शास्त्र आदि का अध्ययन न कर सके, तो भी खिन्न नहीं होते हुए अपनी साधना में लगे रहना चाहिए।

22. दर्शन-परीषह - अन्य सम्प्रदायों और उनके महन्तों का आडम्बर देखकर यह विचार नहीं करना चाहिए कि देखो इनकी कितनी प्रतिष्ठा है और शुद्ध मार्ग पर चलते हुए भी मेरी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। इस प्रकार, आडम्बरों को देखकर उत्पन्न हुई अश्रद्धा को मिटाना दर्शन-परीषह है।

श्रमण-कल्प

जैन आचार-दर्शन में श्रमण के लिए दस कल्पों का विधान है। कल्प (कम्प) शब्द का अर्थ है- आचार-विचार के नियम। कल्प शब्द न केवल जैन-परम्परा में आचार के नियमों का सूचक है, वरन् वैदिक-परम्परा में भी कल्प शब्द आचार के नियमों का सूचक है। वैदिक-परम्परा में कल्पसूत्र नाम के ग्रन्थ में गृहस्थ और त्यागी-ब्राह्मणों के आचारों का वर्णन है।

जैन-परम्परा में निम्न दस कल्प माने गए हैं - (1) आचेलक्य-कल्प, (2) औद्देशिक-कल्प, (3) शय्यातर-कल्प, (4) राजपिण्ड-कल्प, (5)

कृतिकर्म-कल्प, (6) व्रत-कल्प, (7) ज्येष्ठ-कल्प, (8) प्रतिक्रमण-कल्प, (9) मास-कल्प और (10) पर्यूषण-कल्प।

(1) आचेलक्य-कल्प - आचेलक्य शब्द की व्युत्पत्ति अचेलक शब्द से हुई है। चेल वस्त्र का पर्यायवाची है, अतः अचेलक का अर्थ है-वस्त्ररहित। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार, आचेलक्य-कल्प का अर्थ है - मुनि को वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए। श्वेताम्बर-परम्परा अचेल शब्द को अल्पवस्त्र का सूचक मानती है और इसलिए उनके अनुसार आचेलक्य-कल्प का अर्थ है - कम से कम वस्त्र धारण करना।

(2) औद्देशिक-कल्प - औद्देशिक-कल्प का अर्थ यह है कि मुनि को उनके निमित्त बनाए गए, लाए गए अथवा खरीदे गए आहार, पेय पदार्थ, वस्त्र, पात्र आदि उपकरण तथा निवासस्थान को ग्रहण नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, किसी भी श्रमण अथवा श्रमणी के निमित्त बनाए गए या लाए गए पदार्थों का उपभोग सभी श्रमण और श्रमणियों के लिए वर्जित है। महावीर के पूर्व तक परम्परा यह थी कि जैन-श्रमण अपने स्वयं के लिए बनाए गए आहार आदि का उपभोग नहीं कर सकता था, लेकिन वह दूसरे श्रमणों के लिए बनाए गए आहार आदि का उपभोग कर सकता था। महावीर ने इस नियम को संशोधित कर किसी भी श्रमण के लिए बने औद्देशिक-आहार आदि पदार्थों का ग्रहण वर्जित माना।

(3) शय्यातर-कल्प - श्रमण अथवा श्रमणी जिस व्यक्ति के आवास (मकान) में निवास करे, उनके यहाँ से किसी भी पदार्थ का ग्रहण करना वर्जित है।

(4) राजपिण्ड-कल्प - राजभवन से राजा के निमित्त बनाए गए किसी भी पदार्थ का ग्रहण करना वर्जित है।

(5) कृतिकर्म-कल्प - दीक्षा-वय में ज्येष्ठ श्रमणों के आने पर उनके समान में खड़ा हो जाना तथा यथाक्रम ज्येष्ठ मुनियों को वन्दना करना कृतिकर्म-कल्प है। यहाँ विशेष स्मरणीय यह है कि साध्वी के लिए अपने से कनिष्ठ श्रमणों को भी वन्दन करने का विधान है। एक दीक्षा-वृद्ध साध्वी के लिए भी नव दीक्षित श्रमण के वन्दन का विधान है। सम्भवतः, इसके पीछे हमारे देश की पुरुषप्रधान सभ्यता का ही प्रभाव है।

(6) व्रत-कल्प - सभी श्रमण एवं श्रमणियों को पंच महाव्रतों का अप्रमत्त-भाव से मन, वचन और काया के द्वारा पालन करना चाहिए। यह उनका व्रत-कल्प है। महावीर के पूर्व अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य-दोनों एक ही व्रत के अन्तर्गत थे। पार्श्वनाथ तक चातुर्याम-धर्म की व्यवस्था थी। महावीर ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम के स्थान पर पंच महाव्रत का विधान किया।

(7) ज्येष्ठ-कल्प - जैन-आचारदर्शन में दीक्षा दो प्रकार की मानी गई है - 1. छोटी दीक्षा और 2. बड़ी दीक्षा। छोटी दीक्षा परीक्षारूप है। इसमें मुनिवेश धारण किया जाता है, लेकिन व्यक्ति को श्रमण-संघ में प्रवेश नहीं दिया जाता है। व्यक्ति को योग्य पाने पर ही श्रमण-संघ में प्रवेश देकर बड़ी दीक्षा दी जाती है। प्रथम को सामायिक-चारित्र और दूसरे को छेदोपस्थापनाचारित्र कहा जाता है। छेदोपस्थापनाचारित्र के आधार पर ही मुनि को श्रमण-संस्था में ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ माना जाता है। महावीर के पूर्व इन दो दीक्षाओं का विधान नहीं था। दीक्षा ग्रहण करने के दिन से ही व्यक्ति को श्रमण-संस्था में प्रवेश दे दिया जाता था, लेकिन महावीर ने इन दो दीक्षाओं का विधान किया और छेदोपस्थापनाचारित्र के आधार पर ही श्रमण-संघ में व्यक्ति की ज्येष्ठता और कनिष्ठता निर्धारित की।

(8) प्रतिक्रमण-कल्प - प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण-कल्प है। महावीर के पूर्व तक पार्श्वनाथ की परम्परा में दोष लगने पर ही प्रायश्चित्तस्वरूप प्रतिक्रमण किया जाता था। महावीर ने दोनों समय प्रतिक्रमण करना अनिवार्य बना दिया।

(9) मास-कल्प - श्रमण के लिए सामान्य नियम यह है कि वह ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक न ठहरे, लेकिन महावीर ने श्रमण के लिए अधिक से अधिक एक स्थान पर एक मास तक ठहरने की अनुमति प्रदान की और एक मास से अधिक ठहरना निषिद्ध बताया। साधवियों के लिए यह मर्यादा दो मास मानी गई है। यह मर्यादा चातुर्मास-काल को छोड़कर शेष आठ मास ही के लिए है। वस्तुतः सतत श्रमण से ही जहां एक ओर अनासक्तवृत्ति बनी रहती है, वहाँ दूसरी ओर,

अधिकाधिक जनसंपर्क और जन-कल्याण भी संभव होता है।

(10) पर्यूषण-कल्प - पर्यूषण-काल में एक स्थान पर रहकर तप, संयम और ज्ञान की आराधना करना पर्यूषण-कल्प है। चार्तुमास-काल में स्थित मुनि को इसके लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए।

जैन-परम्परा में भिक्षु-जीवन के सामान्य नियम

जैन-परम्परा में भिक्षु-जीवन के नियमों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। उनमें कुछ नियम ऐसे हैं, जिनका भंग करने पर भिक्षु श्रमण-जीवन से च्युत हो जाता है। ऐसे नियमों में इक्कीस शबल-दोष तथा बावन अनाचीर्ण प्रमुख हैं। इसके अतीरिक्त, कुछ सामान्य नियम ऐसे हैं, जिनका भंग करने से यद्यपि भिक्षु श्रमण-जीवन से च्युत तो नहीं होता, फिर भी उसके सामान्य जीवन की पवित्रता मलिन होती है। नीचे हम इन विभिन्न नियमों की चर्चा करेंगे।

शबल-दोष - शबल-दोष जैन-भिक्षु के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। आचार्य अभयदेव के अनुसार, जिन कार्यों के करने से चारित्र्य की निर्मलता नष्ट हो जाती है तथा चारित्र्य मलविलग्न होने के कारण छिन्न-भिन्न हो जाता है, वे कार्य शबल-दोष हैं। जैन-परम्परा में शबल-दोष इक्कीस हैं, जैसे - 1. हस्तमैथुन करना, 2. स्त्री-स्पर्श एवं मैथुन का सेवन करना, 3. रात्रि में भोजन करना एवं भिक्षा ग्रहण करना, 4. मुनि के निमित्त बनाया गया भोजन आदि लेना (आंधाकर्म), 5. शय्यातर, अर्थात् निवासस्थान देने वाले के गृहस्वामी का आहार ग्रहण करना, 6. भिक्षु या याचकों के निमित्त बनाया गया (औद्देशिक), खरीदा गया (क्रीत), उनके स्थान पर लाकर दिया गया (आहृत), उनके लिए मांगकर लाया गया (प्रामित्य) एवं किसी से छीनकर लाया गया आहार आदि पदार्थ ग्रहण करना, 7. प्रतिज्ञाओं का बार-बार भंग करना, 8. छह मास में एक गण से दूसरे गण में चले जाना, अर्थात् जल्दी-जल्दी बिना किसी विशेष कारण के गणपरिवर्तन करना, 9. एक मास में तीन बार नाभि या जंघा-प्रमाण जल में प्रवेश कर नदी आदि पार करना (उदकलेप), 10. एक मास में तीन बार से अधिक कपट करना अथवा कृत अपराध को छुपा लेना, 11. राजपिण्ड ग्रहण करना, 12. जानबूझकर असत्य बोलना, 13. जानबूझकर जीव-हिंसा करना, 14.

जानबूझकर चोरी करना, 15. सचित्त पृथ्वी पर बैठना, सोना अथवा खड़े होना, 16. सचित्त जल से सस्निग्ध और सचित्त रज वाली पृथ्वी, शिला अथवा धुन लगी हुई लकड़ी आदि पर बैठना, सोना या कायोत्सर्ग करना, 17. प्राणी, बीज, हरित वनस्पति, कीड़ी, नगर, काई, फफूंदी, पानी, कीचड़ और मकड़ी के जालों वाले स्थान पर बैठना, सोना, 18. जानबूझकर मूल, कंद, त्वचा (छाल), प्रवाल, पुष्प, फल, हरित आदि का सेवन करना, 19. एक वर्ष में दस बार से अधिक पानी का प्रवाह लांघना, 20. एक वर्ष में दस बार मायाचार (कपट) करना, 21. सचित्त जल से गीले हाथ द्वारा अशनादि लेना।

अनाचीर्ण - जो कृत्य श्रमण अथवा श्रमणियों के आचरण के योग्य नहीं है, वे अनाचीर्ण कहे जाते हैं। जैन-परम्परा में ऐसे अनाचीर्ण बावन माने गये हैं। दसवैकालिकसूत्र के तीसरे अध्याय में इनका सविस्तार विवेचन है। संक्षेप में, बावन अनाचीर्ण ये हैं -

1. औद्देशिक - श्रमणों के निमित्त बनाए गए भोजन, वस्त्र, पानी, मकान आदि किसी भी पदार्थ का ग्रहण करना।

2. नित्यपिण्ड (नियाग) - एक ही घर से नित्य एवं आमन्त्रित आहार ग्रहण करना।

3. अभ्याहृत - भिक्षुक के निवास स्थान पर गृहस्थ के द्वारा लाकर दिया गया आहार ग्रहण करना।

4. क्रीत - मुनि के लिए खरीदी गई वस्तु को ग्रहण करना।

5. त्रिभक्त - तीन बार भोजन करना। एक समय भोजन करना श्रमण-जीवन का उत्तम आदर्श है, दो बार भोजन करना मध्यममार्ग है, लेकिन दो बार से अधिक भोजन करना अनाचीर्ण है। कुछ आचार्यों ने इसका अर्थ रात्रि-भोजन-निषेध माना है, लेकिन रात्रि-भोजन-निषेध को तो छठवें महाव्रत के रूप में पहले ही वर्जित मान लिया गया है, अतः यहाँ विभक्त का अर्थ तीन बार भोजन का निषेध ही समझना चाहिए।

6. स्थान-स्थान करना। (मूलाचार में स्नान को मुनि का मूल गुण बताया गया है)

7. गंध - इत्र, चंदन आदि, सुवासित पदार्थों का उपयोग करना।

8. माल्य - फूलों की माला धारण करना।
9. बीजन - पंखे आदि से हवा लेना या करना।
10. सन्निधि - दूसरे दिन के लिए भोजन आदि का संग्रह करना।
11. गृहीपात्र - गृहस्थों के बर्तन में भोजन ग्रहण करना।
12. राजपिण्ड - राजा के लिए बनाया गया पौष्टिक भोजन ग्रहण करना।
13. किमिच्छक - दान-दानशाला आदि ऐसे स्थानों से आहार ग्रहण करना, जहाँ पुछकर इच्छा-अनुसार आहार आदि दिये जाते हों।
14. संबाधन - शरीर के सुख के निमित्त तेल-मर्दन करवाना।
15. दन्तधावन - शोभा के लिए मंजन आदि से दातों को साफ करना या चमकाना।
16. संप्रश्न - गृहस्थों से उनकी पारिवारिक-बाते पुछना अथवा अपनी सुन्दरता के विषय में पुछना।
17. देह-प्रलोकन - दर्पण आदि में अपना रूप देखना।
18. अष्टापद - जुआं खेलना।
19. नालिक - चौपड़ या पासा आदि खेलना।
20. छत्रधारण - गर्मी या वर्षा आदि से बचने के लिए या सम्मान-प्रतिष्ठा के लिए छत्र आदि धारण करना।
21. चिकित्सा - रोग या व्याधि के प्रतिकार के लिए चिकित्सा करना।
22. उपानह - जूते, खड़ाऊ आदि पहनना।
23. जोत्थारम्भ - दीपक, चूल्हा या ताप आदि सुलगाना।
24. शय्यातर-पिण्ड - मुनि जिसके मकान में ठहरा हो, उसके यहाँ से आहार आदि ग्रहण करना।
25. आसंदी - बुनी हुई कुर्सी या पलंग आदि पर सोना-बैठना।
26. निषद्या - बिना किसी आवश्यक परिस्थिति के गृहस्थ के घर में बैठना।
27. यात्रमर्दन - पीठी-उबटन आदि लगाना।
28. गृहीवैयावृत्य - गृहस्थों से किसी प्रकार की सेवा लेना।
29. जात्याजीविका - सजातीय या सगोत्रीय बताकर आहार आदि

प्राप्त करना।

30. तापनिवृत्ति - गर्मी के निवारण के लिए संचित जल एवं पंखे आदि का उपयोग करना।

31. आतुर-स्मरण-कष्ट में अपने कुटुम्बीजनों का स्मरण करना।

32.-38. मूली, अदरक, कन्द, इक्षुखण्ड, मूल (जड़), कच्चे फल और संचित बीजों का उपयोग करना।

39-45. सौचल नमक, सैन्धव नमक, सामान्य नमक, रोमदेशीय नमक, समुद्री नमक एवं पर्वतीय काला नमक का उपयोग करना।

46. धूपन- शरीर, वस्त्र एवं भवन को धूप आदि से सुवासित करना।

47. वमन-मुख में अंगुली आदि डालकर अथवा वमन की औषधि लेकर वमन करना।

48. वस्तिकर्म - एनीमा आदि लेकर शौच करना।

49. विरेचन - जुलाब लेना।

50. अंजन - आँखों में अंजन लगाना।

51. दन्त-वर्ण - दांत रंगना।

52. अभ्यंग - व्यायाम करना अथवा कुशती लड़ना।

सामान्य स्थिति में यह बावन प्रकार का आचरण मुनि के लिए वर्जित है (दशवैकालिक अध्ययन 3)।

सामाचारी के नियम

मुनि के लिए विशेष रूप से पालनीय नियम सामाचारी कहे जाते हैं। सामाचारी का दूसरा अर्थ सम्यक् दिनचर्या भी है। मुनि को अपने दैनिक-जीवन के नियमों के प्रति विशेष रूप से सजग रहना चाहिए। सामाचारी दस प्रकार की कही गई है।

1. आवश्यकीय - साधु आवश्यक कार्य होने पर ही उपाश्रय (निवासस्थान) से बाहर जाए। अनावश्यक रूप से आवागमन नहीं करे।

2. नैषेधिकी - उपाश्रय में आने पर यह विचार करे कि मैं बाहर के कार्यों से निवृत्त होकर आया हूँ। अब नितांत आवश्यक कार्य के सिवाय मेरे लिए बाहर जाना निषिद्ध है।

3. आपृच्छना - अपना कोई भी कार्य करने के लिए गुरु एवं

गणनायक की आज्ञा प्राप्त करे।

4. प्रतिपृच्छना - दूसरे के कार्य को गुरु एवं गणनायक से पूछकर करे।

5. छन्दना - अपने उपभोग के निमित्त लाए गए भिक्षादि पदार्थों के लिए अपने सभी साथी-साधुओं को आमंत्रित करे। अकेला चुपचाप उनका उपभोग न करे।

6. इच्छाकार - गण से साधुओं की इच्छा जानकर तदनुकूल आचरण करे।

7. मिथ्याकार - प्रमादवश कोई गलती हो जाए, तो उसके लिए पश्चात्ताप करे तथा नियमानुसार प्रायश्चित्त ग्रहण करे।

8. प्रतिश्रुत-तथ्यकार - आचार्य, गणनायक, गुरु एवं बड़े साधुओं की आज्ञा स्वीकार करना और उसे उचित मानना।

9. गुरुपूजा-अभ्युत्थान - वंदना आदि के द्वारा गुरु का सत्कार-सम्मान करना।

10. उपसम्पदा - आचार्य आदि की सेवा में विनम्रभाव से रहते हुए दिनचर्या करना।

दिनचर्या संबंधी नियम

मुनि की दिनचर्या के विधान के लिए दिन एवं रात्रि को चार-चार भागों में विभक्त किया गया है, जिन्हें प्रहर कहा जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार, मुनि दिन के प्रथम प्रहर में आवश्यक कार्यों के पश्चात् स्वाध्याय करे, दूसरे प्रहर में ध्यान करे, तीसरे प्रहर में भिक्षा द्वारा आहार ग्रहण करे और पुनः चौथे प्रहर में स्वाध्याय करे। इसी प्रकार, रात्रि में प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में निद्रा और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करे। इस प्रकार मुनि की दिनचर्या में चार प्रहर स्वाध्याय के लिए, दो प्रहर ध्यान के लिए तथा एक-एक प्रहर आहार और निद्रा के लिए नियत है।

आहार संबंधी नियम

जैन-आचार-दर्शन में श्रमण के आहार के संबंध में कई दृष्टियों से विचार हुआ है तथा विभिन्न नियमों का प्रतिपादन किया गया है। मुनि को

आहार संबंधी निम्न नियमों का पालन करना चाहिए -

आहार ग्रहण करने के छः कारण - मुनि को छः कारणों से आहार ग्रहण करना चाहिए - 1. वेदना, अर्थात् क्षुधा की शान्ति के लिए, 2. वैयावृत्य, अर्थात् आचार्यदि की सेवा के लिए, 3. ईर्यापद, अर्थात् मार्ग में गमनागमन की निर्दोष प्रवृत्ति के लिए, 4. संयम, अर्थात् मुनि धर्म की रक्षा के लिए, 5. प्राणप्रत्यय, अर्थात् स्वाध्यायादि के लिए।

आहार-त्याग के छः कारण - छः स्थितियों में मुनि के आहार ग्रहण करना वर्जित माना गया है - 1. आतंक, अर्थात् भयंकर रोग उत्पन्न होने पर, 2. उपसर्ग, अर्थात् आकस्मिक संकट आने पर, 3. ब्रह्मचर्य, अर्थात् शील की रक्षा के लिए, 4. प्राणीदया, अर्थात् जीवों की रक्षा के लिए, 5. तप, अर्थात् तपस्या के लिए और 6. संलेखना, अर्थात् समाधिकरण के लिए। इस प्रकार, मुनि संयम के पालन के लिए ही आहार ग्रहण करता है और संयम के पालन के लिए ही आहार का त्याग करता है।

आहार संबंधी दोष - जैन-आगमों में मुनि के आहार सम्बन्धी विभिन्न दोषों का विवेचन मिलता है। संक्षेप में ये दोष निम्न हैं -

(अ) उद्गम के 16 दोष - 1. आधाकर्म - विशेष साधु के उद्देश्य से आहार बनाना, 2. औद्देशिक - सामान्य भिक्षुओं के उद्देश्य से आहार बनाना, 3. पूतिकर्म - शुद्ध आहार को अशुद्ध आहार से मिश्रित करना, 4. मिश्रजात - अपने लिए व साधु के लिए मिलाकर आहार बनाना, 5. स्थापना - साधु के लिए कोई खाद्य पदार्थ अलग रख देना, 6. प्राभृतिका - साधु को पास के ग्रामदि में आया जानकर विशिष्ट आहार बहराने के लिए जीमणवार आदि का दिन-पीछे कर देना, 7. प्रादुगष्करण - अन्धकारयुक्त स्थान में दीपक आदि का प्रकाश करके भोजन देना, 8. क्रीत - साधु के लिए खरीद कर लाना, 9. प्रामित्य - साधु के लिए उधार लाना, 10. परिवर्तित - साधु के लिए अट्टा-सट्टा करके लाना, 11. अभिहत - साधु के लिए दूर से लाकर देना, 12. उद्भिन्न - साधु के लिए लिप्स-पात्र का मुख खोलकर घृत आदि देना, 13. मालापहृत - ऊपर की मंजिल से या छींके वगैरह से सीढ़ी आदि से उतारकर देना, 14. आच्छेद्य - दुर्बल से छीनकर देना, 15. अनिसृष्ट - साझे को चीज दूसरों की आज्ञा के बिना

देना, 16. साधु को गाँव में आया जानकर अपने लिए बनाए जाने वाले भोजन में और बढ़ा देना।

(आ) उत्पादन के 16 दोष — 1. धात्री-धाय की तरह गृहस्थ के बालकों को खिला-पिला कर, हंसा-रमा कर आहार लेना, 2. दूती-दूत के समान संदेशवाहक बनकर आहार लेना, 3. निमित्त — शुभाशुभ निमित्त बताकर आहार लेना, 4. आजीव-आहार के लिए जाति, कुल आदि बताना, 5. वनीपक — गृहस्थ की प्रशंसा करके भिक्षा लेना, 6. चिकित्सा — औषधि आदि बताकर आहार लेना, 7. क्रोध — क्रोध करना या शापादि का भय दिखाना, 8. मान — अपना प्रभुत्व जमाते हुए आहार लेना, 9. माया — छल-कपट से आहार लेना, 10. लोभ — सरस भिक्षा के लिए अधिक घूमना, 11. पूर्वपश्चात्संस्तव — दानदाता के माता-पिता अथवा सास-ससुर आदि से अपना परिचय बताकर भिक्षा लेना, 12. विद्या — जप आदि से सिद्ध होने वाली विद्या का प्रयोग करना, 13. मंत्र — मंत्र-प्रयोग से आहार लेना, 14. चूर्ण — चूर्ण आदि दशीकरण का प्रयोग करके आहार लेना, 15. योग — सिद्ध आदि योगविद्या का प्रदर्शन करना, 16. मूलकर्म — गर्भस्तंभग आदि के प्रयोग बताना।

(इ) ग्रहणैषणा के 10 दोष, — 1. शंकित-आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी लेना, 2. प्रक्षित — सचित्त का संघट्ट होने पर आहार लेना, 3. निक्षिप्त — सचित्त पर रखा हुआ आहार लेना, 4. पिहित — सचित्त से ढका हुआ आहार लेना, 5. संहत — पात्र में पहले से रखे हुए अकल्पनीय पदार्थ को निकालकर उसी पात्र से लेना, 6. दायक — शराबी, गर्भिणी आदि अनाधिकारी से लेना, 7. उन्मिश्र — सचित्त से मिश्रित आहार लेना, 8. अपरिणत — पूरे तौर पर बिना पके शाकादि लेना, 9. लिप्त — दही, घृत आदि से लिप्त पात्र या हाथ से आहार लेना, पहले और पीछे हाथ धोने के कारण क्रमशः पूर्वकर्म तथा पश्चात्कर्म-दोष होता है। 10. छर्दित-छींटे नीचे पड़ रहे हों, ऐसा आहार लेना।

(ई) ग्रासैषणा के 5 दोष — 1. संयोजन — रसलोलुपता के कारण दूध और शकर आदि द्रव्यों को परस्पर मिलाना, 2. अप्रमाण — प्रमाण से अधिक भोजन करना, 3. अंगार — सुस्वादु भोजन की प्रशंसा करते हुए

खाना। यह दोष चारित्र को जलाकर कोयले की तरह निस्तेज बना देता है, अतः अंगार कहलाता है। 4. धूम - नीरस आहार की निन्दा करते हुए खाना, 5. अकारण - आहार करने के छः कारणों के सिवाय बलवृद्धि आदि के लिए आहार करना।

दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ अनंगार धर्मावृत में इन सैंतालीस दोषों में से छियालीस पिण्ड-दोषों का विवेचन किया गया है, जो निम्नानुसार हैं - 16 उदगम-दोष, 16 उत्पादन-दोष, 10 शंकितादि दोष और 4 अंगारादि दोष।

मुनि को अपने भोजन में स्वाद-लोलुपता न रखकर मात्र संयमपालन के लिए आहार आदि ग्रहण करना चाहिए। भोजन के संबंध में मुनि का आदर्श यह होना चाहिए कि जीने के लिए खाना है न कि खाने के लिए जीना है।

वस्त्र-मर्यादा - दिगम्बर-परम्परा के अनुसार, मुनि का वस्त्ररहित अर्थात् अचेल रहना चाहिए। उसमें मुनि के लिए वस्त्रों का उपयोग सर्वथा निषिद्ध है, यद्यपि श्रमणी के लिए वस्त्र का विधान है। श्वेताम्बर-परम्परा में भी वस्त्ररहित जिनकल्पी-मुनियों का वर्णन है, लेकिन इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर-परम्परा के आचारांगसूत्र में मुनियों के लिए एक से तीन तक के वस्त्रों तक का विधान है। श्रमणी के लिए चार वस्त्रों तक का विधान है। बृहदकल्पसूत्र के अनुसार, मुनि के लिए पाँच प्रकार के वस्त्रों का उपयोग करना कल्प माना गया है - 1. जांगिक (ऊनादि के वस्त्र), 2. भांगिक (अलसी का वस्त्र), 3. सानक (सन का वस्त्र), 4. पोतक (कपास का वस्त्र), 5. तिरीटपट्टक (छाल का वस्त्र)। मुनि के लिए कृत्स्न वस्त्र और अभिन्न वस्त्र का उपयोग वर्जित है। कृत्स्न वस्त्र का अर्थ है- रंगीन एवं आकर्षक वस्त्र, अभिन्न वस्त्र का अर्थ है - अखण्ड या पूरा वस्त्र। अखण्ड वस्त्र का निषेध इसलिए किया गया है कि वस्त्र का विक्रय-मूल्य या साम्प्रतिक मूल्य न रहे। भिक्षु के लिए खरीदा गया, धोया गया आदि दोषों से युक्त वस्त्र ग्रहण करने का भी निषेध है। इसी प्रकार, बहुमूल्य वस्त्र भी मुनि के लिए निषिद्ध है। प्रसाधन के निमित्त वस्त्र का रंगना, धोना आदि भी मुनि के लिए वर्जित है।

पात्र — श्रमण एवं श्रमणियों के लिए तुम्बी, काष्ठ एवं मिट्टी के पात्र कल्प्य माने गए हैं, किसी भी प्रकार के धातु-पात्र का रखना निषिद्ध है। सामान्यतया, मुनि के लिए एक पात्र रखने का विधान है, लेकिन वह अधिक से अधिक तीन पात्र तक रख सकता है। बृहत्कल्पसूत्र में श्रमणियों के लिए घटीमात्रक (घड़ा) रखने का विधान भी है। इसी प्रकार, व्यवहारसूत्र में वृद्ध साधु के लिए भाण्ड (घड़ा) और मात्रिका (पेशाब करने का बर्तन) रखना भी कल्प्य है। मुनि के लिए जिस प्रकार बहुमूल्य वस्त्र लेने का निषेध है, उसी प्रकार बहुमूल्य पात्र लेने का भी निषेध है। वस्त्र और पात्र की गवेषणा के संबंध में अधिकांश नियम वही हैं, जो कि आहार की गवेषणा के लिए हैं।

आवास संबंधी नियम — मुनि अथवा मुनियों के लिए बनाए गए, खरीदे गए अथवा अन्य ढंग से प्राप्त किए गए मकानों में श्रमण एवं श्रमणियों का रहना निषिद्ध है। बहुत ऊँचे मकान, स्त्री, बालक एवं पशु के निवास से युक्त मकान, वे मकान जिसमें गृहस्थ निवास करते हों, जिनका रास्ता गृहस्थ के घर में से होकर जाता हो एवं चित्रयुक्त मकान में निवास करना मुनि के लिए निषिद्ध है। इसी प्रकार, धर्मशाला, बिना छत का खुला हुआ मकान, वृक्षमूल एवं खुली जगह पर रहना भी सामान्यतया मुनि के लिए निषिद्ध है, यद्यपि विशेष परिस्थितियों में वह वृक्षमूल में निवास कर सकता है। श्रमणी के लिए सामान्यतया वे स्थान, जिनके आसपास दुकानें हों, जो गली के एक किनारे पर हों, जहाँ अनेक रास्ते मिलते हों तथा जिनके द्वार नहीं हों, अकल्प्य माने गए हैं।

जैनधर्म का सामान्य आचार

पूर्व में हमने दो अध्यायों में गृहस्थ और मुनि के आचार सम्बन्धी चर्चा की है, किन्तु जैन आचार में कुछ आचार व्यवस्थाएँ सामान्य भी होती हैं। सामान्य आचार के रूप में निम्न नियमों को उल्लेखित किया गया है। षट् आवश्यक कर्म चार कषायों और दस धर्मों का परिचालन और अन्त में समाधिमरण की साधना सभी के लिए आवश्यक मानी गई है। षट् आवश्यक में निम्न साधना अपेक्षित होती है— (1) सामायिक, (2) स्तवन, (3) वंदन (4) प्रतिक्रमण, (5) कायोत्सर्ग और (6) प्रत्याख्यान (त्याग)।

इन षट् आवश्यकों की साधना का लाभ यह माना गया है कि इनके माध्यम से साधक विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है। इनमें सर्वप्रथम सामायिक का क्रम है।

सामायिक (समता)

सामायिक समत्ववृत्ति की साधना है। जैनाचारदर्शन में समत्व की साधना नैतिक-जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। वह नैतिक-साधना का अथ और इति-दोनों है। समत्व-साधना के दो पक्ष हैं, बाह्य-रूप में वह सावद्य (हिंसा) प्रवृत्तियों का त्याग है¹⁰, तो आन्तरिक-रूप में वह सभी प्राणियों के प्रति आत्मभाव (सर्वत्र आत्मवत् प्रवृत्ति) तथा सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा में समभाव रखता है, ¹¹ लेकिन दोनों पक्षों से भी ऊपर वह विशुद्ध रूप में आत्मरमण या आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न है। सम का अर्थ-आत्मभाव (एकीभाव) और अय का अर्थ है-गमन। जिसके द्वारा पर-परिणति (बाह्यमुखता) से आत्म-परिणति (अन्तर्मुखता) की ओर जाया जाता है, वही सामायिक है। ¹² सामायिक समभाव में है, वह राग-द्वेष के प्रसंगों में मध्यस्थता रखना है। माध्यस्थ-वृत्ति ही सामायिक है। सामायिक कोई रूढ़ क्रिया नहीं, वह तो समत्ववृत्तिरूप पावन आत्म-गंगा में अवगाहन है, जो समग्र राग-द्वेषजन्य कलुष को आत्मा से अलग कर मानव को विशुद्ध बनाती है। संक्षेप में, सामायिक एक ओर चित्तवृत्ति का समत्व है, तो दूसरी ओर पाप-विरति।

समत्व-वृत्ति की यह साधना सभी वर्ग, सभी जाति और सभी धर्म वाले कर सकते हैं। किसी वेशभूषा और धर्म-विशेष से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवतीसूत्र में कहा है, कोई भी मनुष्य, चाहे गृहस्थ हो या श्रमण, जैन हो या अजैन, समत्ववृत्ति की आराधना कर सकता है। वस्तुतः, जो समत्ववृत्ति की साधना करता है, वह जैन ही है, चाहे वह किसी जाति, वर्ग या धर्म का क्यों न हो। ¹³ एक आचार्य कहते हैं कि चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य

कोई, जो भी समत्ववृत्ति का आचरण करेगा, वह मोक्ष प्राप्त करेगा, इसमें सन्देह नहीं है।

तवन (भक्ति) -

यह दूसरा आवश्यक है। जैन आचार-दर्शन के अनुसार, प्रत्येक साधक का यह कर्तव्य है कि वह नैतिक एवं साधनात्मक-जीवन के आदर्श पुरुष के रूप में जैन तीर्थंकरों की स्तुति करे। जैन-साधना में स्तुति का स्वरूप बहुत कुछ भक्तिमार्ग की जपसाधना या नामस्मरण से मिलता है। स्तुति अथवा भक्ति के माध्यम से साधक अपने अहंकार का नाश और सदगुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है, फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन-विचारधारा के अनुसार, साधना के आदर्श के रूप में जिसकी स्तुति की जाती है, उन आदर्श पुरुषों से किसी प्रकार की उपलब्धि की अपेक्षा नहीं होती। तीर्थंकर एवं सिद्ध-परमात्मा किसी को कुछ नहीं दे सकते, वे मात्र साधन के आदर्श हैं। तीर्थंकर न तो किसी को संसार से पार कर सकते हैं और न किसी प्रकार की उपलब्धि में सहायक होते हैं, फिर भी स्तुति के माध्यम से साधक उनके गुणों के प्रति अपनी श्रद्धा को सजीव बना लेता है। साधक के सामने उनका महान् आदर्श जीवन्त रूप में उपस्थित हो जाता है। साधक भी अपने हृदय में तीर्थंकरों के आदर्श का स्मरण करता हुआ आत्मा में एक आध्यात्मिक-पूर्णता की भावना प्रकट करता है। वह विचार करता है कि आत्मतत्त्व के रूप में मेरी आत्मा और तीर्थंकरों की आत्मा समान ही है, यदि मैं स्वयं प्रयत्न करूँ, तो उनके समान ही बन सकता हूँ। मुझे अपने पुरुषार्थ से उनके समान बनने का प्रयत्न करना चाहिए। जैन-तीर्थंकर गीता के कृष्ण के समान यह उद्घोषणा नहीं करते कि तुम मेरी भक्ति करो, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा,¹⁹ यद्यपि महावीर ने सूत्रकृतांग में यह कहा है कि मैं भय से रक्षा करने वाला हूँ।²⁰ बुद्ध ने भी मज्झिमनिकाय में कहा है कि जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है,²¹ फिर भी जैन और बौद्ध-मान्यता तो यह है कि व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से आध्यात्मिक-उत्थान या पतन कर सकता है। स्वयं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न करके, केवल भगवान् से मुक्ति की प्रार्थना करना जैन-विचारणा की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक है। ऐसी विवेकशून्य प्रार्थनाओं ने मानव-जाति को सब प्रकार से हीन, दीन एवं परापेक्षी बनाया है। जब मनुष्य किसी ऐसे उद्धारक में विश्वास करने लगता है, जो उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पाप से उबार लेगा, तो ऐसी निष्ठा से सदाचार की मान्यताओं को गहरा धक्का लगता है। जैन विचारकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि केवल तीर्थंकरों की स्तुति करने से मोक्ष एवं समाधि की प्राप्ति नहीं होती, जब तक कि मनुष्य स्वयं उसके लिए प्रयास न करे।

फिर भी, हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैन-परम्परा में भक्ति का लक्ष्य आत्म-स्वरूप का बोध या साक्षात्कार है, अपने में निहित परमात्मा-शक्ति को अभिव्यक्त करना है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि सम्यक्ज्ञान और आचरण से युक्त हो निर्वाणाभिमुख होना ही गृहस्थ और श्रमण की वास्तविक भक्ति है। मुक्ति को प्राप्त पुरुषों के गुणों का कीर्तन करना

व्यावहारिक-भक्ति है। वास्तविक भक्ति तो आत्मा को मोक्षपथ में योजित करना है, जो राग-द्वेष एवं सर्व विकल्पों का परिहार करके विशुद्ध आत्मतत्त्व से योजित होना है, यही वास्तविक भक्ति-योग है। ऋषभ आदि सभी तीर्थंकर इसी भक्ति के द्वारा परमपद को प्राप्त हुए हैं।²⁶ इस प्रकार, भक्ति या स्तवन मूलतः आत्मबोध है, वह अपना ही कीर्तन और स्तवन है। जैन-दर्शन में भक्ति के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय देवचन्द्रजी लिखते हैं-²⁷

अज-कुल-गत केशरी लहरे, निज पद सिंह निहाल।

तिम प्रभु भक्ति भवी लहरे, आतम शक्ति संभाल ॥

3. वन्दन

यह तीसरा आवश्यक वन्दन है। साधना के आदर्श के रूप में तीर्थंकर देव की उपासना के पश्चात् साधनामार्ग के पथ-प्रदर्शक गुरु की विनय करना वन्दन है। वन्दन मन, वचन और काया का वह प्रशस्त व्यापार है, जिससे पथ-प्रदर्शक गुरु एवं विशिष्ट साधनारत साधकों के प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट किया जाता है। इसमें उन व्यक्तियों को प्रणाम किया जाता है, जो साधना-पथ पर अपेक्षाकृत आगे बढ़े हुए हैं।

वन्दन के सम्बन्ध में यह भी जान लेना आवश्यक है कि वन्दन किसे किया जाए? आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट रूप से यह निर्देश किया है कि गुणहीन एवं दुराचारी अव्यक्त व्यक्ति को वन्दन करने से न तो कर्मों की निर्जा होती है, न कीर्ति ही, प्रत्युत असंयम और दुराचार का अनुमोदन होने से कर्मों का बंध होता है। ऐसा वन्दन व्यर्थ का काय-क्लेश है।³¹ आचार्य ने यह भी निर्देश किया है कि जो व्यक्ति अपने से श्रेष्ठजनों द्वारा वन्दन कराता है, वह असंयम में वृद्धि करके अपना अधःपतन करता है।³² जैन-विचारधारा के अनुसार, जो चरित्र एवं गुणों से सम्पन्न हैं, वे ही वन्दनीय हैं। द्रव्य (बाह्य) और भाव (आंतर)-दोनों दृष्टियों से शुद्ध संयमी पुरुष ही वन्दनीय है। आचार्य भद्रबाहु ने यह निर्देश किया है कि जिस प्रकार वही सिका ग्राह्य होता है, जिसकी धातु भी शुद्ध हो और मुद्रांकन भी ठीक हो, उसी प्रकार द्रव्य और भाव-दोनों दृष्टियों से शुद्ध व्यक्ति ही वन्दन का अधिकारी होता है।³³

वन्दन करने वाला व्यक्ति विनय के द्वारा लोकप्रियता प्राप्त करता है।³⁴ भगवतीसूत्र के अनुसार, वन्दन के फलस्वरूप गुरुजनों के सत्संग का लाभ होता है। सत्संग से शास्त्र-श्रवण, शास्त्र-श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान और फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम-अनास्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया एवं अन्त में सिद्धि की उपलब्धि हो जाती है।³⁵

वन्दन का मूल उद्देश्य है-जीवन में विनय को स्थान देना। विनय को जिन-शासन का मूल कहा गया है। सम्पूर्ण संघ-व्यवस्था विनय पर आधारित है। अविनीत न तो संघ-व्यवस्था में सहायक होता है और न आत्मकल्याण ही कर सकता है। आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि जिनशासन का मूल विनय है, विनीत ही सच्चा संयमी होता है। जो

विनयशील नहीं है, उसका कैसा तप और कैसा धर्म ?³⁶ दशवैकालिकसूत्र के अनुसार, जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ और फिर क्रम से पत्र, पुष्प, फल एवं रस उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार धर्मवृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल एवं रस मोक्ष है।³⁷ श्रमण-साधकों में दीक्षापर्याय के आधार पर वन्दन किया जाता है, सभी पूर्व-दीक्षित साधक वन्दनीय होते हैं। जैन और बौद्ध-दोनों परम्पराओं में श्रमण-जीवन की वरिष्ठता और कनिष्ठता ही वन्दन का प्रमुख आधार है, यद्यपि दोनों परम्पराओं में दीक्षा या उपसम्पदा की दृष्टि से वरिष्ठ श्रमणी को भी कनिष्ठ या नवदीक्षित श्रमण को वन्दन करने का विधान है। गृहस्थ-साधकों के लिए सभी श्रमण, श्रमणी तथा आयु में बड़े गृहस्थ वन्दनीय हैं।

वन्दन के सम्बन्ध में बुद्ध-वचन है कि पुण्य की अभिलाषा करता हुआ व्यक्ति वर्ष भर जो कुछ यज्ञ व हवन लोक में करता है, उसका फल पुण्यात्माओं के अभिवादन के फल का चौथा भाग भी नहीं होता, अतः सल्लवृत्ति महात्माओं को अभिवादन करना ही अधिक श्रेयस्कर है।³⁸ सदा वृद्धों की सेवा करने वाले और अभिवादनशील पुरुष की चार वस्तुएँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं - आयु, सौन्दर्य, सुख तथा बल।³⁹ धम्मपद का यह श्लोक किञ्चित् परिवर्तन के साथ मनुस्मृति में भी पाया जाता है। उसमें कहा है कि अभिवादनशील और वृद्धों की सेवा करनेवाले व्यक्ति की आयु, विद्या, कीर्ति और बल-ये चारों बातें सदैव बढ़ती रहती हैं।⁴⁰

4. प्रतिक्रमण

मन, वचन और काय से जो अशुभ आचरण किया जाता है, अथवा दूसरों के द्वारा कटाया जाता है और दूसरे लोगों के द्वारा आचरित पापाचरण का जो अनुमोदन किया जाता है, उन सबकी निवृत्ति के लिए कृत पापों की आलोचना करना प्रतिक्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र प्रतिक्रमण का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि शुभ-योग से अशुभयोग की ओर गए हुए अपने-आपको पुनः शुभयोग में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।⁴¹ आचार्य हरिभद्र ने प्रतिक्रमण की व्याख्या में इन तीन अर्थों का निर्देश किया है - (1) प्रमादवश स्वस्थान से परस्थान (स्वधर्म से परस्थान, परधर्म) में गए हुए साधक का पुनः स्वस्थान पर लौट आना-यह प्रतिक्रमण है। अप्रमत्त चेतना का स्व-चेतना-केन्द्र में स्थित होना स्वस्थान है, जबकि चेतना का बहिर्मुख होकर पर-वस्तु पर केन्द्रित होना पर-स्थान है। इस प्रकार, बाह्यदृष्टि से अन्तर्दृष्टि की ओर आना प्रतिक्रमण है। (2) क्षयोपशमिक-भाव से औदयिक-भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिक-भाव से क्षयोपशमिक-भाव में लौट आता है, तो यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है। (3) अशुभ आचरण से निवृत्त होकर मोक्षफलदायक शुभ आचरण में निःशुल्क भाव से प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।⁴⁴

आचार्य भद्रबाहु ने प्रतिक्रमण के निम्न पर्यायवाची नाम दिए हैं - (1) प्रतिक्रमण-पापाचरण के क्षेत्र से प्रतिगामी होकर आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौट आना, अथवा परस्थान में गए

हुए साधक का पुनः स्वस्थान में लौट आना। (2) प्रतिचरण-हिंसा, असत्य आदि से निवृत्त होकर अहिंसा, सत्य एवं संयम के क्षेत्र में अग्रसर होना। (3) परिहरण - सब प्रकार से अशुभ प्रवृत्तियों एवं दुराचरणों का त्याग करना। (4) वारण -- निषिद्ध आचरण की ओर प्रवृत्ति नहीं करना। बौद्ध-धर्म में प्रतिक्रमण के समान की जाने वाली क्रिया को प्रवारण कहा गया है। (5) निवृत्ति - अशुभ भावों से निवृत्त होना। (6) निन्दा-गुरुजन, वरिष्ठ-जन अथवा स्वयं अपनी ही आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ आचरणों को बुरा समझना तथा उसके लिए पश्चाताप करना। (7) गर्हा-अशुभ आचरण को गर्हित समझना, उससे घृणा करना। (8) शुद्धि-प्रतिक्रमण आलोचना, निन्दा आदि के द्वारा आत्मा पर लगे दोषों से आत्मा को शुद्ध बनाता है, इसलिए उसे शुद्धि कहा गया है।

प्रतिक्रमण किसका - स्थानांगसूत्र में इन छह बातों के प्रतिक्रमण का निर्देश है -

(1) उच्चार-प्रतिक्रमण-मल आदि का विसर्जन करने के बाद ईर्या (आने-जाने में हुई जीवहिंसा) का प्रतिक्रमण करना उच्चार-प्रतिक्रमण है। (2) प्रश्रवण-प्रतिक्रमण-पेशाब करने के बाद ईर्या का प्रतिक्रमण करना प्रश्रवण-प्रतिक्रमण है। (3) इत्वर-प्रतिक्रमण - स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना इत्वर-प्रतिक्रमण है। (4) यावत्कथिक-प्रतिक्रमण-सम्पूर्ण जीवन के लिए पाप से निवृत्त होना यावत्कथिक-प्रतिक्रमण है। (5) यत्किंचिन्मिथ्या- प्रतिक्रमण-सावधानीपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी प्रमाद अथवा असावधानी से किसी भी प्रकार का असंयमरूप आचरण हो जाने पर तत्काल उस भूल को स्वीकार कर लेना और उसके प्रति पश्चाताप करना यत्किंचिन्मिथ्या-प्रतिक्रमण है। (6) स्वप्नांतिक-प्रतिक्रमण- विकार-वासनारूप कुस्वप्न देखने पर उसके सम्बन्ध में पश्चाताप करना स्वप्नान्तिक-प्रतिक्रमण है।⁴⁵ यह विवेचना प्रमुखतः साधुओं की जीवनचर्या से सम्बन्धित है। आचार्य भद्रबाहु ने जिन-जिन तथ्यों का प्रतिक्रमण करना चाहिए, इसका निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति में किया है।⁴⁶ उनके अनुसार, (1) मिथ्यात्व, (2) असंयम, (3) कषाय एवं (4) अप्रशस्त कायिक, वाचिक एवं मानसिक-व्यापारों का प्रतिक्रमण करना चाहिए। प्रकारान्तर से आचार्य ने निम्न बातों का प्रतिक्रमण करना भी अनिवार्य माना है - (1) गृहस्थ एवं श्रमण-उपासक के लिए निषिद्ध कार्यों का आचरण कर लेने पर, (2) जिन कार्यों के करने का शास्त्र में विधान किया गया है, उन विहित कार्यों का आचरण न करने पर, (3) अश्रद्धा एवं शंका के उपस्थित हो जाने पर और (4) असम्यक् एवं असत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने पर अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिए।

जैन-परम्परा के अनुसार, जिनका प्रतिक्रमण किया जाना चाहिए, उनका संक्षिप्त वर्गीकरण इस प्रकार है -

(अ) 25 मिथ्यात्वों, 14 ज्ञानातिचारों और 18 पापस्थानों का प्रतिक्रमण सभी को करना चाहिए।

(ब) पंच महाव्रतों, मन, वाणी और शरीर के असंयम तथा गमन, भाषण, याचना, ग्रहण-निक्षेप एवं मलमूत्र-विसर्जन आदि से सम्बन्धित दोषों का प्रतिक्रमण श्रमणसाधकों को करना चाहिए।

(स) पांच अणुव्रतों, 3 गुणव्रतों, 4. शिक्षाव्रतों में लगने वाले 75 अतिचारों का प्रतिक्रमण व्रती-श्रावकों को करना चाहिए।

(द) संलेखणा के पाँच अतिचारों का प्रतिक्रमण उन साधकों के लिए है, जिन्होंने संलेखणा-व्रत ग्रहण किया हो।

श्रमण प्रतिक्रमण-सूत्र और श्रावक प्रतिक्रमण-सूत्र में सम्बन्धित सम्भावित दोषों की विवेचना विस्तार से की गई है। इसके पीछे मूल दृष्टि यह है कि उनका पाठ करते हुए आचरित सूक्ष्मतम दोष भी विचार-पथ से ओझल न हों।

प्रतिक्रमण के भेद - साधकों के आधार पर प्रतिक्रमण के दो भेद हैं- 1. श्रमण-प्रतिक्रमण और 2. श्रावक-प्रतिक्रमण। कालिक-आधार पर प्रतिक्रमण के पाँच भेद हैं - (1) **दैनसिक** - प्रतिदिन सायंकाल के समय पूरे दिवस में आचरित पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना दैनसिक-प्रतिक्रमण है। (2) **रात्रिक** - प्रतिदिन प्रातःकाल के समय सम्पूर्ण रात्रि के आचरित पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना रात्रिक-प्रतिक्रमण है। (3) **पाक्षिक** - पक्षान्त में अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण पक्ष में आचरित पापों का विचार कर उनकी आलोचना करना पाक्षिक-प्रतिक्रमण है। (4) **चातुर्मासिक** - कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा एवं आषाढ़ी पूर्णिमा को चार महीने के आचरित पापों का विचार कर उनकी आलोचना करना चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण है। (5) **सांवत्सरिक** - प्रत्येक वर्ष संवत्सरी-महापर्व के दिन वर्ष भर के पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण और महावीर

प्रतिक्रमण जैन आचार-दर्शन की एक महत्वपूर्ण परम्परा है। महावीर की साधना-प्रणाली में प्रतिक्रमण नामक आवश्यक कर्म पर अत्यधिक जोर दिया गया है। महावीर की धर्म-देशना संप्रतिक्रमण-धर्म कही जाती है। ऐसा माना जाता है कि पार्श्वनाथ की परम्परा में असंयम अथवा पाप का आचरण होने पर साधक उसकी आलोचना के रूप में प्रतिक्रमण कर लेता था, लेकिन महावीर ने साधकों के प्रमाद को दृष्टिगत रखते हुए इस बात पर अधिक बल दिया कि चाहे पाप आचरण हुआ हो या न हुआ हो, फिर भी नियमित रूप से प्रतिक्रमण करना चाहिए। साधनात्मक-जीवन में सतत जाग्रति के लिए महावीर ने इसे अनिवार्य माना और साधकों को यह निर्देश दिया कि प्रतिदिन दोनों संध्याओं में, अर्थात् सूर्यास्त और सूर्योदय के समय अपने सम्पूर्ण आचार-व्यवहार का चिन्तन किया जाए और उसमें लगे हुए दोषों का आलोचन किया जाए। श्वेताम्बर-परम्परा में जो प्रतिक्रमण-विधि सम्प्रति प्रचलित है, उस पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट

हो जाता है कि महावीर की साधना-प्रणाली में क्यों प्रतिक्रमण-विधि पर बहुत जोर दिया गया है? इस विधि के अनुसार, साधक को प्रथम ध्यान में समग्र आचरण का परिशीलन करना होता है, तत्पश्चात् वह ग्रहण किए हुए व्रतों एवं उनमें होने वाले सम्भावित दोषों (अतिचारों) का स्मरण करता है और फिर दूसरे ध्यान में उनके आधार पर अपने आचरण का विश्लेषण कर प्रत्याख्यान के द्वारा उनसे निवृत्त हो स्वस्थान पर लौट आता है। वर्तमान परम्परा में ध्यान में जो 'लोगस्स' का पाठ किया जाता है, वह बहुत ही परवर्ती युग की घटना है। जब ध्यान में साधक का मन अत्यधिक चंचल रहने लगा होगा और वह अपने आचरण का विश्लेषण करने में सक्षम नहीं रहा होगा, तो ऐसी स्थिति में आचार्यों ने 'लोगस्स' का पाठ करने का निर्देश दिया होगा।

5. कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग शब्द का शाब्दिक-अर्थ है -शरीर का उत्सर्ग करना, लेकिन जीवित रहते हुए शरीर का त्याग सम्भव नहीं। यहाँ शरीर-त्याग का अर्थ है-शारीरिक-चंचलता एवं देहासक्ति का त्याग। किसी सीमित समय के लिए शरीर के ऊपर रहे हुए ममत्व का परित्याग कर शारीरिक-क्रियाओं की चंचलता को समाप्त करने का जो प्रयास किया जाता है, वह कायोत्सर्ग है। जैन-साधना में कायोत्सर्ग का महत्व बहुत अधिक है। प्रत्येक अनुष्ठान के पूर्व कायोत्सर्ग की परम्परा है। वस्तुतः, देहाध्यास को समाप्त करने के लिए कायोत्सर्ग आवश्यक है। कायोत्सर्ग शरीर के प्रति ममत्व-भाव को कम करता है। प्रतिदिन जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह चेष्टा-कायोत्सर्ग है, अर्थात् उसमें एक निश्चित समय के लिए समग्र शारीरिक-चेष्टाओं का निरोध किया जाता है एवं उस समय में शरीर पर होने वाले उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन किया जाता है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यकनिर्युक्ति में शुद्ध कायोत्सर्ग के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि चाहे कोई भक्ति-भाव से चन्दन लगाए, चाहे कोई द्वेषवश बसूले से छीले, चाहे जीवन रहे, चाहे उसी क्षण मृत्यु आ जाए, परन्तु जो साधक देह में आसक्ति नहीं रखता है, उक्त सब स्थितियों में समभाव रखता है, वस्तुतः, उसी का कायोत्सर्ग शुद्ध होता है।⁵³ देहव्युत्सर्ग के बिना देहाध्यास का छूटना संभव नहीं, जब तक देहाध्यास या देह-भाव नहीं छूटता, तब तक मुक्ति भी सम्भव नहीं। इस प्रकार, मुक्ति के लिए देहाध्यास का छूटना आवश्यक है और देहाध्यास छोड़ने के लिए कायोत्सर्ग भी आवश्यक है।

कायोत्सर्ग की मुद्रा - कायोत्सर्ग तीन मुद्राओं में किया जा सकता है - 1. जिनमुद्रा में खड़े होकर, 2. पद्यासन या मुखासन से बैठकर और 3. लेटकर। कायोत्सर्ग की अवस्था में शरीर को शिथिल करने का प्रयास करना चाहिए।

कायोत्सर्ग के प्रकार - जैन-परम्परा में कायोत्सर्ग के दो प्रकार हैं - 1. द्रव्य और 2. भाव। द्रव्य-कायोत्सर्ग शारीरिक चेष्टा-निरोध है और भाव-कायोत्सर्ग ध्यान है। इस आधार पर जैन आचार्यों ने कायोत्सर्ग की एक चौभंगी दी है। 1. उत्थित-उत्थित - काय-चेष्टा के निरोध

के साथ ध्यान में प्रशस्त विचार का होना। 2. उत्थित-निविष्टकाय-चेष्टा का निरोध तो हो, लेकिन विचार (ध्यान) अप्रशस्त हो। 3. उपविष्ट-उत्थित - शारीरिक- चेष्टाओं का पूरी तरह निरोध नहीं हो पाता हो, लेकिन विचार-विशुद्धि हो। 4. उपविष्ट- निविष्ट-न तो विचार (ध्यान) विशुद्धि हो और न शारीरिक-चेष्टाओं का निरोध ही हो। इनमें पहला और तीसरा प्रकार ही आचरणीय है।

कायोत्सर्ग के दोष - कायोत्सर्ग सम्यक् प्रकार से सम्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि कायोत्सर्ग के दोषों से बचा जाए। प्रवचनसारोद्धार में कायोत्सर्ग के 19 दोष वर्णित हैं - 1. घोटक-दोष, 2. लता-दोष, 3. स्तंभकुड्य-दोष, 4. माल-दोष, 5. शबरी-दोष, 6. वधू-दोष, 7. निगड-दोष, 8. लम्बोत्तर-दोष, 9. स्तन-दोष, 10. उर्द्धिका-दोष, 11. संयती-दोष, 12. खलीन-दोष, 13. वायस-दोष, 14. कपित्थ-दोष, 15. शीर्षोत्कम्पित-दोष, 16. मूक-दोष, 17. अंगुलिका-भ्रूदोष, 18. वारुणी-दोष और 19. प्रज्ञा-दोष। इन दोषों का सम्बन्ध शारीरिक एवं आसूनि-अवस्थाओं से है। इन दोषों के प्रति सावधानी रखते हुए कायोत्सर्ग करना चाहिए।

कायोत्सर्ग के लाभ के सन्दर्भ में शरीर शास्त्रीय दृष्टिकोण - आधुनिक शरीर-शास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि कायोत्सर्ग एक प्रकार से शारीरिक-क्रियाओं की निवृत्ति है। शरीर-शास्त्र की दृष्टि से शरीर को विश्राम देना आवश्यक है, क्योंकि शारीरिक-प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप शरीर में निम्न विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं- 1. स्नायुओं में स्नायु-शर्करा कम होती है। 2. लेक्टिक-एसिड स्नायुओं में जमा होती है। 3. लेक्टिक-एसिड की वृद्धि होने पर उष्णता बढ़ती है। 4. स्नायु-तंत्र में थकान आती है। 5. रक्त में प्राणवायु की मात्रा कम होती है। कायोत्सर्ग के द्वारा शारीरिक-क्रियाओं में शिथिलता आती है और परिणामस्वरूप शारीरिक-तत्त्व, जो श्रम के कारण विषम स्थिति में हो जाते हैं, वे पुनः सम स्थिति में आ जाते हैं। (1) एसिड पुनः स्नायु-शर्करा में परिवर्तन होता है। (2) लेक्टिक-एसिड का जमाव कम होता है। (3) लेक्टिक-एसिड की कमी से उष्णता में कमी होती है। (4) स्नायुतंत्र में ताजगी आती है। (5) रक्त में प्राणवायु की मात्रा बढ़ती है। मन, मस्तिष्क और शरीर में गहरा सम्बन्ध है। उनके असमंजस से उत्पन्न अवस्था ही स्नायविक-तनाव है। मानसिक-आवेग उसके मुख्य कारण हैं। हम जब द्रव्यक्रिया करते हैं, अर्थात् शरीर को किसी दूसरे काम में लगाते हैं और मन कहीं दूसरे ओर भटकता है, तब स्नायविक-तनाव बढ़ता है। हम भाव-क्रिया करना सीख जाएं, शरीर और मन को साथ-साथ काम में संलग्न करने का अभ्यास कर लें, तो स्नायविक-तनाव बढ़ने का अवसर ही न मिले।

जो लोग इस स्नायविक-तनाव के शिकार होते हैं, वे शारीरिक और मानसिक-स्वास्थ्य से वंचित रहते हैं। वे लोग अधिक भाग्यशाली हैं, जो इस तनाव से मुक्त रहते हैं।

कांयोत्सर्ग इसी तनाव-मुक्ति का प्रयास है।⁵⁷

6. प्रत्याख्यान

इच्छाओं के निरोध के लिए प्रत्याख्यान एक आवश्यक कर्तव्य है। प्रत्याख्यान का अर्थ है-प्रवृत्ति को मर्यादित अथवा सीमित करना।⁵⁸ संयमपूर्ण जीवन के लिए त्याग आवश्यक है, इस रूप में प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग भी माना जा सकता है। नित्य कर्मों में प्रत्याख्यान का समावेश इसलिए किया गया है कि साधक आत्मशुद्धि के लिए प्रतिदिन यथाशक्ति किसी न किसी प्रकार का त्याग करता है। नियमित त्याग करने से अभ्यास होता है, साधना परिपुष्ट होती है और जीवन में अनासक्ति का विकास और तृष्णा मंद होती है। दैनिक प्रत्याख्यान में सामान्यतया उस दिवस-विशेष के लिए कुछ प्रतिज्ञाएँ ग्रहण की जाती हैं, जैसे सूर्य उदय के पश्चात् एक प्रहर अथवा दो प्रहर आदि तक कुछ नहीं खाना, या सम्पूर्ण दिवस के लिए आहार का परित्याग करना, अथवा केवल नीरस या रूखा भोजन करना आदि-आदि। प्रत्याख्यान के दो रूप हैं - 1. द्रव्य-प्रत्याख्यान - आहार-सामग्री, वस्त्र-परिग्रह आदि बाह्य-पदार्थों में से कुछ को छोड़ देना द्रव्य-प्रत्याख्यान है। 2. भाव-प्रत्याख्यान - राग, द्वेष, कषाय आदि अशुभ मानसिक-वृत्तियों का परित्याग करना भाव-प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान के मूलगुण-प्रत्याख्यान और उत्तरगुण-प्रत्याख्यान-ऐसे दो भेद भी किए हैं। नैतिक-जीवन के विकास में मुख्य व्रतों का ग्रहण मूलगुण-प्रत्याख्यान कहलाता है। मूलगुण और उत्तरगुण-प्रत्याख्यान भी सर्व, अर्थात् पूर्णरूप में पालनीय और देश, अर्थात् आंशिक रूप से पालनीय होते हैं। इस आधार पर चार भाग हो जाते हैं - 1. सर्व मूलगुण-प्रत्याख्यान-श्रमण के पाँच महाव्रतों की प्रतिज्ञा, 2. देश मूलगुण-प्रत्याख्यान - गृहस्थ-जीवन के पाँच अणुव्रतों की प्रतिज्ञा, 3. सर्व उत्तरगुण-प्रत्याख्यान- उपवास आदि की प्रतिज्ञाएँ, जो गृहस्थ और श्रमण-दोनों के लिए हैं, 4. देश उत्तरगुण-प्रत्याख्यान - गृहस्थ के गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों की प्रतिमाएँ।

प्रकारान्तर से भगवतीसूत्र में प्रत्याख्यान के दस भेद वर्णित हैं - 1. अनागत - पर्व की तपसाधना को पूर्व में ही कर लेना, 2. अतिक्रान्त - पर्व-तिथि के पश्चात् पर्व-तिथि का तप करना, 3. कोटि सहित - पूर्व गृहीत नियम की अवधि समाप्त होते ही बिना व्यवधान के भविष्य के लिए प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेना; 4. नियंत्रित - विघ्न-बाधाओं के होने पर पूर्व संकल्पित व्रत आदि की प्रतिज्ञा कर लेना; 5. साकार (सापवाद), 6. निराकार (निरपवाद), 7. परिमाण कृत (मात्रा सम्बन्धी), 8. निरवशेष (पूर्ण), 9. सांकेतिक - संकेत-चिह्न से सम्बन्धित, 10. अद्धा-प्रत्याख्यान - समय-विशेष के लिए किया गया प्रत्याख्यान। आचार्य भद्रबाहु ने प्रत्याख्यान का महत्व बताते हुए कहा है कि प्रत्याख्यान करने से संयम होता है। संयम से आस्रव का निरोध होता है और आस्रव-निरोध से तृष्णा का क्षय होता है।⁵⁹ वस्तुतः, प्रत्याख्यान अमर्यादित जीवन को मर्यादित या अनुशासित बनाता है। जैन-परम्परा के अनुसार, आस्रव एवं बन्धन का एक

कारण अविरति भी कहा गया है। प्रत्याख्यान अविरति का निरोध करता है।

दशविध धर्म (दस सद्गुण)

जैन-आचार्यों ने दस प्रकार के कर्मों (सद्गुणों) का वर्णन किया है, जो कि गृहस्थ और श्रमण-दोनों के लिए समान रूप से आचरणीय हैं। आचारांग, मूलाचार, बारस्सअणुवेक्खा, स्थानांग, समवायांग और तत्त्वार्थ के साथ-साथ परवर्ती अनेक ग्रन्थों में भी इन धर्मों का वर्णन विस्तार से उपलब्ध होता है।

यहाँ धर्म शब्द का अर्थ सद्गुण या नैतिक-गुण ही अभिप्रेत है। सर्वप्रथम हमें आचारांग-सूत्र में आठ सामान्य धर्मों का उल्लेख उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि जो धर्म में उत्थित, अर्थात् तत्पर है, उनको और जो धर्म में उत्थित नहीं हैं, उनको भी निम्न बातों का उपदेश देना चाहिए - शांति, विरति (विरक्ति), उपशम, निवृत्ति, शौच (पवित्रता), आर्जव, मार्दव और लाघव⁶¹। इस प्रकार, उसमें इनकी साधना गृहस्थ और श्रमण-दोनों के लिए अपेक्षित है। स्थानांग⁶² और समवायांग⁶³ में दस श्रमण-धर्मों के रूप में इन्हीं सद्गुणों का उल्लेख हुआ है, यद्यपि स्थानांग और समवायांग की सूची आचारांग से थोड़ी भिन्न है। उसमें दस धर्म हैं - क्षांति (क्षमा), मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्यवास। इस सूची में शौच का अभाव है। शांति, विरति, उपशम और निवृत्ति के स्थान पर नामान्तर से क्षांति, मुक्ति, संयम और त्याग का उल्लेख हुआ है, जबकि सत्य, त्याग और ब्रह्मचर्यवास इस सूची में नए हैं। बारस्स-अणुवेक्खा एवं तत्त्वार्थ में भी श्रमणाचार के प्रसंग में ही दस धर्मों का उल्लेख हुआ है। तत्त्वार्थ की सूची में लाघव के स्थान पर अकिंचन्य का उल्लेख हुआ है, यद्यपि दोनों का अर्थ समान ही है। दूसरे, तत्त्वार्थ में मुक्ति के स्थान पर शौच का उल्लेख हुआ है। इन दोनों में अर्थ-भेद भी है। चाहे इन धर्मों (सद्गुणों) का उल्लेख श्रमणाचार के प्रसंग में ही अधिक हुआ है, किन्तु आचारांग (1/6/5) और पद्मनन्दीकृत पंचविंशतिका (6/59) के अनुसार इनका पालन गृहस्थ और श्रमण-दोनों के लिए अपेक्षित है। इनके क्रम और नामों को लेकर जैन आचार-ग्रन्थों में थोड़ा-बहुत मतभेद पाया जाता है, फिर भी इनकी मूल भावना में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रस्तुत विवेचन तत्त्वार्थ के आधार पर कर रहे हैं। तत्त्वार्थ में निम्न दस धर्मों का उल्लेख है⁶⁴ - (1) क्षमा, (2) मार्दव, (3) आर्जव, (4) शौच, (5) सत्य, (6) संयम, (7) तप, (8) त्याग, (9) अकिंचनता और (10) ब्रह्मचर्य। इन दस धर्मों में जैन परम्परा में क्षमा का सर्वाधिक महत्व है।

क्षमा प्रथम धर्म है। दशवैकालिकसूत्र के अनुसार क्रोध प्रीति का विनाशक है।⁶⁵ क्रोध-कषाय के उपशमन के लिए क्षमा-धर्म का विधान है। क्षमा के द्वारा ही क्रोध पर विजय प्राप्त की जा सकती है।⁶⁷ जैन-परम्परा में अपराधी को क्षमा करना और स्वयं के अपराधों के लिए, बिसके प्रति अपराध किया गया है, उससे क्षमा-याचना करना साधक का परम कर्तव्य है। जैन-साधक का प्रतिदिन यह उद्घोष होता है कि मैं सभी प्राणियों को क्षमा करता हूँ और सभी प्राणी

मेरे अपराधों के लिए मुझे क्षमा करें। सभी प्राणियों से मेरी मित्रता है, किसी से मेरा वैर नहीं है।⁶⁶ महावीर का श्रमण-साधकों के लिए यह आदेश था कि साधुओं ! यदि तुम्हारे द्वारा किसी का अपराध हो गया है, तो सबसे पहले क्षमा माँगो। जब तक क्षमायाचना न कर लो, भोजन मत करो, स्वाध्याय मत करो, शौचादि कर्म भी मत करो, यहाँ तक कि अपने मुँह का थूक भी गले से नीचे मत उतारो। अपने प्रधान शिष्य गौतम को लाए हुए आहार को रखवाकर पहले आनन्द श्रावक से क्षमा-याचना के लिए भोजना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महावीर की दृष्टि में क्षमा-धर्म का कितना अधिक महत्व था।⁶⁹ जैन परम्परा के अनुसार, प्रत्येक साधक को प्रातःकाल एवं सायंकाल, पक्षान्त में, चातुर्मास के अन्त में और संवत्सरी-पर्व पर सभी प्राणियों से क्षमा-याचना करनी होती है।

समाधि-मरण (संलेखना)

जैन-परम्परा के सामान्य आचार-नियमों में संलेखना या संधारा (स्वेच्छापूर्वक मृत्यु-वरण) एक महत्वपूर्ण तथ्य है। जैन गृहस्थ-उपासकों एवं श्रमण-साधकों, दोनों के लिए स्वेच्छापूर्वक मृत्यु-वरण का विधान जैन-आगमों में उपलब्ध है। जैन-आगम-साहित्य ऐसे साधकों की जीवन-गाथाओं से भरा पड़ा है, जिन्होंने स्वेच्छया मरण का व्रत अंगीकार किया था। अन्तकृतदशांग एवं अनुत्तरोपपातिक-सूत्रों में उन श्रमण-साधकों का और उपासकदशांगसूत्र में आनन्द आदि उन गृहस्थ-साधकों का जीवन-दर्शन वर्णित है, जिन्होंने जीवन की सांध्य-वेला में स्वेच्छा-मरण का व्रत स्वीकारा था। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार, मृत्यु के दो रूप हैं -- 1. स्वेच्छा-मरण या निर्भयतापूर्वक मृत्युवरण और 2. अनिच्छापूर्वक या भयपूर्वक मृत्यु से ग्रसित होना।⁷⁰ स्वेच्छा-मरण में मनुष्य का मृत्यु पर शासन होता है, जबकि अनिच्छापूर्वक मरण में मृत्यु मनुष्य पर शासन करती है। पहले को पण्डितमरण या समाधिमरण भी कहा गया है और दूसरे को बाल (अज्ञानी) मरण या असमाधिमरण कहा गया है। एक ज्ञानीजन की मौत है और दूसरी अज्ञानी की, अज्ञानी विषयासक्त होता है और इसलिए वह बार-बार मरता है, जबकि यथार्थ ज्ञानी अनासक्त होता है, इसलिए वह एक ही बार मरता है।⁷¹ जो मृत्यु से भय खाता है, उससे बचने के लिए भागा-भागता फिरता है, मृत्यु भी उसका बराबर पीछा करती रहती है, लेकिन जो निर्भय होकर मृत्यु का स्वागत करता है और उसका आलिंगन करता है, मृत्यु भी उसका पीछा नहीं करती। जो मृत्यु से भय खाता है, वही मृत्यु का शिकार होता है, लेकिन जो मृत्यु से निर्भय हो जाता है, वह अमरता की दिशा में आगे बढ़ जाता है। साधकों के प्रति महावीर का सन्देश यही था कि मृत्यु के उपस्थित होने पर शरीरादि से अनासक्त होकर उसका आलिंगन करो।⁷² महावीर के दर्शन में अनासक्त जीवन-शैली की यही महत्वपूर्ण कसौटी है। जो साधक मृत्यु से भागता है, वह सच्चे अर्थ में अनासक्त-जीवन जीने की कला से अनभिज्ञ है। जिसे अनासक्त-मृत्यु की कला नहीं आती, उसे अनासक्त-जीवन की कला भी नहीं आ सकती। इसी अनासक्त-मृत्यु

की कला को संलेखना-व्रत कहा गया है। जैन-परम्परा में संथारा, संलेखना, समाधि-मरण, पण्डित-मरण और सकाम-मरण¹⁹⁰ आदि स्वेच्छापूर्वक मृत्यु-वरण के ही पर्यायवाची नाम हैं। आचार्य समन्तभद्र संलेखना की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि आपत्तियों, अकालों, अतिवृद्धावस्था एवं असाध्य रोगों में शरीर त्याग करना संलेखना है, ¹⁹¹ अर्थात् जब मृत्यु अनिवार्य - सी हो गई हो, उन स्थितियों में निर्भय होकर देहासक्ति का विसर्जन कर मृत्यु का स्वागत करना ही संलेखना - व्रत है।

समाधि-मरण के भेद

जैनगमों में मृत्यु-वरण के अवसरों की अपेक्षा के आधार पर समाधि-मरण के दो प्रकार कहे गए हैं - 1. सागारी-संधारा और 2. सामान्य संधारा।

सागारी-संधारा - अकस्मात् जब कोई ऐसी विपत्ति उपस्थित हो जाए, कि जिसमें से जीवित बच निकलना सम्भव न हो, जैसे आग में घिर जाना, जल में डूबने जैसी स्थिति हो जाना अथवा हिंसक पशु या किसी ऐसे दुष्ट व्यक्ति के अधिकार में फँस जाना, जहाँ सदाचार से पतित होने की संभावना हो, ऐसे संकटपूर्ण अवसरों पर जो संधारा ग्रहण किया जाता है, उसे सागारी-संधारा कहते हैं। यदि व्यक्ति उस विपत्ति या संकटपूर्ण स्थिति से बाहर हो जाता है, तो वह पुनः देहक्षण तथा जीवन के सामान्य क्रम को चालू रख सकता है। सागारी-संधारा मृत्युपर्यन्त के लिए नहीं, वरन् परिस्थिति-विशेष के लिए होता है, अतः परिस्थिति-विशेष के समाप्त हो जाने पर उस व्रत की मर्यादा भी समाप्त हो जाती है।

सामान्य संधारा - जब स्वाभाविक जरावस्था अथवा असाध्य रोग के कारण पुनः स्वस्थ होकर जीवित रहने की समस्त आशाएँ धूमिल हो गई हों, तब यावज्जीवन तक जो देहासक्ति एवं शरीर-पोषण के प्रयत्नों का त्याग किया जाता है, वह सामान्य संधारा है। यह यावज्जीवन के लिए होता है, अर्थात् देहपात पर ही पूर्ण होता है। सामान्य संधारा ग्रहण करने के लिए जैनगमों में निम्न स्थितियाँ आवश्यक मानी गई हैं- जब सभी इन्द्रियाँ अपने कार्यों का सम्पादन करने में अक्षम हो गई हों, जब शरीर सूखकर अस्थिपंजर रह गया हो, पचन-पाचन, आहार-विहार आदि शारीरिक-क्रियाएँ शिथिल हो गई हों और इनके कारण साधना और संयम का परिपालन सम्यक् रीति से होना सम्भव न रहा हो, तभी, अर्थात् मृत्यु के उपस्थित हो जाने पर ही सामान्य संधारा ग्रहण किया जा सकता है। सामान्य संधारा तीन प्रकार का है - (अ) भक्त-प्रत्याख्यान- आहार आदि का त्याग कर देना (ब) इंगितमरण- एक निश्चित भू-भाग पर हलन-चलन आदि शारीरिक-क्रियाएँ करते हुए आहार आदि का त्याग करना, (स) पादोपगमन - आहार आदि के त्याग के साथ-साथ शारीरिक-क्रियाओं का निरोध करते हुए मृत्युपर्यन्त निश्चल रूप से लकड़ी के तख्ते के समान स्थिर पड़े रहना। उपर्युक्त सभी प्रकार के समाधि-मरणों में मन का समभाव में स्थित होना अनिवार्य है।

समाधि-मरण ग्रहण करने की विधि

जैनगमों में समाधि-मरण ग्रहण करने की विधि भी बताई गई है। सर्वप्रथम मलमूत्रादि अशुचि-विसर्जन के स्थान का अवलोकन कर नरम तृणों की शय्या तैयार कर ली जाती है। तत्पश्चात् सिद्ध, अरहन्त और धर्माचार्यों को विनयपूर्वक नमस्कार कर पूर्वगृहीत प्रतिज्ञाओं में लगे हुए दोषों की आलोचना और उनका प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है। इसके बाद, समस्त प्राणियों से क्षमा-याचना की जाती है और अन्त में अठारह पापस्थानों, अन्नादि चतुर्विध-आहारों का त्याग करके शरीर के ममत्व एवं पोषण-क्रिया का विसर्जन किया जाता है। साधक प्रतिज्ञा करता है कि मैं पूर्णतः हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य से विरत होता हूँ, अन्न आदि चारों प्रकार के आहार का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ। मेरा यह शरीर, जो मुझे अत्यन्त प्रिय था, मैंने इसकी बहुत रक्षा की थी, कृपण के धन के समान इसे संभालता रहा था, इस पर मेरा पूर्ण विश्वास था (कि यह मुझे कभी नहीं छोड़ेगा), इसके समान मुझे अन्य कोई प्रिय नहीं था, इसलिए मैंने इसे शीत, गर्मी, क्षुधा, तृषा आदि अनेक कष्टों से एवं विविध रोगों से बचाया और सावधानीपूर्वक इसकी रक्षा करता रहा, अब मैं इस देह का विसर्जन करता हूँ और इसके पोषण एवं रक्षण के प्रयासों का परित्याग करता हूँ।¹⁹²

नैतिकता का आधार सामाजिक चेतना

भारतीय-दर्शन में सामाजिक-चेतना का विकास

भारतीय दार्शनिक-चिन्तन में उपस्थित सामाजिक-सन्दर्भों को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए कि केवल कुछ दार्शनिक-प्रस्थान ही सम्पूर्ण भारतीय-प्रज्ञा एवं भारतीय-चिन्तन का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं, इन दार्शनिक-प्रस्थानों से हटकर भी भारत में दार्शनिक-चिन्तन हुआ है और उसमें अनेकानेक सामाजिक-संदर्भ उपस्थित हैं। दूसरे यह कि भारतीय-दर्शन मात्र बौद्धिक एवं सैद्धान्तिक ही नहीं है, वह अनुभूत्यात्मक एवं व्यावहारिक भी है; कोई भी भारतीय-दर्शन ऐसा नहीं है, जो मात्र तत्त्वमीमांसीय (Metaphysical) एवं ज्ञान-मीमांसीय (Epistemological) चिन्तन से ही संतोष धारण कर लेता हो। उसमें ज्ञान ज्ञान के लिए नहीं, अपितु जीवन के सफल संचालन के लिए है। उसका मूल दुःख ही समस्या में है। दुःख और दुःख-मुक्ति-यही भारतीय-दर्शन का 'अर्थ' और 'इति' है। यद्यपि तत्त्व-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा प्रत्येक भारतीय-दार्शनिक-प्रस्थान के महत्वपूर्ण

अंग रहे हैं, किन्तु वे सम्यक् जीवनदृष्टि के निर्माण और सामाजिक-व्यवहार की शुद्धि के लिए हैं। भारतीय-चिन्तन में दर्शन की धर्म और नीति से अवियोज्यता उसके सामाजिक-सन्दर्भ को और भी स्पष्ट कर देती है। यहाँ दर्शन जानने की नहीं, अपितु जीने की वस्तु रहा है; वह मात्र ज्ञान नहीं, अनुभूति है और इसीलिए वह फिलासफी नहीं, दर्शन है, जीवन जीने का एक सम्यक् दृष्टिकोण है।

यद्यपि हमारा दुर्भाग्य तो यह रहा कि मध्य-युग में दर्शन साधकों और ऋषि-मुनियों के हाथों से निकलकर तथाकथित बुद्धिजीवियों के हाथों में चला गया। फलतः, उसमें तार्किक-पक्ष प्रधान तथा अनुभूतिमूलक-साधना एवं आचार-पक्ष गौण हो गया और हमारी जीवन-शैली से उसका रिश्ता धीरे-धीरे टूटता गया।

सामाजिक-चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय-चिन्तन के प्राचीन युग को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं -

1. वैदिक-युग,
2. औपनिषदिक-युग, एवं
3. जैन-बौद्ध-युग

वैदिक-युग में जनमानस में सामाजिक-चेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया गया, जबकि औपनिषदिक-युग में सामाजिक-चेतना के लिए दार्शनिक-आधार पर प्रस्तुतिकरण किया गया और जैन-बौद्ध-युग में सामाजिक-सम्बन्धों के शुद्धिकरण पर बल दिया गया।

वैयक्तिकता और सामाजिकता-दोनों ही मानवीय 'स्व' के अनिवार्य अंग हैं। पाश्चात्य-विचारक ब्रैडले का कथन है कि मनुष्य नहीं है, यदि वह सामाजिक नहीं, किन्तु यदि वह मात्र सामाजिक ही है, तो वह पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता वैयक्तिकता और सामाजिकता-दोनों का अतिक्रमण करने में है। वस्तुतः, मनुष्य एक ही साक्ष सामाजिक और वैयक्तिक-दोनों ही है, क्योंकि मानव-व्यक्तित्व में राग-द्वेष के तत्त्व अनिवार्य रूप से उपस्थित हैं। राग का तत्त्व उसमें सामाजिकता का विकास करता है, तो द्वेष का तत्त्व उसमें वैयक्तिकता या स्व-हितवादी-दृष्टि का विकास करता है। जब राग का सीमाक्षेत्र संकुचित होता है और द्वेष का अधिक विस्तारित होता है, तो व्यक्ति को स्वार्थी कहा जाता है, उसमें वैयक्तिकता प्रमुख होती है, किन्तु जब राग का सीमा-क्षेत्र विस्तारित होता है और द्वेष का क्षेत्र कम होता है, तब व्यक्ति परोपकारी या

सामाजिक कहा जाता है, किन्तु जब वह वीतराग और वीतद्वेष होता है, तब वह अतिसामाजिक होता है, किन्तु अपने और पराए भाव का यह अतिक्रमण असामाजिक नहीं है। वीतरागता की साधना में अनिवार्य रूप से 'स्व' की संकुचित सीमा को तोड़ना होता है, अतः ऐसी साधना अनिवार्य रूप से असामाजिक तो नहीं हो सकती है। साथ ही, मनुष्य जब तक मनुष्य है, वह वीतराग नहीं हुआ है, तो स्वभावतः ही एक सामाजिक-प्राणी है। अतः, कोई भी धर्म सामाजिक-चेतना से विमुख होकर जीवित नहीं रह सकता।

वेदों एवं उपनिषदों में सामाजिक-चेतना

भारतीय-चिन्तन की प्रवर्तक वैदिक-धारा में सामाजिकता का तत्त्व उसके प्रारम्भिक-काल से ही उपस्थित है। वेदों में सामाजिक-जीवन की संकल्पना के व्यापक सन्दर्भ हैं। वैदिक-ऋषि सफल एवं सहयोगपूर्ण सामाजिक-जीवन के लिए अभ्यर्थना करते हुए कहता है कि 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' - तुम मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें; अर्थात् तुम्हारे जीवन-व्यवहार में सहयोग, तुम्हारी वाणी में समस्वरता और तुम्हारे विचारों में समानता हो। आगे पुनः वह कहता है -

समानो मन्त्रः समितिः समानी,

समानं मनः सहचित्तमेषाम्।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

अर्थात्, आप सबके निर्णय समान हों, आप सबकी सभा भी सबके लिए समान हो, अर्थात् सबके प्रति समान व्यवहार करें। आपका मन भी समान हो और आपकी चित्तवृत्ति भी समान हो, आपके संकल्प एक हों, आपके हृदय एक हों, आपका मन भी एकरूप हो, ताकि आप मिलजुलकर अच्छी तरह से कार्य कर सकें।¹² सम्भवतः, सामाजिक-जीवन एवं समाज-निष्ठा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक-युग के भारतीय-चिन्तक के ये सबसे महत्वपूर्ण उद्गार हैं। वैदिक-ऋषियों का 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के रूप में एक सुसभ्य एवं सुसंस्कृत मानव-समाज की रचना का मिशन तभी सफल हो सकता था, जबकि वे जन-जन में समाज-निष्ठा के बीज का बपन करते। सहयोगपूर्ण

जीवन-शैली उनका मूल मंतव्य था। प्रत्येक अवसर पर शांति-पाठ के माध्यम से वे जन-जन में सामाजिक-चेतना के विकास का प्रयास करते थे। वे अपने शांति-पाठ में कहते थे -

ॐ सहना भवतु सहनौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै,
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।^१

हम सब साथ-साथ रक्षित हों, साथ-साथ पोषित हों, साथ-साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम आपस में विद्वेष न करें। वैदिक समाज-दर्शन का आदर्श था - 'शत-हस्तः समाहर, सहस्रहस्तः सीकर' सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजार हाथों से बाँटो, किन्तु यह बाँटने की बात दया या कृपा नहीं है, अपितु सामाजिक-दायित्व का बोध है, क्योंकि भारतीय-चिंतन में दान के लिए संविभाग शब्द का प्रयोग होता रहा है, इसमें सम वितरण या सामाजिक-दायित्व का बोध ही प्रमुख है, कृपा, दया, करुणा-ये सब गौण हैं। आचार्य शंकर ने दान की व्याख्या की है 'दानं संविभाग'। जैन-दर्शन में तो अतिथि-संविभाग के रूप में एक स्वतन्त्र व्रत की व्यवस्था की गई है। संविभाग शब्द करुणा का प्रतीक न होकर सामाजिक-अधिकार का प्रतीक है। वैदिक-ऋषियों का निष्कर्ष था कि जो अकेला खाता है, वह पापी है (केवलादो भवति केवलादी)। जैन-दार्शनिक भी कहते थे 'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो,' जो सम-विभागी नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं होगी। इस प्रकार, हम वैदिक-युग में सहयोग एवं सहजीवन का संकल्प उपस्थित पाते हैं, किन्तु उसके लिए दार्शनिक-आधार का प्रस्तुतिकरण औपनिषदिक-चिन्तन में ही हुआ है। औपनिषदिक ऋषि 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के रूप में एकत्व की अनुभूति करने लगा। औपनिषदिक-चिन्तन में वैयक्तिकता से ऊपर उठकर सामाजिक-एकता के लिए अभेदनिष्ठा का सर्वोत्कृष्ट तात्त्विक-आधार प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार, जहाँ वेदों की समाज-निष्ठा बहिर्मुखी थी, वहीं उपनिषदों में आकर अन्तर्मुखी हो गई। भारतीय-दर्शन में यह अभेद-निष्ठा ही सामाजिक-एकत्व की चेतना एवं सामाजिक-समता का आधार बनी है। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता था -

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥^२

जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है, वह

अपनी इस एकात्मता की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता है। सामाजिक-जीवन के विकास का आधार एकात्मता की अनुभूति है और जब एकात्मता की दृष्टि का विकास हो जाता है, तो घृणा और विद्वेष के तत्त्व स्वतः समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार, जहाँ एक ओर औपनिषदिक-ऋषियों ने एकात्मता की चेतना को जाग्रत कर सामाजिक-जीवन के विनाशक घृणा एवं विद्वेष के तत्त्वों को समाप्त करने का प्रयास किया, वहीं दूसरी ओर, उन्होंने सम्पत्ति के वैयक्तिक-अधिकार का निरसन कर ईश्वरी-सम्पदा अर्थात् सामूहिक-सम्पदा का विचार भी प्रस्तुत किया। ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भ में ही ऋषि कहता है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥⁵

अर्थात्, इस जग में जो कुछ भी है, वह सभी ईश्वरीय है, ऐसा कुछ नहीं है, जिसे वैयक्तिक कहा जा सके। इस प्रकार, श्लोक के पूर्वार्द्ध में वैयक्तिक-अधिकार का निरसन करके समष्टि को प्रधानता दी गई है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति के उपभोग एवं संग्रह के अधिकार को मर्यादित करते हुए कहा गया कि प्रकृति की जो भी उपलब्धियाँ हैं, उनमें दूसरों (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यों) का भी भाग है, अतः उनके भाग को छोड़कर ही उनका उपयोग करो, संग्रह या लालच मत करो, क्योंकि सम्पत्ति किसी एक की नहीं है। सम्भवतः, सामाजिक-चेतना के विकास के लिए इससे अधिक महत्वपूर्ण दूसरा कथन नहीं हो सकता था। यही कारण था कि गांधीजी ने इस श्लोक के सन्दर्भ में कहा था कि भारतीय-संस्कृति का सभी कुछ नष्ट हो जाए, किन्तु यह श्लोक बना रहे, तो यह अकेला ही उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' में समग्र सामाजिक-चेतना केन्द्रित दिखाई देती है।

गीता में सामाजिक-चेतना

यदि हम उपनिषदों से महाभारत और उसके ही एक अंश गीता की ओर आते हैं, तो यहाँ भी हमें सामाजिक-चेतना का स्पष्ट दर्शन होता है। महाभारत तो इतना व्यापक ग्रन्थ है कि उसमें उपस्थित समाज-दर्शन पर एक स्वतन्त्र महानिबन्ध लिखा जा सकता है। सर्वप्रथम महाभारत में हमें समाज की आंगिक-संकल्पना का वह सिद्धान्त परिलक्षित होता है, जिस पर पाश्चात्य-चिन्तन में सर्वाधिक बल दिया गया है। गीता भी इस एकात्मता की अनुभूति पर बल देती है। गीताकार कहता है कि -

‘आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ॥’⁶

अर्थात्, जो सुख-दुःख की अनुभूति में सभी को अपने समान समझता है, वही सच्चा योगी है। मात्र इतना ही नहीं, वह तो इससे आगे यह भी कहता है कि सच्चा दर्शन या ज्ञान वही है, जो हमें एकात्मता की अनुभूति कराता है - ‘अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।’ वैयक्तिक-विभिन्नताओं में भी एकात्मता की अनुभूति ही ज्ञान की सात्त्विकता और हमारी समाज-निष्ठा का एकमात्र आधार है। सामाजिक-दृष्टि से गीता ‘सर्वभूत-हिते रताः’ का सामाजिक-आदर्श भी प्रस्तुत करती है। अनासक्त-भाव से युक्त होकर लोक-कल्याण के लिए कार्य करते रहना ही गीता के समाज-दर्शन का मूल मन्तव्य है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं -

‘ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः’⁷

मात्र इतना ही नहीं, गीता में सामाजिक-दायित्वों के निर्वहन पर भी पूरा-पूरा बल दिया गया है। जो अपने सामाजिक-दायित्वों को पूर्ण किए बिना भोग करता है, वह गीताकार की दृष्टि में चोर है (स्तेन एव सः, 3/12), साथ ही जो मात्र अपने लिए पकाता है, वह पाप का ही अर्जन करता है। (भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्, 3/13)। गीता हमें समाज में रहकर ही जीवन जीने की शिक्षा देती है, इसलिए उसने संन्यास की नवीन परिभाषा भी प्रस्तुत की है। वह कहती है कि -

‘काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः’⁸

काम्य, अर्थात् स्वार्थयुक्त कर्मों का त्याग ही संन्यास है, केवल निरग्रि और निश्चिन्त हो जाना संन्यास नहीं है। सच्चे संन्यासी का लक्षण है-समाज में रहकर लोककल्याण के लिए अनासक्त-भाव से कर्म करता रहे।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं करोति यः ।

स संन्यास च योगी च न निरग्रिर्न चाक्रियः ॥⁹

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि लोक-शिक्षा को चाहते हुए कर्म करता रहे (कुर्यात् विद्वान् तथा असक्तः चिकीर्षुः लोकसंग्रहम्)।¹⁰ गीता में गुणाश्रित कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का जो आदर्श प्रस्तुत किया था, वह भी सामाजिक-दृष्टि से कर्तव्यों एवं दायित्वों के विभाजन का एक महत्वपूर्ण कार्य था, यद्यपि भारतीय-समाज का यह दुर्भाग्य था कि गुण अर्थात् वैयक्तिक-योग्यता के आधार पर कर्म एवं वर्ण का

यह विभाजन किन्हीं निहित स्वार्थों के कारण जन्मना बना दिया गया। वस्तुतः, वेदों में एवं स्वयं गीता में भी जो विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से उत्पत्ति के रूप में वर्णों की अवधारणा है, वह अन्य कुछ नहीं, अपितु समाज-पुरुष के विभिन्न अंगों की अवधारणा है और किसी सीमा तक समाज के आंगिकता-सिद्धांत का ही प्रस्तुतिकरण है।

सामाजिक-जीवन में विषमता एवं संघर्ष का एक महत्वपूर्ण कारण सम्पत्ति का अधिकार है। श्रीमद्भागवत भी ईशावास्योपनिषद् के समान ही सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार को अस्वीकार करती है। उसमें कहा गया है -

यावत् ध्रियेत जठरं, तावत् स्वत्वं देहिनाम्।

अधिको योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति ॥¹¹

अर्थात्, अपनी दैहिक-आवश्यकता से अधिक सम्पदा पर अपना स्वत्व मानना सामाजिक-दृष्टि से चोरी है, अनधिकृत चेशा है। आज का समाजवाद एवं साम्यवाद भी इसी आदर्श पर खड़ा है, 'योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार वेतन' की उसकी धारणा यहाँ पूरी तरह उपस्थित है। भारतीय-चिन्तन में पुण्य और पाप का जो वर्गीकरण है, उसमें भी सामाजिक-दृष्टि ही प्रमुख है। पाप के रूप में जिन दुर्गुणों का और पुण्य के रूप में जिन सद्गुणों का उल्लेख है, उनका सम्बन्ध वैयक्तिक-जीवन की अपेक्षा सामाजिक-जीवन से अधिक है। पुण्य और पाप की एकमात्र कसौटी है - किसी कर्म का लोक-मंगल में उपयोगी या अनुपयोगी होना। कहा भी गया है -

‘परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्’

जो लोक के लिए हितकर है, कल्याणकर है, वह पुण्य है और इसके विपरीत, जो भी दूसरों के लिए पीड़ा-जनक है, अमंगलकर है, वह पाप है। इस प्रकार, भारतीय-चिन्तन में पुण्य-पाप की व्याख्याएँ भी सामाजिक-दृष्टि पर ही आधारित हैं।

जैन एवं बौद्धधर्म में सामाजिक-चेतना

यदि हम निवर्तक-धारा के समर्थक जैनधर्म एवं बौद्धधर्म की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि इनमें समाज की दृष्टि की उपेक्षा की गई है। सामान्यतया, यह माना जाता है कि निवृत्ति-प्रधान दर्शन व्यक्ति-परक और प्रवृत्ति-प्रधान दर्शन समाज-परक होते हैं, किन्तु यह मान लेना कि भारतीय-चिन्तन की निवर्तक-धारा के समर्थक जैन, बौद्ध आदि दर्शन असामाजिक हैं या इन दर्शनों में सामाजिक-

संदर्भ का अभाव है, नितान्त भ्रम होगा। इनमें भी सामाजिक-भावना से पराङ्मुखता नहीं दिखाई देती है। ये दर्शन इतना तो अवश्य मानते हैं कि चाहे वैयक्तिक-साधना की दृष्टि से एकांकी जीवन लाभप्रद हो सकता है, किन्तु उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक-कल्याण की दिशा में ही होना चाहिए। महावीर और बुद्ध का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि वे ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् जीवन-पर्यन्त लोक-मंगल के लिए कार्य करते रहे। यद्यपि इन निवृत्तिप्रधान-दर्शनों में जो सामाजिक-सन्दर्भ उपस्थित हैं, वे थोड़े भिन्न प्रकार के अवश्य हैं। इनमें मूलतः सामाजिक-सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास परिलक्षित होता है। सामाजिक-सन्दर्भ की दृष्टि से इनमें समाज-रचना एवं सामाजिक-दायित्वों की निर्वहण की अपेक्षा समाज-जीवन को दूषित बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया है। जैन-दर्शन के पंच महाव्रत, बौद्ध-दर्शन के पंचशील और योगदर्शन के पंच यमों का सम्बन्ध अनिवार्यतया हमारे सामाजिक-जीवन से ही है। प्रश्नव्याकरणसूत्र नामक जैन-आगम में कहा गया है कि तीर्थंकर का यह सुकथित प्रवचन सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है। पांचों महाव्रत सर्वप्रकार से लोकहित के लिए हैं।¹² हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, संग्रह (परिग्रह)-ये सब वैयक्तिक नहीं, सामाजिक-जीवन की दृष्टप्रवृत्तियाँ हैं। ये सब दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार से संबंधित हैं। हिंसा का अर्थ है-किसी अन्य की हिंसा, असत्य का मतलब है-किसी अन्य को गलत जानकारी देना, चोरी का अर्थ है-किसी दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण करना, व्यभिचार का मतलब है-सामाजिक-मान्यताओं के विरुद्ध यौन-सम्बन्ध स्थापित करना, इसी प्रकार, संग्रह या परिग्रह का अर्थ है-समाज में आर्थिक-विषमता पैदा करना। क्या समाज-जीवन के अभाव में इनका कोई अर्थ या संदर्भ रह जाता है? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की जो मर्यादाएं इन दर्शनों ने दीं, वे हमारे सामाजिक-सम्बन्धों की शुद्धि के लिए ही हैं।

इसी प्रकार; जैन, बौद्ध और योग-दर्शनों की साधना-पद्धति में समान रूप से प्रस्तुत मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ-भावनाओं के आधार पर भी सामाजिक-संदर्भ को स्पष्ट किया जा सकता है। जैनाचार्य अमितागति इन भावनाओं की अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में करते हैं-

सत्त्वेषु मैत्री गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।

मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥¹³

‘हे प्रभु ! हमारे मनों में प्राणियों के प्रति मित्रता, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दुःखियों के प्रति करुणा तथा दुष्ट जनों के प्रति मध्यस्थ-भाव सदा विद्यमान रहे ।’ इस प्रकार, इन भावनाओं के माध्यम से समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से हमारे सम्बन्ध किस प्रकार के हों, यही स्पष्ट किया गया है । समाज में दूसरे लोगों के साथ हम किस प्रकार जीवन जिएं, यह हमारी सामाजिकता के लिए अति आवश्यक है और इन दर्शनों में इस प्रकार से व्यक्ति को समाज-जीवन से जोड़ने का ही प्रयास किया गया है । इन दर्शनों का हृदय रिक्त नहीं है । इनमें प्रेम और करुणा के लिए अटूट धारा बह रही है । तीर्थंकर की वाणी का प्रस्फुटन ही लोक की करुणा के लिए होता है (समेच्च लोये खेयन्ने पव्वइये), इसीलिए तो आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं - ‘सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव’, हे प्रभो ! आपका अनुशासन सभी दुःखों का अन्त करने वाला और सभी का कल्याण (सर्वोदय) करने वाला है ।’ जैन-आगमों में प्रस्तुत कुल-धर्म, ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म एवं गण-धर्म भी उसकी समाज-सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं । त्रिपिटक में भी अनेक संदर्भों में व्यक्ति के विविध सामाजिक-सम्बन्धों के आदर्शों का चित्रण किया गया है । पारिवारिक और सामाजिक-जीवन में हमारे पारस्परिक-सम्बन्धों को सुमधुर एवं समायोजनपूर्ण बनाने तथा सामाजिक-टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें दूर करने के लिए इन दर्शनों का महत्वपूर्ण योगदान है ।

वस्तुतः, इन दर्शनों में आचार-शुद्धि पर बल देकर व्यक्ति-सुधार के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया । इन्होंने व्यक्ति को समाज का केन्द्र माना और इसलिए उसके चरित्र के निर्माण पर बल दिया । वस्तुतः, इन दर्शनों के युग तक समाज-रचना का कार्य पूरा हो चुका था, अतः इन्होंने मुख्य रूप से सामाजिक-बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया और सामाजिक-सम्बन्धों की शुद्धि पर बल दिया ।

रागात्मकता और समाज

सम्भवतः, इन दर्शनों को जिन आधारों पर सामाजिक-जीवन से कटा हुआ माना जाता है, उनमें प्रमुख हैं - राग या आसक्ति का प्रहाण, संन्यास या निवृत्तिमार्ग की प्रधानता तथा मोक्ष का प्रत्यय । ये ही ऐसे तत्त्व हैं, जो व्यक्ति को सामाजिक-जीवन से अलग करते हैं, अतः भारतीय-संदर्भ में इन प्रत्ययों की सामाजिक-दृष्टि से समीक्षा आवश्यक है ।

सर्वप्रथम, भारतीय-दर्शन आसक्ति, राग या तृष्णा की समाप्ति पर बल देता है,

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आसक्ति या राग से ऊपर उठने की बात सामाजिक-जीवन से अलग करती है। सामाजिक-जीवन का आधार पारस्परिक-सम्बन्ध है और सामान्यतया यह माना जाता है कि राग से मुक्ति या आसक्ति की समाप्ति तभी सम्भव है, जबकि व्यक्ति अपने को सामाजिक-जीवन से या पारिवारिक-जीवन से अलग कर ले, किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है। न तो सम्बन्ध तोड़ देने मात्र से राग समाप्त हो जाता है, न राग के अभाव-मात्र से सम्बन्ध टूट जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि राग या आसक्ति की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक-संबंध ही नहीं बन पाते। सामाजिक-जीवन और सामाजिक-संबंधों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग-भावना ही काम करती है। सामान्यतया, राग द्वेष का सहगामी होता है और जब सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खड़े होते हैं, तो इन संबंधों से टकराहट एवं विषमता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं -

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि चैव ।

सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण ॥

आत्मानमपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।

यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ।¹⁴

संसार के सभी दुःख और भय एवं तज्जन्य उपद्रव ममत्व के कारण होते हैं। जब तक ममत्व-बुद्धि का परित्याग नहीं किया जाता, तब तक इन दुःखों की समाप्ति सम्भव नहीं है, जैसे अग्नि का परित्याग किए बिना तज्जन्य दाह से बचना असम्भव है। राग हमें सामाजिक-जीवन से जोड़ता नहीं है, अपितु तोड़ता ही है। राग के कारण मेरा या ममत्व-भाव उत्पन्न होता है। मेरे संबंधी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र-ये विचार विकसित होते हैं और उसके परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और संकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज मानव-जाति के सुमधुर सामाजिक-सम्बन्धों में ये ही सबसे अधिक बाधक तत्त्व हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठने देते हैं। वे ही आज की विषमता के मूल कारण हैं। भारतीय-दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिकता की एक यथार्थ दृष्टि ही प्रदान की है। प्रथम तो यह कि राग किसी पर होता है और जो किसी पर होता है, वह सब पर नहीं हो सकता है, अतः राग से ऊपर उठे बिना या आसक्ति को छोड़े बिना सामाजिकता की सच्ची भूमिका प्राप्त

नहीं की जा सकती। सामाजिक-जीवन की विषमताओं का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा ही है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है, उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है, उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक-जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किए जाते हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपनी रागात्मकता या ममत्ववृत्ति का पूर्णतया विसर्जन कर सकें, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक विजर्जन किए बिना अपेक्षित सामाजिक-जीवन का विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति का ममत्व, चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक-जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वहित की वृत्ति, चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा सामाजिक-जीवन फलित नहीं हो सकता। जिस प्रकार परिवार के प्रति ममत्व का सधन रूप हममें राष्ट्रीय-चेतना का विकास नहीं कर सकता, उसी प्रकार राष्ट्रीयता के प्रति भी ममत्व सच्ची मानवीय-एकता में सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार, हम देखते हैं कि व्यक्ति जब तक राग या आसक्ति से ऊपर नहीं उठता, तब तक सामाजिकता का सद्भाव सम्भव नहीं हो सकता। समाज त्याग एवं समर्पण के आधार पर खड़ा होता है, अतः वीतराग या अनासक्त-दृष्टि ही सामाजिक-जीवन के लिए वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकती है और सम्पूर्ण मानव-जाति में सुमधुर सामाजिक-सम्बन्धों का निर्माण कर सकती है। यदि हम सामाजिक-सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली विषमता एवं टकराहट के कारणों का विश्लेषण करें, तो उसके मूल में हमारी आसक्ति या रागात्मकता ही प्रमुख है। आसक्ति, ममत्व-भाव या राग के कारण ही मनुष्य में¹⁴ संग्रह, आवेश और कपटाचार के तत्त्व जन्म लेते हैं, अतः यह कहना उचित ही होगा कि इन दर्शनों ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिक-विषमताओं को समाप्त करने एवं सामाजिक-समत्व की स्थापना करने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। समाज त्याग एवं समर्पण पर खड़ा होता है, जीता है और विकसित होता है-यह भारतीय-चिन्तन का महत्वपूर्ण निष्कर्ष है। वस्तुतः, आसक्ति या राग-तत्त्व की उपस्थिति में सच्ची सार्वभौम सामाजिकता फलित नहीं होती है।

सामाजिकता का आधार राग या विवेक ?

सम्भवतः, यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि राग के अभाव में

सामाजिक-सम्बन्धों को जोड़ने वाला तत्त्व क्या होगा ? राग के अभाव से तो सारे सामाजिक-सम्बन्ध चरमरा कर टूट जाएंगे । रागात्मकता ही तो हमें एक-दूसरे से जोड़ती है, अतः राग सामाजिक-जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है, किन्तु मेरी अपनी विनम्र धारणा में जो तत्त्व व्यक्ति को व्यक्ति से या समाज से जोड़ता है, वह राग नहीं, विवेक है । तत्त्वार्थसूत्र में इस बात की चर्चा उपस्थित की गई है कि विभिन्न द्रव्य एक-दूसरे का सहयोग किस प्रकार करते हैं। उसमें जहाँ पुद्गल-द्रव्य को जीव-द्रव्य का उपकारक कहा गया है, वहीं एक जीव को दूसरे जीवों का उपकारक कहा गया है 'परस्परपग्रहो जीवानाम्'¹⁵ । चेतन-सत्ता यदि किसी का उपकार या हित कर सकती है, तो चेतन-सत्ता का ही कर सकती है । इस प्रकार, पारस्परिक हित-साधन, यह जीव का स्वभाव है और यह पारस्परिक हित-साधना की स्वाभाविक-वृत्ति ही मनुष्य की सामाजिकता का आधार है । इस स्वाभाविक-वृत्ति के विकास के दो आधार हैं - एक, रागात्मक और दूसरा, विवेक । रागात्मकता हमें कहीं से जोड़ती है, तो कहीं से तोड़ती भी है । इस प्रकार, रागात्मकता के आधार पर जब हम किसी को अपना मानते हैं, तो उसके विरोधी के प्रति 'पर' का भाव भी आ जाता है । राग द्वेष के साथ ही जीता है । वे ऐसे जुड़वां शिशु हैं, जो एक साथ उत्पन्न होते हैं, एक साथ जीते हैं और एक साथ मरते भी हैं । राग जोड़ता है, तो द्वेष तोड़ता है । राग के आधार पर जो भी समाज खड़ा होगा, तो उसमें अनिवार्य रूप से वर्णभेद और वर्णभेद रहेगा ही । सच्ची सामाजिक-चेतना का आधार राग नहीं, विवेक होगा । विवेक के आधार पर दायित्व-बोध एवं कर्तव्य-बोध की चेतना जाग्रत होगी । राग की भाषा अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा कर्तव्य की भाषा है । जहाँ केवल अधिकारों की बात होती है, वहाँ केवल विकृत सामाजिकता होती है । स्वस्थ सामाजिकता अधिकार का नहीं, कर्तव्य का बोध कराती है और ऐसी सामाजिकता का आधार 'विवेक' होता है, कर्तव्य-बोध होता है । जैन-धर्म ऐसी ही सामाजिक-चेतना को निर्मित करना चाहता है । जब विवेक हमारी सामाजिक-चेतना का आधार बनता है, तो मेरे और तेरे की, अपने और पराए की चेतना समाप्त हो जाती है, सभी आत्मवत् होते हैं । जैन-धर्म ने अहिंसा को जो अपने धर्म का आधार माना है, उसका आधार यही आत्मवत्-दृष्टि है ।

सामाजिक-जीवन के बाधक तत्त्व-अहंकार और कषाय

सामाजिक-सम्बन्ध में व्यक्ति का अहंकार भी बहुत कम महत्वपूर्ण कार्य करता

है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व हैं, इनके कारण भी सामाजिक-जीवन में विषमता उत्पन्न होती है। शासक और शासित, अथवा जातिभेद एवं रंगभेद आदि की श्रेष्ठता-निम्नता के मूल में यही कारण है। वर्तमान में बड़े राष्ट्रों में जो अपने प्रभावक-क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति है, उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहं की पुष्टि का प्रयत्न है। स्वतन्त्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थिति में होता है। जब व्यक्ति के मन में आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना उद्बुद्ध होती है, तो वह दूसरे के अधिकारों का हनन करता है, अपहरण करता है। जैन-दर्शन अहंकार (मान) प्रत्यय के विगलन के द्वारा सामाजिक-परतन्त्रता को समाप्त करता है। दूसरी ओर, जैन-दर्शन का अहिंसा-सिद्धान्त भी सभी प्राणियों के समान अधिकारों को स्वीकार करता है। अधिकारों का हनन भी एक प्रकार की हिंसा है, अतः अहिंसा का सिद्धान्त स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के साथ जुड़ा हुआ है। जैन एवं बौद्ध-दर्शन एक ओर अहिंसा-सिद्धान्त के आधार पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पूर्ण समर्थन करते हैं, वहीं दूसरी ओर समता के आधार पर वर्गभेद, जातिभेद एवं ऊँच-नीच की भावना को समाप्त करते हैं।

सामाजिक-जीवन में विषमता उत्पन्न होने के चार मूलभूत कारण हैं - 1. संग्रह (लोभ), 2. आवेश (क्रोध), 3. गर्व (बड़ा मानना) और 4. माया (छिपना), जिन्हें जैन-धर्म में चार कषाय कहा जाता है। ये चारों अलग-अलग रूप में सामाजिक - जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशान्ति के कारण बनते हैं। 1. संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, स्वार्थपूर्ण-व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते हैं। 2. आवेश की मनोवृत्ति के कारण संघर्ष, युद्ध, आक्रमण एवं हत्याएँ आदि होते हैं। 3. गर्व की मनोवृत्ति के कारण घृणा और क्रूर व्यवहार होता है। 4. माया की मनोवृत्ति के कारण अविश्वास एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार उत्पन्न होता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में जिन्हें चार कषाय कहा जाता है, उन्हीं के कारण सामाजिक-जीवन दूषित होता है। जैन-दर्शन इन्हीं कषायों के निरोध को अपनी नैतिक-साधना का आधार बनाता है, अतः यह कहना उचित ही होगा कि जैन-दर्शन अपने साधना-मार्ग के रूप में सामाजिक - विषमताओं को समाप्त कर, सामाजिक-समत्व की स्थापना का प्रयत्न करता है। यदि हम जैन-धर्म में स्वीकृत पाँच महाव्रतों को देखें, तो स्पष्ट रूप से उनका पूरा सन्दर्भ सामाजिक-जीवन है। हिंसा, मृषावचन, चोरी, मैथुन-सेवन (व्यभिचार) एवं संग्रहवृत्ति सामाजिक-जीवन की बुराईयाँ हैं। इनसे बचने

के लिए पाँच महाव्रतों के रूप में जिन नैतिक सद्गुणों की स्थापना की गई, वे पूर्णतः सामाजिक-जीवन से सम्बन्धित हैं, अतः भारतीय-दर्शन ने अनासक्ति एवं वीतरागता के प्रत्यय पर जो कुछ बल दिया है, वह सामाजिकता का विरोधी नहीं है।

संन्यास और समाज

सामान्यतया, भारतीय-दर्शन के संन्यास के प्रत्यय को समाज-निरपेक्ष माना जाता है, किन्तु क्या संन्यास की धारणा समाज-निरपेक्ष है ? निश्चय ही संन्यासी पारिवारिक-जीवन का त्याग करता है, किन्तु इससे क्या वह असामाजिक हो जाता है ? संन्यास के संकल्प में वह कहता है कि 'वितेषणा पुत्रेषणा लोकेषणा मया परित्यक्ता', अर्थात् मैं अर्थ-कामना, सन्तान-कामना और यश-कामना का परित्याग करता हूँ, किन्तु क्या धन-सम्पदा, सन्तान तथा यश-कीर्ति की कामना का परित्याग समाज का परित्याग है ? वस्तुतः, समस्त एषणाओं का त्याग स्वार्थ का त्याग है, वासनामय जीवन का त्याग है, संन्यास का यह संकल्प उसे समाज-विमुख नहीं बनाता है, अपितु समाज-कल्याण की उच्चतर भूमिका पर अधिष्ठित करता है, क्योंकि सच्चा लोकहित निःस्वार्थता एवं विराग की भूमि पर स्थित होकर ही किया जा सकता है।

भारतीय-चिन्तन संन्यास को समाज-निरपेक्ष नहीं मानता। भगवान् बुद्ध का यह आदेश 'चरत्थ भिक्खवे चारिकं बहुजन्-हिताय बहुजन-सुखाय लोकानुक्म्पाय अत्थाय हिताय देव मनुस्सानं' (विनयपिटक-सहवाग) इस बात का प्रमाण है कि संन्यास लोक-मंगल के लिए होता है। सच्चा संन्यासी वह व्यक्ति है, जो समाज से अत्यंतम लेकर उसे अधिकतम देता है। वस्तुतः, वह कुटुम्ब, परिवार आदि का त्याग इसलिए करता है कि समष्टि का होकर रहे, क्योंकि जो किसी का है, वह सबका नहीं हो सकता, जो सबका है, वह किसी का नहीं है। संन्यासी निःस्वार्थ और निष्काम रूप से लोक-मंगल का साधक होता है। संन्यास शब्द सम्पूर्वक न्यास है, न्यास शब्द का एक अर्थ देखरेख करना भी है। संन्यासी वह व्यक्ति है, जो सम्यक् रूप से एक न्यासी (ट्रस्टी) की भूमिका अदा करता है और न्यासी वह है, जो ममत्व-भाव और स्वामित्व का त्याग करके किसी ट्रस्ट (सम्पदा) का रक्षण एवं विकास करता है।¹⁶ संन्यासी सच्चे अर्थ में एक ट्रस्टी है। ट्रस्टी यदि ट्रस्ट का उपयोग अपने हित में करता है, अपने को उसका स्वामी समझता है, तो वह सम्यक् ट्रस्टी नहीं हो सकता है। इसी प्रकार, यदि वह ट्रस्ट के रक्षण एवं विकास का प्रयत्न न करे, तो भी सच्चे अर्थ में ट्रस्टी नहीं है। इसी प्रकार,

यदि संन्यासी नहीं है और यदि लोक की उपेक्षा करता है, लोकमंगल के लिए प्रयास नहीं करता है, तो वह भी संन्यासी नहीं है। उसके जीवन का मिशन तो 'सर्वभूत-हिते रतः' का है।

संन्यास में राग से ऊपर उठना आवश्यक है, किंतु इसका तात्पर्य समाज की उपेक्षा नहीं है। संन्यास की भूमिका में स्वत्व एवं ममत्व के लिए निश्चय ही कोई स्थान नहीं है, फिर भी वह पलायन नहीं, अपितु समर्पण है। ममत्व का परित्याग कर्तव्य की उपेक्षा नहीं है, अपितु कर्तव्य का सही बोध है। संन्यासी उस भूमिका पर खड़ा होता है, जहाँ व्यक्ति अपने में समष्टि को और समष्टि में अपने को देखता है। उसकी चेतना अपने और पराए के भेद से ऊपर उठ जाती है। यह अपने और पराए के विचार से ऊपर हो जाना समाज-विमुखता नहीं है, अपितु यह तो उसके हृदय की व्यापकता है, महानता है, इसलिए भारतीय-चिन्तकों ने कहा है -

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतमासु ।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

संन्यास की भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की। उसकी वास्तविक स्थिति 'धाय' (नर्स) के समान ममत्वरहित कर्तव्य-भाव की होती है। जैन-धर्म में कहा भी गया है -

सम दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।

अन्तर सूं न्यारा रहे जूं धाय खिलावे बाल ॥

वस्तुतः, निर्ममत्व एवं निःस्वार्थ भाव से तथा वैयक्तिकता और स्वार्थ से ऊपर उठकर कर्तव्य का पालन ही संन्यास की सच्ची भूमिका है। संन्यासी वह व्यक्ति है, जो लोक-मंगल के लिए अपने व्यक्तित्व एवं अपने शरीर को समर्पित कर देता है। वह जो कुछ भी त्याग करता है, वह समाज के लिए एक आदर्श बनता है। समाज में नैतिक-चेतना को जाग्रत करना तथा सामाजिक-जीवन में आने वाली दुःप्रवृत्तियों से व्यक्ति को बचाकर लोकमंगल के लिए उसे दिशा-निर्देश देना संन्यासी का सर्वोपरि कर्तव्य माना गया है, अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय-दर्शन में संन्यास की जो भूमिका प्रस्तुत की गई है, वह सामाजिकता की विरोधी नहीं है। संन्यासी क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति होता है, जो आदर्श समाज-रचना के लिए प्रयत्नशील रहता है। अब हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक-उपादेयता पर चर्चा करना चाहेंगे।

पुरुषार्थचतुष्टय एवं समाज

भारतीय-दर्शन मानव-जीवन के लिए अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष-इन पुरुषार्थों को स्वीकार करता है। यदि हम सामाजिक-जीवन के सन्दर्भ में इन पर विचार करते हैं, तो इनमें से अर्थ, काम और धर्म का सामाजिक-जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक-जीवन में ही इन तीनों पुरुषार्थों की उपलब्धि सम्भव है। अर्थोपार्जन और काम का सेवन तो सामाजिक-जीवन से जुड़ा हुआ ही होता है, किन्तु भारतीय-चिन्तन में धर्म भी सामाजिक-व्यवस्था और शान्ति के लिए ही है, क्योंकि धर्म को 'धर्मो धारयते प्रजाः' के रूप में परिभाषित कर उसका सम्बन्ध भी हमारे सामाजिक-जीवन से जोड़ा गया है। वह लोक-मर्यादा और लोक-व्यवस्था का ही सूचक है। अतः, पुरुषार्थ-चतुष्टय में केवल मोक्ष ही एक ऐसा पुरुषार्थ है, जिसकी सामाजिक-सार्थकता विचारणीय है। प्रश्न यह है कि क्या मोक्ष की धारणा सामाजिक-दृष्टि से उपादेय हो सकती है ? जहाँ तक मोक्ष की मरणोत्तर अवस्था या तत्त्व-मीमांसीय-धारणा का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में न तो भारतीय-दर्शनों में ही एक-रूपता है और न उसकी कोई सामाजिक-सार्थकता ही खोजी जा सकती है, किन्तु इसी आधार पर मोक्ष को अनुपादेय मान लेना उचित नहीं है। लगभग सभी भारतीय-दार्शनिक इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि मोक्ष का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की मनोवृत्ति से है। बन्धन और मुक्ति—दोनों ही मनुष्य के मनोवेगों से सम्बन्धित हैं। राग, द्वेष, आसक्ति, तृष्णा, ममत्व, अहम् आदि की मनोवृत्तियाँ ही बन्धन हैं और इनसे मुक्त होना ही मुक्ति है। मुक्ति की व्याख्या करते हुए जैन-दार्शनिकों ने कहा था कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था ही मुक्ति है। आचार्य शंकर कहते हैं—

‘वासनाप्रक्षयो मोक्षः’¹⁷

वस्तुतः, मोह और क्षोभ हमारे जीवन से जुड़े हुए हैं और इसलिए मुक्ति का सम्बन्ध भी हमारे जीवन से ही है। मेरी दृष्टि में मोक्ष मानसिक-तनावों से मुक्ति है। यदि हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक-सार्थकता के सम्बन्ध से विचार करना चाहते हैं, तो हमें इन्हीं मनोवृत्तियों एवं मानसिक-विक्षोभों के सन्दर्भ में उस पर विचार करना होगा। सम्भवतः, इस सम्बन्ध में कोई भी दो मत नहीं रखेगा कि राग, द्वेष, तृष्णा, आसक्ति, ममत्व, ईर्ष्या, वैमस्य आदि की मनोवृत्तियाँ हमारे सामाजिक-जीवन के लिए अधिक बाधक हैं। यदि इन मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का हार्द है, तो मुक्ति का सम्बन्ध

हमारे सामाजिक-जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। मोक्ष मात्र एक मरणोत्तर अवस्था नहीं है, अपितु वह हमारे जीवन से सम्बन्धित है। मोक्ष को पुरुषार्थ माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि वह इसी जीवन में प्राप्तव्य है। जो लोग मोक्ष को एक मरणोत्तर-अवस्था मानते हैं, वे मोक्ष के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। आचार्य शंकर लिखते हैं -

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः ।

अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः ॥¹⁸

मरणोत्तर-मोक्ष या विदेह-मुक्ति साध्य नहीं है। उसके लिए कोई साधना अपेक्षित नहीं है। जिस प्रकार मृत्यु जन्म लेने का अनिवार्य परिणाम है, उसी प्रकार विदेह-मुक्ति तो जीवन-मुक्ति का अनिवार्य परिणाम है, अतः जो प्राप्तव्य है, जो पुरुषार्थ है और जो साध्य है वह तो जीवन-मुक्ति ही है। जीवन-मुक्ति के प्रत्यय की सामाजिक-सार्थकता से हम इन्कार भी नहीं कर सकते, क्योंकि जीवन-मुक्ति एक ऐसा व्यक्तित्व है, जो सदैव लोक-कल्याण के लिए प्रस्तुत रहता है। जैन-दर्शन में तीर्थंकर, बौद्ध-दर्शन में अर्हत् एवं बोधिसत्व और वैदिक-दर्शन में स्थित-प्रज्ञ की जो धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं और उनके व्यक्तित्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है, उससे हम निश्चय ही उस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक-उपादेयता भी है। वह लोक-मंगल और मानव-कल्याण का एक महान् आदर्श माना जा सकता है, क्योंकि जन-जन का दुःखों से मुक्त होना ही मुक्ति है, मात्र इतना ही नहीं, भारतीय-चिन्तन में वैयक्तिक-मुक्ति की अपेक्षा भी लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने को अधिक महत्व दिया गया है। बौद्ध-दर्शन में बोधिसत्व का और गीता में स्थितप्रज्ञ का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि केवल वैयक्तिक-मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। बोधिसत्व तो लोकमंगल के लिए अपने बन्धन और दुःख की कोई परवाह नहीं करता है। वह कहता है -

बहुनामेकदुःखेन यदि दुःखं विगच्छति । उत्पाद्यमेव तद् दुःखं सदयेन परात्मनो ।

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रमोद्यसागराः । तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥¹⁹

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करुणापूर्वक उनके दुःख दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है, वही क्या कम है, फिर नीरस मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है? वैयक्तिक-मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति के

लिए अपने संकल्प को स्पष्ट करते हुए भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद ने स्पष्ट रूप से कहा था कि -

प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः ।

मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठा : ॥

नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेकः ।

‘हे प्रभु! अपनी मुक्ति की कामना करने वाले देव और मुनि तो अब तक काफी हो चुके हैं, जो जंगल में जाकर मौन साधन किया करते थे, किन्तु उनमें परार्थ-निष्ठा नहीं थी। मैं तो अकेला इन सब दुःखीजनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता।’ यह भारतीय-दर्शन और साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उद्गार है। इसी प्रकार, बोधिसत्व भी सदैव ही दीन और दुःखी जनों को दुःख से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील बने रहने की अभिलाषा करता है और सबको मुक्त कराने के पश्चात् ही मुक्त होना चाहता है।

भवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः ।²⁰

वस्तुतः, मोक्ष अकेला पाने की वस्तु ही नहीं है। इस सम्बन्ध में विनोबा भावे के उद्गार विचारणीय हैं -

जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियाने की वस्तु है, वह उसके हाथ से निकल जाता है, ‘मैं’ के आते ही मोक्ष भाग जाता है, मेरा मोक्ष-यह वाक्य ही गलत है। ‘मेरा’ मिटने पर ही मोक्ष मिलता है।²¹

इसी प्रकार, वास्तविक मुक्ति अहंकार से मुक्ति ही है। ‘मैं’ अथवा अहं-भाव से मुक्त होने के लिए हमें अपने-आपको समष्टि में, समाज में लीन कर देना होता है। मुक्ति वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जो कि अपने व्यक्तित्व को समष्टि में, समाज में विलीन कर दे। आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं -

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मनः ।

त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयताम् ॥²²

इस प्रकार, यह धारणा कि मोक्ष का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, गलत है। मोक्ष वस्तुतः दुखों से मुक्ति है और मनुष्य-जीवन के अधिकांश दुःख, मानवीय-संवर्गों के कारण ही हैं, अतः मुक्ति ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि के संवर्गों से मुक्ति पाने में है और इस रूप में वह वैयक्तिक और सामाजिक-दोनों ही दृष्टि से उपादेय भी है। दुःख, अहंकार एवं मानसिक-क्लेशों से मुक्ति-रूप में मोक्ष-उपादेयता और सार्थकता को

अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है।

अन्त में, हम कह सकते हैं कि भारतीय जीवन-दर्शन की दृष्टि पूर्णतया सामाजिक और लोकमंगल के लिए प्रयत्नशील बने रहने की है। उसकी एकमात्र मंगल-कामना है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु । सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु । मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ।

सामाजिक चेतना के सन्दर्भ—

1. ऋग्वेद 10/191/2
2. वही, 10/192/3-4
3. तैत्तिरीय आरण्यक 8/2
4. ईश 6
5. ईश 1
6. गीता 6/32
7. गीता 12/4
8. वही, 18/2
9. वही, 6/1
10. वही, 3/25
11. श्रीमद्भागवत 7/14/8
12. प्रश्नव्याकरण 1/1/21-22
13. सामायिक-पाठ (अमितगति)
14. बोधिचर्यावतार 8/134-135
15. तत्त्वार्थ 5/21
16. लेखक इस व्याख्या के लिए महेन्द्र मुनिजी का आभारी है।
17. विवेकचूडामणि 318
18. वही, 559
19. बोधिचर्यावतार 8/105, 108
20. वही, 3/21
21. आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ. 71
22. बोधिचर्यावतार 3/11

स्वहित बनाम लोकहित

नैतिक-चिन्तन के प्रारम्भ-काल से ही स्वहित और लोकहित का प्रश्न महत्वपूर्ण रहा है। भारतीय-परम्परा में एक ओर चाणक्य का कथन है कि स्त्री, धन आदि सबसे बढ़कर अपनी रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए।¹ विदुर ने भी कहा है कि जो स्वार्थ को छोड़कर परार्थ करता है, जो मित्र (दूसरे लोगों) के लिए श्रम करता है वह मूर्ख ही है।² दूसरी ओर, यह भी कहा जाता है कि स्वहित के लिए तो सभी जीते हैं, जो लोकहित के लिए जीता है, उसी का जीना सच्चा है।

³ जिसके जीने में लोकहित न हो, उससे तो मरण ही अच्छा है।⁴

पाश्चात्य-विचारक हरबर्ट स्पेन्सर ने तो इस प्रश्न को नैतिक-सिद्धान्तों के चिन्तन की वास्तविक समस्या कहा है। यहाँ तक कि पाश्चात्य आचार-शास्त्रीय विचारधारा में तो स्वार्थ और परार्थ की धारणा को लेकर दो पक्ष बन गए। स्वहितवादी-विचारक, जिनमें हाब्स, नीत्शे आदि प्रमुख हैं, यह मानते हैं कि मनुष्य प्रकृत्या केवल स्वहित या अपने लाभ से प्रेरित होकर कार्य करता है, अतः नैतिकता का वही सिद्धान्त समुचित है, जो मानव-प्रकृति की इस धारणा के अनुकूल हो। इनके अनुसार, अपने हित के लिए कार्य करने में ही मनुष्य का श्रेय है। दूसरी ओर, बेन्थम, मिल प्रभृति विचारक मानव की स्वसुखवादी मनोवैज्ञानिक-प्रकृति को स्वीकार करते हुए भी बौद्धिक-आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि परहित की भावना ही नैतिक-दृष्टि से न्यायपूर्ण है, अथवा नैतिक-जीवन का साध्य है।⁵ मिल परार्थ को स्वार्थ के बौद्धिक-आधार पर सिद्ध करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, वरन् आंतरिक-अंकुश (Internal Sanction) के द्वारा उसे स्वाभाविक भी सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार, यह आन्तरिक-अंकुश सजातीयता की भावना है। यद्यपि यह जन्मजात नहीं है, तथापि अस्वाभाविक या अनैसर्गिक भी नहीं है।⁶ दूसरे अन्य विचारक भी, जिनमें बटलर, शापेनहावर एवं टालस्टाय आदि प्रमुख हैं, मानव की मनोवैज्ञानिक-प्रकृति में सहानुभूति, प्रेम आदि की उपस्थिति दिखाकर परार्थवादी या लोकमंगलकारी आचार-दर्शन का समर्थन करते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर से लेकर ब्रेडले, ग्रीन, अरबल आदि अनेक समकालीन विचारकों ने भी मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों को उभारते हुए सामान्य शुभ (कामन गुड) की अवधारणा के द्वारा स्वार्थवाद और परार्थवाद के बीच समन्वय साधने का प्रयास किया है। मानव-प्रकृति में विविधताएँ हैं, उसमें स्वार्थ और परार्थ के तत्त्व आवश्यक रूप से उपस्थित हैं। आचार-दर्शन का कार्य यह नहीं है कि वह स्वार्थवाद या परार्थवाद में से किसी एक सिद्धान्त का समर्थन या विरोध करे। उसका कार्य तो यह है कि 'अपने' और 'पराए' के मध्य सन्तुलन बैठाने का प्रयास करे, अथवा आचार के लक्ष्य को इस रूप में प्रस्तुत करे कि जिसमें 'स्व' और 'पर' के बीच संघर्षों की सम्भावना का निराकरण किया जा सके। भारतीय आचार-दर्शन कहाँ तक और

किस रूप में स्व और पर के संघर्ष की सम्भावना को समाप्त करते हैं, इस बात की विवेचना के पूर्व हमें स्वार्थवाद और परार्थवाद की परिभाषा पर भी विचार कर लेना होगा।

संक्षेप में, स्वार्थवाद आत्मरक्षण है और परार्थवाद आत्मत्याग है। मैकेन्जी लिखते हैं कि जब हम केवल अपने व्यक्तिगत साध्य की सिद्धि चाहते हैं, तब इसे स्वार्थवाद कहा जाता है, परार्थवाद है-दूसरे के साध्य की सिद्धि का प्रयास करना।⁷

जैनाचार-दर्शन में स्वार्थ और परार्थ - यदि स्वार्थ और परार्थ की उपर्युक्त परिभाषा स्वीकार की जाए, तो जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शनों में किसी को पूर्णतया न स्वार्थवादी कहा जा सकता है और न परार्थवादी। जैन आचार-दर्शन आत्मा के स्वगुणों के रक्षण की बात कहता है। इस अर्थ में वह स्वार्थवादी है। वह सदैव ही आत्म-रक्षण या स्व-दया का समर्थन करता है, लेकिन साथ ही वह कषायात्मा या वासनात्मक-आत्मा के विसर्जन, बलिदान या त्याग को भी आवश्यक मानता है और इस अर्थ में वह परार्थवादी भी है। यदि हम मैकेन्जी की परिभाषा को स्वीकार करें और यह मानें कि व्यक्तिगत साध्य की सिद्धि स्वार्थवाद और दूसरे के साध्य की सिद्धि का प्रयास परार्थवाद है, तो भी जैन-दर्शन स्वार्थवादी और परार्थवादी-दोनों ही सिद्ध होता है। वह व्यक्तिगत आत्मा के मोक्ष या सिद्धि का समर्थन करने के कारण स्वार्थवादी तो होगा ही, लेकिन दूसरे की मुक्ति के हेतु प्रयासशील होने के कारण परार्थवादी भी कहा जाएगा। आत्म-कल्याण, वैयक्तिक-बन्धन एवं दुःख से निवृत्ति की दृष्टि से तो जैन-साधना का प्राण आत्महित ही है, लेकिन लोक-करुणा एवं लोकहित की जिस उच्च भावना से अर्हत्-प्रवचन प्रस्फुटित होता है, उसे भी नहीं भुलाया जा सकता।

जैन-साधना में लोक-हित-जैनाचार्य समन्तभद्र वीर-जिन-स्तुति में कहते हैं, 'हे भगवान्! आपकी यह संघ (समाज) व्यवस्था-सभी प्राणियों के दुःखों का अन्त करने वाली और सबका कल्याण (सर्वोदय) करने वाली है।'⁹ इससे ऊँची लोकमंगल की कामना क्या हो सकती है? प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि भगवान् का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है।¹⁰ जैन-साधना लोक-मंगल की धारणा को लेकर ही आगे बढ़ती है। उसी सूत्र में आगे कहा है कि जैन-साधना के पाँचों महाव्रत सर्व प्रकार से लोकहित के लिए ही हैं।¹¹ अहिंसा की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि साधना के प्रथम स्थान पर स्थित यह अहिंसा सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।¹² यह भगवती-अहिंसा भयभीतों के लिए शरण के समान है, पक्षियों के आकाश-गमन के समान निर्बाध रूप से हितकारिणी है। प्यासों को पानी के समान, भूखों को भोजन के समान, समुद्र में जहाज के समान, रोगियों के लिए औषधि के समान और अटवी में सहायक के समान है।¹³ तीर्थङ्कर - नमस्कारसूत्र (नमोत्थुणं) में तीर्थङ्कर के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप, अभय के दाता आदि जिन विशेषणों

का उपयोग हुआ है; वे भी जैनदृष्टि की लोकमंगलकारी भावना को स्पष्ट करते हैं। तीर्थङ्करों का प्रवचन एवं धर्म-प्रवर्तन प्राणियों के अनुग्रह के लिए होता है, न कि पूजा या सत्कार के लिए।¹⁴ यदि यह माना जाए कि जैन-साधना केवल आत्महित, आत्मकल्याण की बात कहती है, तो फिर तीर्थंकर के द्वारा तीर्थप्रवर्तन या संघ-संचालन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, क्योंकि केवल्य की उपलब्धि के बाद उन्हें अपने कल्याण के लिए कुछ करना शेष ही नहीं रहता, अतः मानना पड़ेगा कि जैन-साधना का आदर्श आत्मकल्याण ही नहीं, वरन् लोक-कल्याण भी है।

जैन-दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को सदैव ही अधिक महत्व दिया है। जैन-दर्शन के अनुसार, साधना की सर्वोच्च ऊँचाई पर स्थित सभी जीवन्मुक्त आध्यात्मिक पूर्णता की दृष्टि से समान ही होते हैं, फिर भी आत्महितकारिणी और लोकहितकारिणी-दृष्टि के आधार पर उनमें उच्चावच्च-अवस्था को स्वीकार किया गया है। एक सामान्य-केवली (जीवन्मुक्त) और तीर्थंकर में आध्यात्मिक-पूर्णताएँ समान ही होती हैं, फिर भी अपनी लोकहितकारी-दृष्टि के कारण ही तीर्थंकर को सामान्य-केवली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार, जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेने वालों में भी उनके लोकोपकारिता के आधार पर तीन वर्ग होते हैं -

1. तीर्थंकर, 2. गणधर, 3. सामान्य-केवली।

1. तीर्थंकर - तीर्थंकर वह है, जो सर्वहित के संकल्प को लेकर साधना-मार्ग में आता है और आध्यात्मिक-पूर्णता प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी लोकहित में लगा रहता है। सर्वहित, सर्वोदय और लोक-कल्याण ही उनके जीवन का ध्येय बन जाता है।¹⁵

2. गणधर-सहवर्गीय-हित में संकल्प को लेकर साधना-क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाला और अपनी आध्यात्मिक-पूर्णता को प्राप्त कर लेने पर भी सहवर्गियों के हित एवं कल्याण के लिए प्रयत्नशील साधक गणधर है। समूह-हित या गण-कल्याण गणधर के जीवन का ध्येय होता है।

16

3. सामान्य-केवली - आत्म-कल्याण को ही जिसने अपनी साधना का ध्येय बनाया है और जो इसी आधार पर साधना-मार्ग में प्रवृत्त होता हुआ आध्यात्मिक-पूर्णता की उपलब्धि करता है, वह सामान्य-केवली कहलाता है।¹⁷ सामान्य-केवली को पारिभाषिक-शब्दावली में मुण्ड-केवली भी कहते हैं।

जैनधर्म में विश्वकल्याण, वर्गकल्याण और वैयक्तिक-कल्याण की भावनाओं को लेकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने के कारण ही साधकों की ये विभिन्न कक्षाएँ निर्धारित की गई हैं, जिनसे विश्व-कल्याण की प्रवृत्ति के कारण ही तीर्थङ्कर को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। जिस प्रकार बौद्ध-विचारणा में बोधिसत्त्व और अर्हत् के आदर्शों में भिन्नता है, उसी प्रकार जैन-विचारणा में

तीर्थङ्कर और सामान्य-केवली के आदर्शों में तरतमता है।

दूसरे, जैन-साधना में संघ (समाज) को सर्वोपरि माना गया है। संहित समस्त वैयक्तिक-साधनाओं से ऊपर है, संघ के कल्याण के लिए वैयक्तिक-साधना का परित्याग करना भी आवश्यक माना गया है। आचार्य कालक की कथा इसका उदाहरण है।¹⁸

स्थानांगसूत्र में जिन दस धर्मों (कर्तव्यों) ¹⁹ का निर्देश किया गया है, उनमें संघ-धर्म, राष्ट्रधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म और कुलधर्म का उल्लेख इस बात का सबल प्रमाण है कि जैनदृष्टि न केवल आत्महित या वैयक्तिक-विकास तक सीमित है, वरन् उसमें लोकहित या लोककल्याण का अजस्र प्रवाह भी प्रवाहित है।

यद्यपि जैन-दर्शन लोकहित, लोकमंगल की बात कहता है, परन्तु उसकी एक शर्त है कि परार्थ के लिए स्वार्थ का विसर्जन किया जा सकता है, लेकिन आत्मार्थ का नहीं। उसके अनुसार, वैयक्तिक भौतिक-उपलब्धियों को लोककल्याण के लिए समर्पित किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए, क्योंकि वे हमें जगत् से ही मिलती हैं, वे संसार की ही हैं, हमारी नहीं। सांसारिक-उपलब्धियाँ संसार के लिए हैं, अतः उनका लोकहित के लिए विसर्जन किया जाना चाहिए, लेकिन आध्यात्मिक-विकास या वैयक्तिक-नैतिकता को लोकहित के नाम पर कुंठित किया जाना उसे स्वीकार नहीं। ऐसा लोकहित, जो व्यक्ति के चरित्र-पतन अथवा आध्यात्मिक-कुण्ठन से फलित होता हो, उसे स्वीकार नहीं है। लोकहित और आत्महित के सन्दर्भ में उसका स्वर्णिम सूत्र है—आत्महित करो और यथाशक्य लोकहित भी करो, लेकिन जहाँ आत्महित और लोकहित में द्वन्द्व हो और आत्महित के कुण्ठन पर ही लोकहित फलित होता हो, वहाँ आत्मकल्याण ही श्रेष्ठ है।²⁰

आत्महित स्वार्थ नहीं है—आत्महित स्वार्थवाद नहीं है। आत्मकाम वस्तुतः निष्काम होता है, क्योंकि उसकी कोई कामना नहीं होती, इसलिए उसका कोई स्वार्थ भी नहीं होता। स्वार्थ तो वह होता है, जो यह चाहता है कि सभी लोग उसके हित के लिए कार्य करें। आत्मार्थी स्वार्थी नहीं है, उसकी दृष्टि तो यह होती है कि सभी अपने हित के लिए कार्य करें। स्वार्थ और आत्मकल्याण में मौलिक अन्तर यह है कि स्वार्थ की साधना में राग और द्वेष की वृत्तियाँ काम करती हैं, जबकि आत्महित या आत्मकल्याण का प्रारम्भ ही राग-द्वेष की वृत्तियों की क्षीणता से होता है। स्वार्थ और परार्थ में संघर्ष की सम्भावना भी तभी है, जब उनमें राग-द्वेष की वृत्ति निहित हो। राग-भाव या स्वहित की वृत्ति से किया जाने वाला परार्थ भी सच्चा लोकहित नहीं है, वह तो स्वार्थ ही है। शासन द्वारा नियुक्त एवं प्रेरित समाजकल्याण अधिकारी वस्तुतः लोकहित का कर्ता नहीं है, वह तो वेतन के लिए काम करता है। इसी तरह, राग से प्रेरित होकर लोकहित करने वाला भी सच्चे अर्थों में लोकहित का कर्ता नहीं है। उसके लोकहित के प्रयत्न राग की अभिव्यक्ति,

प्रतिष्ठा की रक्षा, यश-अर्जन की भावना या भावी लाभ की प्राप्ति के हेतु ही होते हैं। ऐसा परार्थ स्वार्थ ही होता है। सच्चा आत्महित और सच्चा लोकहित राग-द्वेष से रहित अनासक्ति की भूमि पर प्रस्फुटित होता है, लेकिन उस अवस्था में न तो 'स्व' रहता है न 'पर'; क्योंकि जहाँ राग है वहीं 'स्व' है और जहाँ 'स्व' है वहीं 'पर' है। राग के अभाव में स्व और पर का विभेद ही समाप्त हो जाता है। ऐसी राग-विहीन भूमिका से किया जाने वाला आत्महित भी लोकहित होता है और लोकहित आत्महित होता है। दोनों में कोई संघर्ष नहीं, कोई द्वैत नहीं है। उस दशा में तो सर्वत्र आत्मदृष्टि होती है, जिसमें न कोई अपना, न कोई पराया। स्वार्थ-परार्थ की समस्या यहाँ रहती ही नहीं।

जैन-विचारणा के अनुसार, स्वार्थ और परार्थ के मध्य सभी अवस्थाओं में संघर्ष रहे, यह आवश्यक नहीं। व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिक-जीवन से आध्यात्मिक-जीवन की ओर ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे स्वार्थ-परार्थ का संघर्ष भी समाप्त होता जाता है। जैन-विचारकों ने परार्थ या लोकहित के तीन स्तर माने हैं --

1. द्रव्य-लोकहित, 2. भाव-लोकहित और 3. पारमार्थिक-लोकहित।

1. **द्रव्य-लोकहित**²¹ - यह लोकहित का भौतिक-स्तर है। भौतिक-उपादानों, जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि तथा शारीरिक-सेवा के द्वारा लोकहित करना लोकहित का भौतिक-स्तर है। यहाँ पर लोकहित के साधन भौतिक होते हैं। द्रव्य-लोकहित एकान्त रूप से आचरणीय नहीं कहा जा सकता। यह अपवादात्मक एवं सापेक्ष-नैतिकता का क्षेत्र है। भौतिक-स्तर पर स्वहित की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। यहाँ तो स्वहित और परहित में उचित समन्वय-साधना ही अपेक्षित है। पाश्चात्य नैतिक-विचारणा के परिष्कृत स्वार्थवाद, बौद्धिक-परार्थवाद और सामान्य शुभतावाद का विचारक्षेत्र लोकहित का भौतिक-स्वरूप ही है।

2. **भाव-लोकहित**²² - लोकहित का यह स्तर भौतिक-स्तर से ऊपर का है। यहाँ लोकहित के साधन ज्ञानात्मक या चैतन्यिक होते हैं। इस स्तर पर परार्थ और स्वार्थ-संघर्ष की सम्भावना अल्पतम होती है।

3. **पारमार्थिक-लोकहित**²³ - यह लोकहित का सर्वोच्च स्तर है। यहाँ आत्महित और पर-हित में कोई संघर्ष या द्वैत नहीं रहता। यहां पर लोकहित का रूप होता है-यथार्थ जीवनदृष्टि के सम्बन्ध में मार्गदर्शन करना।

बौद्धदर्शन की लोकहितकारिणी दृष्टि

बौद्ध-धर्म में लोक-मंगल की भावना का स्रोत प्रारम्भ से ही प्रवाहित रहा है। भगवान् बुद्ध की धर्मदेशना भी जैन-तीर्थंकरों की धर्म-देशना के समान लोकमंगल के लिए ही प्रस्फुटित हुई थी। इतिवृत्तक में बुद्ध कहते हैं, हे भिक्षुओं! दो संकल्प तथागत भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध को

हुआ करते हैं - 1. एकान्त-ध्यान का संकल्प और 2. प्राणियों के हित का संकल्प²⁴। बोधि प्राप्त कर लेने पर बुद्ध ने अद्वितीय समाधिसुख में विहार करने के निश्चय का परित्याग कर लोकहितार्थ एवं लोकमंगल के लिए परिचारण करना ही स्वीकार किया। यह उनकी लोकमंगलकारी-दृष्टि का सबसे बड़ा प्रमाण है।²⁵ यही नहीं, बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को लोकहित का ही सन्देश दिया और कहा कि हे भिक्षुओं ! बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोक की अनुकम्पा के लिए, देव और मनुष्यों के सुख और हित के लिए परिचारण करते रहो।²⁶ जातक-निदान कथा में भी बोधिसत्त्व को यह कहते हुए दिखाया गया है कि मुझ शक्तिशाली पुरुष के लिए अकेले तर जाने से क्या लाभ ? मैं तो सर्वज्ञता प्राप्त कर देवताओं-सहित इस सारे लोक को तारूँगा।²⁷

बौद्ध-धर्म की महायान-शाखा ने तो लोकमंगल के आदर्श को ही अपनी नैतिकता का प्राण माना। वहाँ तो साधक लोकमंगल के आदर्श की साधना में परममूल्य निर्वाण की भी उपेक्षा कर देता है, उसे अपने वैयक्तिक-निर्वाण में कोई रुचि नहीं रहती है। महायानी-साधक कहता है - दूसरे प्राणियों को दुःख से छुड़ाने में जो आनन्द मिलता है, वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें क्या लेना-देना।²⁸

लंकावतारसूत्र में बोधिसत्त्व से यहाँ तक कहलवा दिया गया कि मैं तब तक परिनिर्वाण में प्रवेश नहीं करूँगा, जब तक कि विश्व के सभी प्राणी विमुक्ति प्राप्त न कर लें।²⁹ साधक पर-दुःख-विमुक्ति से मिलने वाले आनन्द को स्व के निर्वाण के आनन्द से भी महत्वपूर्ण मानता है और उसके लिए अपने निर्वाण-सुख को ठुकरा देता है। पर-दुःख-कातरता और सेवा के आदर्श का इससे बड़ा संकल्प और क्या हो सकता है ? बौद्ध-दर्शन की लोकहितकारी-दृष्टि का रस-परिपाक तो हमें आचार्य शान्तिदेव के ग्रन्थ शिक्षा समुच्चय और बोधिचर्यावतार में मिलता है। लोकमंगल के आदर्श को प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं, 'अपने सुख को अलग रख और दूसरों के दुःख (दूर करने) में लग'।³⁰ दूसरों का सेवक बनकर इस शरीर में जो कुछ वस्तु देख, उससे दूसरों का हित कर।³¹ दूसरे के दुःख से अपने सुख को बिना बदले बुद्धत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। फिर संसार में सुख है ही कहाँ ?³² यदि एक के दुःख उठाने से बहुत का दुःख चला जाए, तो अपने-पराए पर कृपा करके वह दुःख उठाना ही चाहिए।³³ बोधिसत्त्व की लोकसेवा की भावना का चित्र प्रस्तुत करते हुए आचार्य लिखते हैं, मैं अनार्थों का नाथ बनूँगा, यात्रियों का सार्थवाह बनूँगा, पार जाने की इच्छावालों के लिए मैं नाव बनूँगा, मैं उनके लिए सेतु बनूँगा, धरनियाँ बनूँगा। दीपक चाहने वालों के लिए दीपक बनूँगा, जिन्हें शय्या की आवश्यकता है, उनके लिए मैं शय्या बनूँगा, जिन्हें दास की आवश्यकता है, उनके लिए दास बनूँगा, इस प्रकार मैं जगती के सभी प्राणियों की सेवा करूँगा।³⁴ जिस प्रकार पृथ्वी, अग्नि आदि भौतिक-वस्तुएँ सम्पूर्ण

आकाश (विश्वमण्डल) में बसे प्राणियों के सुख का कारण होती हैं, उसी प्रकार मैं आकाश के नीचे रहने वाले सभी प्राणियों का उपजीव्य बनकर रहना चाहता हूँ, जब तक कि सभी प्राणी मुक्ति प्राप्त न कर लें।³⁵

साधना के साथ सेवा की भावना का कितना सुन्दर समन्वय है। लोकसेवा, लोक-कल्याण-कामना के इस महान् आदर्श को देखकर हमें बरबस ही श्री भरतसिंहजी उपाध्याय के स्वर में कहना पड़ता है, कितनी उदात्त भावना है। विश्व-चेतना के साथ अपने को आत्मसात् करने की कितनी विद्वलता है। परार्थ में आत्मार्थ को मिला देने का कितना अपार्थिव उद्योग है।³⁶ आचार्य शान्तिदेव भी केवल परोपकार या लोककल्याण का सन्देश नहीं देते, वरन् उस लोक-कल्याण के सम्पादन में भी पूर्ण निष्काम-भाव पर भी बल देते हैं। निष्काम-भाव से लोककल्याण कैसे किया जाए, इसके लिए शान्तिदेव ने जो विचार प्रस्तुत किए हैं, वे उनके मौलिक चिन्तन का परिणाम हैं। गीता के अनुसार, व्यक्ति ईश्वरीय-प्रेरणा को मानकर निष्काम-भाव से कर्म करता रहे, अथवा स्वयं को और सभी साथी प्राणियों को उसी पर ब्रह्म का ही अंश मानकर सभी में आत्मभाव जाग्रत कर बिना आकांक्षा के कर्म करता रहे।



प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा-मुम्बई मार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी हैं। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती हैं।

इस परिसर में साधु-साधवियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत् सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।

डॉ. सागरमल जैन

जन्म : दि. 22.02.1932
जन्म स्थान : शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा : साहित्यरत्न : 1954
एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963
पी-एच.डी. : 1969



अकादमिक उपलब्धियाँ :

प्रवक्ता (दर्शनशास्त्र) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा: 1964-67
सहायक प्राध्यापक म.प्र. शास. शिक्षा सेवा : 1968-85
प्राध्यापक (प्रोफेसर) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा : 1985-89
निदेशक,
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी : 1979-1987 एवं 1989-1997
लेखन : 49 पुस्तकें
सम्पादन : 160 पुस्तकें
प्रधान सम्पादक : जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ
विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना)

पुरस्कार :

प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार : 1986 एवं 1998
स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार : 1987
डिप्टीमल पुरस्कार : 1992
आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान : 1994
विद्यावारिधि सम्मान : 2003
प्रेसीडेन्सीयल अवार्ड ऑफ जैना यू.एस.ए. : 2007
वागार्थ सम्मान (म.प्र. शासन) : 2007
गौतम गणधर सम्मान (प्राकृत भारती) : 2008
आर्चाय तुलसी प्राकृत सम्मान : 2009
विद्याचन्द्रसूरी सम्मान : 2011
समता मनीषी सम्मान : 2012
सदस्य : अकादमिक संस्थाएँ : पूर्व सदस्य - विद्वत परिषद, भोपाल
विश्वविद्यालय, भोपाल
सदस्य - जैन विश्वभारती संस्थान,
लाडनूँ
पूर्व सदस्य - मानद निदेशक, आगम,
अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान,
उदयपुर।

सम्प्रति

विदेश भ्रमण

: संस्थापक - प्रबंध न्यासी एवं निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)
पूर्वसचिव: पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
यू.एस.ए., शिकागो, राले, ह्यूटन,
न्यूजर्सी, उत्तरीकरोलीना, वाशिंगटन,
सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स,
सेंट लुईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टो, (कनाडा)
न्यूयार्क, लन्दन (यू.के.) और काटमाडू
(नेपाल)